

॥ ओ३म् ॥

॥ मानवधर्मशास्त्रम् ॥

भीमसेनशर्म्मणा लोकोपकारमत्या सम्पादितया संस्कृतार्यभाषाद्वयोपेतमानवधर्ममीमांसाभिधव्याख्यया सुशोभितम्

श्यामलाल शर्म्मणा सरस्वतीयन्त्रालये मुद्रापयित्वा प्रकाशितम् ॥

THE

MANAVA DHARM SHASTRA

WITH A COMMENTARY OF PANDIT BHIMSEN SHARMA

PRINTED AT

THE SARASWATI PRESS ETAWAH

Registered under Sections 18 and 19 of act XXV of 1867.

VOLL : 2

(भाग २ द्वितीय)

२२ अगस्त सन् १८९८ तथा १९५५ वि० भाद्रपद ॥

प्रथमवार १०००

मूल्यम् १॥)

विज्ञापन ॥

कई मित्रों तथा देशहितैषियों के अनुरोध से हमने प्रथम अथर्ववेद के भाष्य करने का संकल्प कर लिया है और आवश्यकता समझेंगे तो अथर्व भाष्य छपने के पश्चात् सामवेद का भी भाष्य छपावेंगे। अथर्ववेद भाष्य का मासिक अङ्क ५ फारम ४० पेज पुष्ट रायल कागज़ में निकलेगा वार्षिक मूल्य इस का २।) मात्र डाकव्यय सहित होगा। मूल्य भेजने के लिये हम पीछेसे सूचना देवेंगे ग्राहक बननें के लिये लोग शीघ्र २ सूचना भेजें अर्थात् जिन महाशयों को अथर्ववेद भाष्य देखने की शीघ्र इच्छा हो, वे लोग ग्राहक बढ़ाने का उद्योग अवश्य करें॥

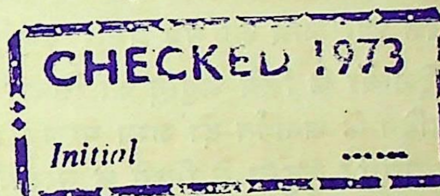
भीमसेन शर्म्मा सरस्वती प्रेस इटावा

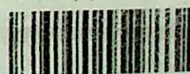
(पश्चिमोत्तर देश)

अथ मानवधर्ममीमांसाभाष्यद्वितीयखण्डस्य

सूचीपत्रम् ॥

चतुर्थाध्याय:-





अथ पञ्चमाऽध्यायः ॥

अथ षष्ठाऽध्यायः

इति द्वितीयखण्डसूचीपत्रम् ॥

अथ चतुर्थाध्यायारम्भः ॥

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥१॥

अ०—द्विजो ब्राह्मणादिरायुषश्चतुर्थमाद्यं भागं गुरौ गुरुसेवायामुषित्वा कृतदारोऽनुकूलभार्य्यया कृतविवाहश्चायुषो द्वितीयं भागं द्वितीयभागसमाप्तिपर्यन्तं गृहे वसेद् गृहस्थो भूत्वा गृह्याणि कार्याणि सम्पादयेत्। अत्र कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया बोध्या ॥

भा०—चतुर्थपञ्चमाध्याययोर्गृहाश्रमकृत्यं विशेषतो व्याख्यास्यते। पञ्चमहायज्ञानां गृहस्थे प्राधान्येऽप्यन्याश्रमद्वयेपि तेषां कर्त्तव्यत्वमस्ति। अस्मिंश्चाध्यायद्वये ततोऽप्याधिक्येन गृहस्थानामेव कृत्यमस्ति। पश्येमशरदः शतम्। शतायुर्वै पुरुषइति सामान्यकथनाच्छतं वर्षाणि मनुष्याणां पूर्णमायुस्तेषां पञ्चविंशतेर्वर्षाणां प्रत्येकश्चतुर्थो भागस्तथासति पञ्चविंशत्यब्दावधि गुरुसन्निधौ ब्रह्मचर्येण वेदाध्ययनं ततः पञ्चाशद्वर्षावधि गृहस्थेन भाव्यम्। एवमन्त्यभागद्वयेनाश्रमद्वयं कार्यमिति विभागः। एवं च तृतीयाध्यायारम्भे षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं यदुक्तं तन्नोपपद्यते। अत्रेदं समाधानं

बोध्यम्—देशकालाधिकारिभेदादनेकविधः कालादिनियम आश्रमेषु सम्भाव्यते । कस्मिन्नपि काले यस्याधिकमायुः सम्भवति तेन तदा षट्त्रिंशद्वर्षाणि ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयम् । शतायुष्ट्वेऽपि यो गृहाश्रमसुखं विशेषतो नाभिलषति स बहुकालावधि ब्रह्मचर्ये स्थित्वा मध्येऽल्पेनैव कालेन कृतदारः पुत्रमेकं पुत्रद्वयं वोत्पाद्य सद्यो वने वसेत् । केनचिच्च गृहाश्रमोऽपि कर्त्तुं न युक्तः । ये च मध्यमकक्षायां गृहसुखमपेक्षन्ते तदर्थमायुषो भागचतुष्टयआश्रमचतुष्टयानुष्ठानविधिः । ये च गृहाश्रमे स्थातुं नेच्छन्ति नहि तदर्थं धर्मशास्त्रे नियोगो लक्ष्यते । अधिकारिभेदं पुरस्कृत्यैव तदार्धिकं पादिकं वेत्यादिना ब्रह्मचर्यकालेऽपि विकल्पाः प्रदर्शिताः ॥१॥

भाषार्थः—(द्विज आयुषश्चतुर्थमाद्यं भागं गुरावुषित्वा) ब्राह्मणादि द्विज अपनी आयु के पहिले चतुर्थभाग नाम पच्चीश वर्ष की अवस्था पर्यन्त गुरु की सेवा में वेदाध्ययन के लिये वस कर (कृतदारः) अनुकूल निर्दोष कन्या से विवाह करके (आयुषो द्वितीयं भागं गृहे वसेत्) आयु के द्वितीय भाग नाम पचाश वर्ष के आयु पर्यन्त घर में स्त्री के समीप निवास करे। अर्थात् गृहस्थ बन कर धर्मानुकूल गृह के कार्यों की सिद्धि करे ॥

भा०—चौथे पांचवें अध्यायों में विशेष कर गृहाश्रम का ही कृत्य कहेंगे। पूर्व तृतीयाध्याय में कहे पांच महायज्ञों की गृहस्थ में प्रधानता होने पर भी अन्य ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ में भी उन को कर्त्तव्य ही माना है। इस कारण तृतीयाध्याय के विषय का अन्याश्रमों के साथ भी सम्बन्ध है। परन्तु इन चतुर्थ पञ्चम दो अध्यायों में उस से भी अधिक गृहस्थों का ही कर्त्तव्य है। “हम सौ वर्ष तक देखें नेत्र हीन न हों। तथा मनुष्य का आयु सौ वर्ष का होता है इत्यादि वेदादिशास्त्र प्रमाणों के अनुसार मनुष्यों का आयु सौ वर्ष का नियत है उन में पच्चीश २ वर्ष के प्रत्येक चार भाग होते हैं जिन में से पहिले पच्चीश वर्ष यज्ञोपवीत संस्कार तक विशेष बाल्यावस्था के आठ वर्ष छोड़ कर सत्र

पूर्व ब्रह्मचर्य काल होता है। ऐसा होने पर २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य, तथा उस से आगे ५० वर्ष तक गृहाश्रम इसी प्रकार आयु के अन्तिम दो भागों में वानप्रस्थ संन्यास दो आश्रम करने चाहिये ऐसा विभाग हो जाने पर तृतीयाध्याय के आरम्भ में छत्तीश वर्ष का जो ब्रह्मचर्याश्रम कहा है वह ठीक नहीं बनता। इस का समाधान यह है कि देश काल और अधिकारियों के अनेक भेद वा प्रकार होने से आश्रमों में कालादि का नियम अनेक प्रकार का अपेक्षित है। किसी काल में जिस का आयु सौ वर्ष से अधिक (भूयश्च शरदः शतात्) के अनुसार होना सम्भव है। उस को उस काल में छत्तीश वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम का सेवन करना चाहिये। और सौ वर्ष का आयु होने पर भी जो गृहाश्रम का सुख विशेष कर भोगना नहीं चाहता वह बहुत काल तक अर्थात् ८ वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार करके बारह २ वर्ष तीनों वेद को ब्रह्मचारी बन कर व्रती हुआ पढ़े तो ३६ वर्ष का ब्रह्मचर्य करके ४४ वर्ष की अवस्था पूरी होने पर थोड़े काल के लिये अर्थात् छः वर्ष में एक वा दो पुत्र हो जाने तक विवाह करके गृहाश्रम में रहे पश्चात् शीघ्र ही वानप्रस्थाश्रम को स्वीकार करे। तथा कोई अधिकारी ऐसा हो सकता है जिस को गृहाश्रम करने की सर्वथा ही इच्छा न हो वह गृहस्थ भी न बने। और जो बीच की कक्षा में रह कर गृहस्थाश्रम के सुख को भी चाहता है उसके लिये आयु के चार भागों में चारों आश्रमों के सेवन का विधान है। जो लोग गृहाश्रम में रहना ही नहीं चाहते उन के लिये धर्मशास्त्र में कोई विशेष आज्ञा वा नियम नहीं है कि उन को भी गृहाश्रम अवश्य करना ही चाहिये। अधिकारियों का भेद मान कर ही तृतीयाध्याय के आरम्भ में आधा वा चौतिहाई ब्रह्मचर्य काल के विकल्प दिखाये हैं ॥१॥

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥
यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ॥३॥

अ०-अनापदिकाले भूतानां प्राणिनामद्रोहेण या वृत्तिरल्पद्रोहेण वा तां समास्थाय विप्रो जीवेद् भोजनादि

निर्वाहं कुर्यात् । अगर्हितैरधर्मांशरहितैः स्वैरेव कर्मभिर्न क्षत्रियादीनां यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं साधारणभोजनवसनैर्निर्वाहायैव नतूत्तमोत्तमसुखभोगाभिलाषपूर्त्तये शरीरस्याक्लेशेनैव नतु परिश्रमाधिक्येन धर्मं विस्मृत्यायुषो हानिं वा कृत्वा धनसंचयं कुर्वीत ॥

भा०–वक्ष्यमाणे शिलोञ्छसन्तोषवृत्ती सर्वथैव द्रोहरहिते याचनवृत्तौ वणिग्वृत्तौ वा कृष्याद्यपेक्षयाल्पो द्रोहस्तस्मात्पूर्वे वृत्ती उत्तमे उत्तरे च मध्यमे अन्त्ये च निकृष्टे, ये साधारणनिर्वाहायैव वृत्तिमपेक्षन्ते न ते लोभाधिक्यादधर्माधिक्यं कुर्वन्ति नवा धर्मानुष्ठानायानवकाशा भवन्ति । ब्राह्मणेन यथा स्वकर्म सुकरं न तथाऽन्यदीयमतः स्वकर्मणाऽधिका धर्मार्थसिद्धिः । श्रमाधिक्येन क्लेशेन ये धनसंचयार्थं यतन्ते न ते श्रान्ता धर्ममनुष्ठातुमुत्सहन्तइति मत्वा गृहस्थविप्रेण यथोक्तं यथोचितमेव कर्म कार्यम् ॥ ३ ॥

भावार्थः–(अनापदि भूतानामद्रोहेणैव पुनरल्पद्रोहेण वा) आपत्काल से भिन्न अनुकूल समय में प्राणियों के साथ सर्वथा ही द्रोह न करके अर्थात् किसी प्राणी को किंचित् भी पीड़ा न पहुंचा कर वा ऐसा न हो सके तो जिस प्रकार अन्यों को बहुत थोड़ा कष्ट पहुंचे जो न पहुंचने के समान ही माना जाय ऐसे आचरण वा कर्म द्वारा (या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेत्) जो जीविका हो सकती है उसीका आश्रय लेकर ब्राह्मण अपना कालक्षेप करे (अगर्हितैः स्वैः कर्मभिः) अधर्मांश से होने वाली निन्दा से रहित अपने ही शुद्ध निर्दोष वेदोक्त कर्मों से किन्तु क्षत्रियादि के कर्मों से नहीं (यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थम्) साधारण भोजन वस्त्रादि द्वारा निर्वाहमात्र के लिये किन्तु उत्तम२ सुखों के भोग की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये नहीं (शरीरस्याक्लेशेन) शरीर को अधिक कष्ट देकर किन्तु परिश्रम की अधिकता से धर्म को भुला के वा आयु की हानि करके नहीं (धनसंचयं कुर्वीत) गृहस्थ ब्राह्मण धनादि पदार्थों का संचय करे ॥

भा०-आगे कही शिलोञ्छ और सन्तोष से होने वाली ये दो जीविका सर्वथा ही द्रोह रहित हैं इन के द्वारा किसी को कुछ भी कष्ट नहीं पहुंचता। याचनवृत्ति और वाणिज्य इन दोनों में कृष्यादि की अपेक्षा अल्प द्रोह है नाम दूसरों को कम कष्ट पहुंचता है इस से ये दोनों वृत्ति नाम जीविका मध्यम तथा पहिली दोनों उत्तम हैं। और अन्त्य की दो जीविका निकृष्ट हैं। जो ब्राह्मण लोग साधारण निर्वाह के लिये ही जीविका चाहते हैं उन को लोभ की अधिकता से अधिक अधर्म नहीं करने पड़ता और धर्म के लिये अवकाश भी मिल सकता है। ब्राह्मणादि मनुष्य जैसा अच्छा अपने २ काम को कर सकते हैं वैसा अन्य क्षत्रियादि कोई नहीं, वा कुलपरम्परा से होते आने के कारण जो जिस काम को अच्छी सुगमता से अच्छा कर सकता है वह २ कर्म जिस २ वर्ण का होना उचित है वह २ ब्राह्मणादि है। इसी कारण अपने २ कर्म से धर्म तथा अर्थ की अधिक सिद्धि कर सकता है। जो लोग अधिक परिश्रम के साथ बड़े २ कष्ट सह के धनसंचय के लिये प्रयत्न करते हैं वे अपनी बुद्धि और शरीर की सब शक्ति को उसी में झोंक कर स्वाहा कर देते उन्हीं कामों को करते २ अन्त समय आ जाता है वे फिर धर्म का अनुष्ठान नहीं कर पाते ऐसा मान कर गृहस्थ ब्राह्मण को चाहिये कि यथोचित धर्म को धक्का न दे के धर्मानुकूल कर्म करता रहै ॥ ३ ॥

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥
ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥
सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ॥
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

अ०-ऋतादिनामका ब्राह्मणवृत्त्यर्थं षडुपाया उत्तममध्यमनिकृष्टाः। तत्रोञ्छश्च शिलश्चोञ्छशिलमापणरथ्या-

दिपतितस्यास्वामिधान्यादेरादानमुञ्छो लूनक्षेत्रादि पतित-सतुषान्नार्जनं शिलइति द्वयमृतसंज्ञकमुत्तममतो निकृष्टम-याचितस्य सन्तोषेणावस्थिताय यद्दानं तदमृतसंज्ञकं ततो निकृष्टममायया याचितं भैक्षं ततोऽपि निकृष्टं प्रमृतं कर्षणं कृष्याजीवनम् । ततोऽपि निकृष्टं कस्मिन्नप्यंशे कृषेरुत्कृष्टं च सत्यानृतं यत्र सत्यमसत्यं चोभयमपि सम्भवति ता-दृशं वाणिज्यं तेन चैवाप्यापदि जीव्यते जीविकां कर्त्तुम-र्हतीति कथयता कृषितोऽस्योपायस्योत्कृष्टत्वं प्रदर्शितम् । सेवा दास्यं कर्म श्ववृत्तिःशुनइव स्वामिमुखावलोकनेन जी-वनोपायोऽतिनिकृष्टस्तस्मात्तां वृत्तिं परितः सर्वथाऽऽपत्का-लेऽपि वर्जयेत् ॥

भा०—अन्वर्था ऋतादयः सञ्ज्ञाः । सर्वापेक्षयोञ्छशिलं सत्यं न तत्कस्याप्यासीदपितु य आददीत तस्यैव तत् । अ-याचितादानमप्यन्यस्यैवादीयते यः स्वेच्छया सन्तोषेणाव-स्थिताय ददाति न तस्य कश्चित् क्षोभो दुःखलेशोऽपि दान काले भवत्यतोऽयाचितममृतं सर्वथैव हिंसादोषशून्यम् । ये च प्रत्यहं याचन्ते तान् दूरतएव दृष्ट्वा दातारो वदन्त्यागतोऽयं दातव्यं भविष्यति सदैव पीडयत्यस्मानिति दातॄणां पीड-नाद्धिंसनादेव याचितं मृतमित्युक्तम् । कृष्या जीवनेन भू-मिस्थप्राणिनां विशिष्टा हिंसा विग्रहादिनाऽन्येषां पीडा च तस्मात्तत्प्रमृतं पूर्वस्मादपि विशिष्टहिंसायुक्तम् । सत्यं स्वीयं वस्तु तस्य दानमपि सत्यं तत्प्रतिनिधित्वेनान्यस्यादानम-नृतं तस्मादेव तस्य सत्यानृतत्वं न च मिथ्याभाषणमपि

वाणिज्य आवश्यकमिति अमितव्यम्। यो गोधूमचूर्णादि-
कमन्यस्मै ददाति पश्चाच्च ततो नादत्ते नासौ वणिङ् न च
तद्वाणिज्यं कर्म । दानापेक्षयाऽऽदानस्य मनुना स्वयमेव
स्पष्टं निकृष्टत्वमुक्तम् । "आदानमप्रियकरं दानं च प्रिय-
कारकम्। दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः" दाना-
पेक्षया चादानस्य निकृष्टत्वेऽपि छलेन वाणिज्यं ये कुर्वन्ति
तदपेक्षया यथोचितदानादानरूपवाणिज्यस्यात्युत्तमत्वं सि-
ध्यत्येव । "वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा।
हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥" इत्यापत्का-
लिकजीवनोपायवर्णनप्रसङ्गे दशमाध्याये मनुना वाणिज्या-
पेक्षया कृषेर्निकृष्टत्वं स्पष्टमेव सूचितम् ॥ तथापि मांसाद्यु-
तिनिकृष्टवस्तुविक्रयापेक्षया कृषिरप्युत्तमैवेत्यनुमेयम्। एकै-
कस्यां च जीविकायां बहवोऽवान्तरभेदाः सदा सम्भवन्त्येव
तेनोत्तरोत्तरासु निकृष्टासु कस्याश्चिदुत्कृष्टवृत्तेरपेक्षयाऽऽधि-
क्येन निन्दितायामपि कस्यांचिद् वृत्तौ किमपि कृत्यं ततो
निकृष्टापेक्षया धर्मशास्त्रादिषु प्राशस्त्येनोपदिष्टं सम्भवति।
एवं पूर्वपूर्वासु प्रशस्तवृत्तिषु ततोऽधमापेक्षया विहिते प्र-
शस्तेऽपि कस्मिंश्चित्कर्मणि ततोप्युत्तमापेक्षया त्याज्यत्वं
विहितमुपलभ्येत तदेतच्छास्त्रसङ्गतिं सापेक्षविचारेण प-
श्यद्भिर्निर्दोषमेव द्वयमपि सम्यक् प्रतीयते । अल्पज्ञाश्च
दोषानेव पश्यन्ति न तेन शास्त्रं दूष्यते । सर्वाएव वृत्तयः
सार्वकालिकाः षट्स्विमास्वन्तर्भवन्ति। राज्ञो वृत्तिः काचित्तु
सत्यानृता यत्र रक्षणादिप्रतिनिधित्वेन धनाद्यादानं कुत्र-

चित्कर्षणाय भूखण्डरूपं क्षेत्रमुदकं वा दत्वा प्रजाधनं ह्रि-यते कुत्रचिच्च याचनेनादानं कुत्रचिदयाचितमेवागच्छति। प्रायेण च निर्बलप्रजाः प्रपीड्य राज्ञा धनं संचीयत आदी-यते तस्मादन्यदुःखहेतुत्वात्तस्य यौगिकार्थेन मृतत्वं प्रमृ-तत्वं वेति वक्तुं शक्यते। कुसीदवृद्धिः सर्वा च शिल्पविद्या वाणिज्यान्तर्गता न ततो व्यतिरिक्ता। घोरस्तस्य प्रतिग्रहइ-ति वदता मनुना राजायस्य मृतत्वादिना निकृष्टत्वं सूचितम् राजकर्मचारित्वं वैतनिकत्वं च सेवावृत्तावेव सर्वमन्तर्भवति सेवायां च बहुभेदभिन्नायां कस्मिंश्चिदुत्तमाधिकारे नियु-क्तोऽपि कश्चित्प्रत्यक्षतो भिक्षुकाद्यपेक्षयाऽधिकसुखयुक्तो बहुप्रकारेण लक्ष्यमाणोऽपि यदा सुखदुःखयोर्मूलमन्विष्यते "सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्" तदा नासौ प-राधीनः कृताधिकधनसंचयोऽपि स्वाधीनभिक्षुकाद्यपेक्षया प्राप्ताधिकसुखः सम्भवति। मायाविस्त्वलोभाधिक्यादिना यद्भिक्षकादीनां विशिष्टं दुःखं तत्तु भिन्नकारणकमितर त्रापि मायाद्यानुकूल्येन सम्भवत्येव ॥ ६ ॥

भाषार्थः—ऋतादिनामक ब्राह्मण की जीविका के लिये उत्तम मध्यम निकृष्ट छः उपाय हैं उन में (ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयम्) बाजार वा रास्ता आदि में फैला, जिस का कोई स्वामी न हो ऐसे अन्न को बीन बटोर लाना उञ्छ क-हाता और खेत काटने वालों से गिरा गेहूं जौ आदि की बाली सहित अन्न जिस का कोई स्वामी न हो वह शिला कहाता उस को बीन लाना दोनों का नाम ऋत है यही सब से उत्तम ब्राह्मण की जीविका है (अमृतं स्यादयाचि-तम्) इस से नीचा सन्तोष से बैठे हुए को जो कोई विना मांगे कुछ दे देवे उसी से निर्वाह कर लेना अमृत कहाता है इसी का नाम सन्तोषवृत्ति भी है। इस से भी निकृष्ट (मृतं तु याचितं भैक्षम्) छल कपट चालाकी छोड कर अ-

पने निर्वाहमात्र के लिये अनेक घरों से भिक्षा मांग लाना जो न देवे उस के पीछे न पड़ना वा जो श्रद्धा से न दे उस को भी न सताना इत्यादि प्रकार से भिक्षा मांग कर निर्वाह करना स्नातक ब्राह्मण के लिये तृतीयकक्षा की जीविका है इस से भी निकृष्ट (प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्) खेती करके जीविका करना पहिली भिक्षा वृत्ति से भी अधम है इसी से इस का नाम प्रमृत है [समय बदल जाने अधर्मियों में भिक्षावृत्ति आ जाने से सम्प्रति खेती से भी नीच भिक्षावृत्ति हो गई] उस से भी नीच वा किसी अंश में खेती से अच्छा (सत्यानृतन्तु वाणिज्यम्) जिस में अपना विक्रेय वस्तु देना सत्य और दूसरे से उस का धनादि मूल्य लेना अनृत असत्य ये दोनों जिस में रहते ऐसा वाणिज्य कर्म जीविका है (तेन चैवापि जीव्यते) उस वाणिज्य के द्वारा भी आपत्काल में ब्राह्मण जीविका करे वा कर सकता है । इस कथन से खेती की अपेक्षा इस जीविका को आपत्काल में ब्राह्मण के लिये अच्छा कहा जाता (सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्) सेवा दासयभाव [खिदमतगारी] कुत्ते कीसी जीविका सब से बुरी है इस से इसे छोड़ देवे ॥

भा०—यहां ऋत आदि छः जीविकाओं के नाम सार्थक हैं किन्तु रूढि संज्ञा नहीं हैं । सब की अपेक्षा शिलोञ्छवृत्ति सत्य नाम यथार्थ निर्दोष है क्योंकि वह हाट बाजार मार्ग वा खेत आदि में गिर गया अन्नादि किसी का नहीं उस का कोई स्वामी नहीं किन्तु जो उस को ले जावे वही स्वामी हो जाता है । [इसी कारण उस के द्वारा जीविका करने वाले से किसी को किञ्चित् भी कष्ट नहीं पहुंचता । यदि कभी कहीं खेतादि में किसी का इतना अन्न गिर गया हो जिस को क्षेत्र स्वामी लेना चाहता हो तो शिलोञ्छवृत्ति वाला जान कर न लेवें यदि अज्ञान से ले आने पर ज्ञात हो तो फिर उसी स्वामी को दे देवे । सम्प्रति शिलोञ्छवृत्ति नीच समझी जाती है । इस का कारण यह है कि वे शिलोञ्छवृत्ति वाले धर्मनिष्ठ नहीं होते धर्म के लिये नहीं करते किन्तु वे भी अपने को दीन निकृष्ट मानते हैं सन्तोषादि धर्म उन में नहीं हो । वैश्यपन सम्प्रति उत्तम कोटि में आगया तभी से ऐसे वचन बनने लगे कि "यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः" इसी से धर्म की महिमा घट गयी] विना मांगे किसी से निर्वाहार्थ जो मिल जाय उस को लेकर निर्वाह करने में भी अन्य का ही लेना है । मांग कर लेने की अपेक्षा उस में देने वाले का भार वा ऋण लेने वाले पर नहीं तथापि ऋत

की अपेक्षा विना मांगे लेके निर्वाह करने वाले पर भी कुछ भार अवश्य होता है इसी कारण ऋत से नीचा द्वितीय कक्षा में अयाचित है। परन्तु अपनी इच्छा और श्रद्धा से देने वाले को कुछ कष्ट वा लेश मात्र भी दुःख नहीं होता इस कारण अयाचित का नाम अमृत है। जो सर्वथा मृत नाम हिंसा दोष से शून्य हो वह अमृत कहाता है। और जो प्रतिदिन भिक्षा मांगते हैं उन को दाता लोग दूर से देखते ही कहते हैं कि "यह आया इस को कुछ देने पड़ेगा सदैव हम को कष्ट देता है" इस प्रकार दाता लोगों को पीड़ित करता और स्वयं भी उन के धमकाने आदि से पीडित होता इस कारण भिक्षावृत्ति का नाम मृत है। खेती करके जीविका करने से पृथिवी में रहने वाले असंख्य प्राणियों की हिंसा होती और खेती के कारण अन्यों को लड़ाई झगड़े द्वारा भी कष्ट पहुंचता है इस कारण भिक्षावृत्ति की अपेक्षा भी हिंसा की अधिकता से खेती द्वारा जीविका करना निकृष्ट होने से प्रमृत कहाता है। अपना वस्तु अन्न आटादि अन्य को देना सत्य नाम अच्छा उत्तम काम तथा उस के बदले पैसा वा अन्य वस्तु उससे लेना अनृत नाम बुरा वा असत्य है इन दोनों लेन देन को करके जीविका करना वाणिज्य कहाता है। इसी अर्थ से वाणिज्य को सत्यानृत कहा है। किन्तु अनृत नाम मिथ्याभाषण भी वैश्य वृत्ति वाले दूकन्दारों को करना ही चाहिये ऐसा अर्थ करके भ्रान्ति में कोई मत पड़ो। जो पुरुष आटादि किसी को देता है और उस के बदले में पैसे आदि उस का मूल्य उस से नहीं लेता वा नहीं लेना चाहता तो वह वणिक् वा वैश्य नहीं और न उस कर्म का नाम वाणिज्य होसकता है। इस लिये सत्यानृतरूप देन लेन दोनों ही वाणिज्य कहाते हैं। और देने की अपेक्षा लेने को मनु जी ने स्वयमेव निकृष्ट कहा है यथा- "लेना प्रीति को बिगाड़ने वाला और देना प्रीति बढ़ाने वाला है। इसीलिये मनुष्य को नित्य दानशील होना चाहिये किन्तु सब किसी से सब प्रकार के दान को लेने का स्वभाव न रक्खे परन्तु दान देके सदा परोपकार करे" इसी कारण विद्यादाता अध्यापक बड़ा और विद्या लेने वाला अध्येता उस से निकृष्ट माना जाता है। परन्तु दान की अपेक्षा आदान के निकृष्ट होने पर भी जो लोग छल कपट से वाणिज्य करते सरासर लोगों को ठगलेते हैं उन बड़े प्रसिद्ध ठगों की अपेक्षा ठीक २ देने लेने वालों का वाणिज्य अत्युत्तम है। तथा विद्या पुस्तकों आदि उत्तमोत्तम रत्न पदार्थों को बेंचकर निर्वाह करना सामान्य

यथोचित लेन देन से भी वाणिज्य में अत्युत्तम है। आगे दशमाध्याय के आपद्धर्म प्रकरण में मनु जी ने कहा है कि "अन्य प्रकार की जीविका से ब्राह्मण वा क्षत्रिय का निर्वाह न चलता हो तो आपत्काल में वैश्यवृत्ति से निर्वाह करने पर भी जिस में हिंसा और पराधीनता अधिक है ऐसी खेती की जीविका को प्रयत्न पूर्वक अवश्य छोड़ देवे। अर्थात् अन्य जीविका में कष्ट वा परिश्रम अधिक हो तो भी उस को करले पर खेती में कष्ट और परिश्रम कम हो तो भी धर्म की हानि अधिक सोच कर उसे न करे" इस कथन से मनु जीने वाणिज्य की अपेक्षा खेती का निकृष्ट होना अवश्य सूचित किया है। तथापि मांसमद्यादि अतिनिकृष्ट वा निकृष्ट वस्तु बेंचकर जीविका करने अथवा छल कपट द्वारा वाणिज्य करने वाले की अपेक्षा से खेती करना भी उत्तम ही है। जीविका के एक २ उपाय में बहुत अवान्तर भेद होने सदा ही सम्भव हैं। इस से अगले २ निकृष्ट जीविकाओं में किसी उत्तम जीविका की अपेक्षा से अधिक कर किसी जीविका के निन्दित होने पर भी उसी में कोई काम उस से निकृष्ट कर्म की अपेक्षा से धर्मशास्त्रादि में अच्छा कहा होना सम्भव है॥ तथा पूर्व २ उत्तम प्रशस्त जीविका में उस से निकृष्ट वृत्ति की अपेक्षा से विधान किये किसी उत्तम कर्म का उस से भी उत्तम की अपेक्षा त्याज्य होना कहा मिले यह भी सम्भव हैं। सो सापेक्ष विचार से शास्त्र की संगति को देखते जानते हुए विचारशील धर्मात्माओं की दृष्टि में ये दोनों ही प्रकार निर्दोष शुद्ध ठहरते और सम्यक् श्रद्धापूर्वक ग्राह्य होते हैं। और अल्पज्ञ लोगों को ऐसे विचारों में दोष ही दीखते हैं परन्तु इस से शास्त्र में कोई दोष नहीं आता। इन पूर्वोक्त ऋतादि नामक छः प्रकार की जीविकाओं में अन्य सब प्रकार की जीविका अन्तर्गत होजाती हैं। जैसे राजा की जीविका कोई तो सत्यानृत है जहां प्रजा की रक्षा आदि के बदले में राजा धनादि वस्तु लेता वा कहीं पृथिवी के खण्डरूप खेत वा कुल्या [नहर] द्वारा किसानों को जल देकर उस का मूल्य धन लेता है। कहीं राजा मांगकर लेता तथा कहीं विना मांगे भी धनादि आता है। पर सब दशाओं में निर्बल प्रजा को पीड़ा देकर राजा धनसंचय करता प्रजा से लेता है। इस कारण अन्योंको दुःख का हेतु होने से वह राजा का कर्म यौगिक अर्थ से मृत वा प्रमृत कहा जाय यह भी उचित ही है। (घोरस्तस्य प्रतिग्रहः) उस राजा के दान को लेना बहुत बुरा निकृष्ट है इस आगे कहे कथन से राजा की आमदनी को मनुजी

ने स्पष्ट ही मृत आदि अभिप्राय को लेकर निकृष्टता दिखायी है। व्याज सूद लेकर जीविका वा सब प्रकार की कला कौशलरूप शिल्पविद्या, विचार पूर्वक देखने शोचने से स्पष्ट ही वाणिज्य के अन्तर्गत है। तथा डिपटी तहसीलदारादि राजकर्मचारी भृत्य बन के जीविका करना सेवावृत्ति के अन्तर्गत ही है। सेवावृत्ति के अनेक भेद होने पर उत्तमाधिकार में किसी के नियुक्त होने से भी वह कोई राजकर्मचारी भिक्षुकादि की अपेक्षा से बहुत प्रकार ऊपर से अधिक सुखी दीख भी पड़ता हो तथापि जब खोज कर सुख दुःख का मूल देखा जाय तो "पराधीनता सब दुःख और स्वाधीनता सब सुख है" इस सिद्धान्त के अनुसार वह पराधीन डिपटी आदि अधिक धन बटोर लेने पर भी स्वाधीन भिक्षुकादि की अपेक्षा सुखी नहीं ठहरता। तथा छल कपट वा लोभ की अधिकतादि से जो भिक्षुकादि को अधिक दुःख होता उसका कारण भिक्षावृत्ति से भिन्न है वैसे तृष्णा की अधिकतादि कारण से यहां राजकर्मचारी को भी दुःख होता वा होना सम्भव ही है ॥ ६ ॥

कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा।
त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥७॥
[सद्यःप्रक्षालिको वा स्यान्माससंचयकोऽपि वा।
षण्माससनिचयो वापि समानिचय एव वा ॥]
चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम्।
ज्यायान्परःपरो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥८॥

अ०–कुसूलपरिमितधान्यं संचितमनेन तादृशो वा स्यात्कुम्भी मृन्निर्मितं बृहत्पात्रं तत्परिमितसंचितधान्यको वा स्यात्। दिनत्रयाय चेष्टितधान्यको वा भवेत्प्रत्यहं संचयको वा स्यादिति यथासाध्योत्तमवृत्या स्वनिर्वाहाय स्नातकश्चतुर्विधविकल्पितसंचयेषु कतममपि देशकालानुकूलं सं-

-चयमङ्गीकुर्वीत। सद्यःप्रक्षालिकइति पद्यं कस्मिंश्चिदेव पुस्तक उपलभ्यते । एतेषां गृहमेधिनां गृहिणीसङ्गिनां कुसूलादिचतुष्टयसंचयिनां स्नातकविप्राणां मध्ये धर्मतो धर्ममाश्रित्य लोकान् जनान् त्यागसन्तोषाभ्यामतिशयेन जयति तादृशः परःपरो ज्यायान् विशेषेण प्रशंसार्हो ज्ञेयः ॥

भा०- ऋतादयः षड्जीविकोपायास्तैर्गृहस्थविप्रेण कियान् संचयः कर्त्तुमुचितइति कथ्यते। कुसूलादिपदानि बहुप्रकारार्थपराणि नानाप्रमाणानि भवितुमर्हन्ति । तथापि त्र्यहैहिकाश्वस्तनिककथनसाहचर्यादल्पसंचयकस्य ज्यायस्त्वकथनाच्च "द्वादशाहं कुशूलेन वृत्तिः कुम्भ्या दिनानि षट्" इति कस्यचित्कथनानुकूलमेवार्थग्रहणं साधु प्रतीयते। कुल्लूकादयस्त्वतो विरुद्धं भाषमाणा बहुसंचयं स्वस्येवान्येषामपि साधु मन्यन्ते । शरीरेण धनादिसंचयमुपेक्षमाणो यादृशं यावन्तं च धर्ममनुष्ठातुं शक्नोति न तादृशं तावन्तं च धनाद्यर्जनरक्षणासक्तइति मत्वैव परस्यपरस्य ज्यायस्त्वं साधीयः सम्पद्यते। अन्यत्राप्युक्तम्-"धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता" सर्वत्रैव तात्पर्यमवगच्छता धर्मतत्त्वं विज्ञातुं शक्यते । यदभिप्रेत्य यत्कर्त्तुमुच्यते तत्तात्पर्यं यद्यन्यथाकरणेन सुफलं सम्भवति तथैव क्रियमाणे देशकालादिभेदेन नैष्फल्यं च सम्भाव्यते तदा बुधेन साफल्यार्थमेवोद्योगः कार्यः। यः संग्रहमपेक्षते नासौ सन्तुष्टो विरक्तो वा सम्भवति। धनादिसंग्रहश्च जलाशयादुदकमिव धनिभ्यएव सम्भवति तस्मात्संग्रही विप्रो धन्याधीनो भवति त्यागे च

धनिनोऽपि तस्य वशे जिता भवन्ति तस्माद् गृहस्थदशायामपि वैराग्यं मुख्यम् ॥ ८ ॥

भाषार्थः-(कुसूलधान्यको वा स्यात्) स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण कुठला वा कुठिया भर अन्न का संचय करे (कुम्भीधान्यक एव वा) वा गोरी-कटा वा बड़े घड़ा भर अन्न का संचय एक बार करे (त्र्यहैहिको वापि भवेत्) वा तीन दिन का निर्वाह जितने से चल सके इतने अन्न का संचय करे अथवा (अश्वस्तनिक एव वा) इतना अन्न किसी उत्तम जीविका के उपाय से लावे जो उसी दिन का काम चलजाय अगले दिन को कुछ न बचे जिस से चोर आदि का भय वा रक्षा का ध्यान न रहे । इस के आगे किसी २ पुस्तक में एक यह श्लोक भी मिलता है "कि (सद्यःप्रक्षालिको वा०) तत्काल लाकर खालेवे मध्याह्न का लाया सन्ध्या को भी न रक्खे यदि सन्ध्या को अपेक्षा हो तो फिर ले आवे । वा एक मास के लिये संचय करे तथा छः मास के लिये वा एक वर्ष के लिये इकट्ठा करके रख लेवे" (चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम्) उक्त चार प्रकार की जीविका वाले चार प्रकार के गृहस्थ ब्राह्मणों में से (धर्मतो लोकजित्तमः परःपरो ज्यायान् ज्ञेयः) पर २ नाम अगला २ धर्म का अधिक २ सेवन कर सकने से लोगों को वशीभूत अपने अनुकूल करने वाला होने से अतिश्रेष्ठ जानने मानने योग्य होता है ॥

भा०-ऋतादि नामक जीविका के छः उपाय पूर्व कहे उन के द्वारा गृहस्थ ब्राह्मण को कितने अन्नादि का संचय करना चाहिये यह विचार यहां कहते हैं। यद्यपि कुसूल नाम कुठलादि वाच्य वस्तु छोटे बड़े नाना प्रकार के होते और हो सकते हैं इस कारण कुसूल वा कुम्भी कहने से अन्न के परिमाण का कुछ निश्चय नहीं हो सकता कि गृहस्थ कितना अन्न संचित करे-तथापि तीन दिन और एक दिन कहने के योग से और अल्पसंग्रही को उत्तम कहने से यह सिद्ध होता है कि "(द्वादशाहं०) बारह दिन के निर्वाहार्थ जितना अपेक्षित हो उस अन्न को कुसूल नाम कुठलाभर तथा छः दिन के निर्वाहार्थ अपेक्षित कुम्भीधान्य कहाता है" इस में जिस गृहस्थ का जितना थोड़ा वा बहुत स्त्री पुत्रादि का व्यय हो वैसे ही बड़े छोटे उस के कुसूल तथा कुम्भी माने जायंगे। इस रीति से उस का परिमाण भी नियत हो जाता है । (द्वादशाहं०) इत्यादि

किसी अन्य ग्रन्थकार का वचन है इसी के अनुसार यहां अर्थ लेना अच्छा प्रतीत होता है। कुल्लूक भट्टादि टीकाकार इस से विरुद्ध कहते हुए अपने समान अन्य ब्राह्मणों को भी अधिक संचय करना अच्छा मानते हैं सो ठीक नहीं धनादि के संग्रह से उपेक्षा उदासीनता रखता हुआ जैसा और जितना अपने शरीर से धर्म का सेवन कर सकता है, वैसा वा उतना धर्म धनादि के संग्रह वा रक्षा में फसा हुआ पुरुष कदापि नहीं कर सकता ऐसा मान कर ही अगले २ को श्रेष्ठ कहना ठीक बनता है। अन्यत्र भी कहा है कि "धर्म के लिये जो धन का संग्रह करना चाहता है उस को अति उचित है कि वह परिश्रम [तकलीफ] न उठावे" क्योंकि धन के उपार्जन में जितना अधर्म लगेगा उस की शुद्धि मात्र धन से धर्म करने द्वारा हो सकती है और शरीर से केवल निर्दोष शुद्ध धर्म हो सकता है। इस लिये जो सर्वत्र मुख्य सिद्धान्त को ठीक जानता है वही धर्म के तत्त्व को जान सकता है। जिस अभिप्राय को लेकर जो कर्म करने को कहा गया है वही अभिप्राय उस काम को अन्य प्रकार करने से यदि सिद्ध हो सकता है और कहे अनुसार करने से देश कालादि का भेद हो जाने के कारण निष्फलता होनी सम्भव है तब बुद्धिमान् पुरुष को सफलता प्राप्त करने का उद्योग करना चाहिये और ऐसा ही उद्योग शास्त्रानुकूल माना जायगा। जो धनादि का संग्रह करना चाहता है वह सन्तुष्ट और विरक्त नहीं और कूपादि जलाशय से ही जल मिल सकने के समान धनियों से ही धन प्राप्त वा संगृहीत हो सकता है इस कारण संग्रही ब्राह्मण धनियों के आधीन हो जाता वा रहता है। और धनादि का त्याग रखने पर धनी लोग भी उस के आधीन वशीभूत हो जाते हैं इस कारण ब्राह्मण के लिये गृहस्थ दशा में भी वैराग्य उत्तम है ॥८॥

षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्त्तते।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥९॥

अ०—एषां पूर्वोक्तचतुर्विधगृहमेधिनां मध्य एकः कुसूलधान्योऽध्यापनादिषट्कर्मा भवति। अन्यस्त्रिभिरध्यापनयाजनादानैः कर्मभिः प्रवर्त्तते। एकस्तृतीयः प्रतिग्रहं विहाय याजनाध्यापनाभ्यामेव कर्मभ्यां वर्त्तते चतुर्थस्तु

केवलेन ब्रह्मसत्रेण ब्रह्मणो वेदस्याध्यापनेन ब्रह्मयज्ञेन जी-वति "अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः" इत्युक्तं च, ब्रह्मसत्रं ब्रह्मयज्ञइति चानर्थान्तरम् । केचिदेनं श्लोकमेवं योजयन्ति—एकः कुसू-लधान्यक ऋतादिषट्कर्मा,द्वितीयः कुम्भीधान्यक आद्यैरृ-तादित्रिभिस्त्र्यहैहिकस्तृतीय ऋतामृतद्वयेन चतुर्थोऽश्वस्त-निकः शिलोञ्छेनैव जीवति । तदेतच्चिन्त्यमेकेनैवोपायेन कृतकृत्यः किमर्थं षट्कर्मा स्यात् । असाध्यमप्येकेनोपाय षट्कं ये चैकेनोपायेन यावदर्थं फलं नोपलभन्ते तत्र कर्म कर्त्तृसाधनानामन्यतमस्य द्वयोस्त्रयाणां वा वैगुण्यमेव हेतुः एवं य एकैकर्त्ताद्युपायेन यावदर्थं संचेतुमशक्तो नासौ स-र्वोपायैरपि फलभाक् सम्भवति । यावता साङ्गोपाङ्गत्वेनैकै-कमेव कष्टसाध्यं तावता सर्वं कथं सुसाध्यं स्यात् । दृष्ट-विरोधश्चास्त्येव नहि कृषका वाणिज्यं वणिजो वा कृषिं द्वावपि भिक्षावृत्तिं वा कुर्वाणा दृश्यन्ते कर्त्तुमशक्तत्वात् नहि कदाचित् कस्यचिद्वस्तुनः क्रयविक्रयाभ्यां कृषको वणिग्भवत्येवं चेत्सर्वएव सर्वेस्युस्तथाचैकद्वित्रिकर्माणोऽपि षट्कर्माणः स्युरनिष्टं चैतत्तस्मान्नायमर्थः साधुरिति ॥

भा०—षट्कर्माण्यग्रजन्मनइति प्रथमाध्यायउक्तमत स्वरितत्वादध्यापदीन्येव षट्कर्माणि । अयाचनवृत्तौ कि मपि कर्मैव नास्ति तस्माद्योऽधिकसंग्रहमपेक्षेत सोऽध्या-पनादिषट्कर्माणि कुर्यात् । यश्च ततो न्यूनं कुम्भपरिमित धान्यमपेक्षेत स त्रिभिरेव कर्मभिर्वर्त्तेत ततोऽपि न्यूनापे क्षिणा प्रतिग्रहोऽपि हेयो यतः प्रतिग्रहः प्रत्यवरः । चतु

थैन च " वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते" इति सिद्धान्तं पुरस्कृत्य जीविकोपायः प्रात्यहिकएव सम्यग्बोध्यः। एषूत्तरोत्तरो गरीयान् । अध्यापनादीनि चाल्पकालीनि नैमित्तिकानि चैकेन कर्त्तुं युगपत् शक्यन्तइति सर्वमवदातम्॥

भाषार्थः—(एषामेकः षट्कर्मा भवति) इन पूर्वोक्त चार प्रकार के गृहस्थों में एक नाम कुठला भर अन्न रखने वाला षट्कर्मा होता अर्थात् उस को अध्यापन, अध्ययन, यजन, याजन, दान देना और लेना ये छहों काम करने चाहिये। तभी विशेष अन्नादि की प्राप्ति और धर्म दोनों चल सकते हैं (त्रिभिरन्यः प्रवर्त्तते) अन्य नाम दूसरा गोरी कटादि भर अन्न को संचित करने वाला अध्यापन याजन और दान लेना इन तीन कर्मों से प्रवृत्त रह के अपना निर्वाह करे। तो उस का निर्वाह और धर्म दोनों की अच्छी दशा रहेगी। (द्वाभ्यामेकः) एक तीसरा तीनदिन के निर्वाहार्थ संग्रह चाहने वाला प्रतिग्रह नाम दान लेने को छोड़ कर अध्यापन और याजन के द्वारा ही अपना निर्वाह करे क्योंकि तीन २ दिन के निर्वाहार्थ धनादि इन्हीं दो कर्मों से प्राप्त हो जाना अति सुगम है (चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति) और चौथा एक ही दिन के लिये चाहना रखने वाला ब्राह्मण ब्रह्मसत्र नाम एक ब्रह्मयज्ञ को ही करता हुआ अपना निर्वाह करे थोड़ी चाहना एक ही कर्म द्वारा सिद्ध हो सकती है। वेद को पढ़ने पढ़ाने का नाम ब्रह्मयज्ञ है यह पूर्व कह चुके हैं। सत्र और यज्ञ शब्दों का एक ही अर्थ है। कोई लोग इस श्लोक का अर्थ ऐसा करते हैं कि "एक-कुशूल धान्य का संचयी ऋतादि छहो जीविका के उपाय करे, द्वितीय कुम्भी धान्यार्थी उञ्छशिल, अयाचित और भिक्षा मांगना इन तीन कर्मों से निर्वाह करे, तीसरा तीन दिन का संग्रहार्थी शिलोञ्छ और अयाचित दो कर्मों के द्वारा निर्वाह करे और चौथा एक ही दिन को अन्न चाहने वाला केवल शिलोञ्छवृत्ति से ही निर्वाह करे" सो यह अर्थ चिन्तनीय इस लिये है कि यदि जीविका के लिये ठीक २ एक भी उपाय करे तो भी अधिक से अधिक खर्च का निर्वाह चल सकता है फिर किस लिये छः कर्म करे ? । और एक मनुष्य जीविका के सभी उपाय एक काल में कर सके यह दुस्तर भी है। जो लोग एक प्रकार की जीविका से अपने प्रयोजनमात्र फल को भी प्राप्त नहीं कर पाते

वहां उन में स्वयं वा उन की क्रिया में अथवा साधनों में न्यूनता [कसर] होवी, है ऐसे लोग जीविका के सब उपायों से भी अपना निर्वाह नहीं चला सकते। और यह प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध भी है कि जब एक मनुष्य सब प्रकार के व्यापा संसार भर के सब पदार्थों का लेना बेंचना वा सब पदार्थों की खेती ही पूरी नहीं कर सकता तो जीविका के सब उपाय कैसे कर सकेगा ? और किसान लोग व्यापार करते नहीं दीखते न व्यापारी खेती करते तथा न ये दोनों भिक्षा मांगते हैं। क्योंकि ऐसा कर सकना असम्भव ही है कि व्यापार खेती दोनों एककाल में कोई करता हो ऐसा नहीं दीखता। और कभी किसी वस्तु के ले बेंचने से किसान व्यापारी होजाय तो सब ही सब हो जांयगे तब एक दो तीन कर्मों वाले भी छः कर्म कर्त्ता माने जांयगे क्योंकि कभी न कभी सब ही के सब काम किसी प्रकार करने पड़ते हैं सो यह अनिष्ट है इस लिये उक्तार्थ ठीक नहीं जान पड़ता॥

भा०-ब्राह्मण के छः कर्म हैं यह प्रथमाध्याय में कह चुके हैं इस कारण षट्कर्म पद से प्रतिपदोक्त वे ही षट् कर्म लेने चाहिये। सन्तोष से बैठे रहना बिना मांगे जो मिल जावे उसी से निर्वाह कर लेना इस में कोई कर्म ही नहीं है तब शिलोञ्छादि छः कर्म हो ही नहीं सकते इस लिये इस श्लोक का यही अभिप्राय ठीक है कि जो अधिक संग्रह चाहता है वह अध्यापनादि छः कर्म करे, उस से कम चाहने वाला तीन कर्म तथा उस से भी कम चाहने वाला दो ही कर्म करे, प्रतिग्रह को भी छोड़े क्योंकि दान लेने को मनु जी नीच काम इसी अध्याय में आगे कहा है और चौथा केवल नित्य निर्वाह ही चाहने वाला "निष्कारण वेद का अभ्यास करना ही ब्राह्मण का परम तप है" इस द्वितीयाध्याय में कहे सिद्धान्त को सामने रख के एक ही दिन के लिये प्रतिदिन जीविका का उपाय कर लेवे यही उत्तम है। इन चारों में पूर्व २ की अपेक्षा पिछला २ ब्राह्मण श्रेष्ठ माना जायगा जो जितना कम संग्रह करना प्रसन्द करता वह वैसा ही अधिक धर्मनिष्ठ हो सकता है। अध्यापनादि कर्म थोड़े समय तक होते हैं किन्तु दिन भर नहीं इस कारण याजनादि नैमित्तिक कर्म साथ में किये जा सकते हैं इस प्रकार सब विचार निर्दोष शुद्ध और संगत है॥

वर्त्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः।
इष्टीः पार्वायनान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा।

अ०-शिलोञ्छाभ्यामुपायद्वयेन जीविकां वर्त्तयन् कुर्वन्स्ना-तकविप्रोऽग्निहोत्रपरायणो नियमेनाग्निहोत्रं कुर्वन् पर्वयो-र्दर्शपौर्णमासयोरन्ते समीपे प्रतिपदि भवाः पार्वान्तीया अयनस्य संवत्सरस्यान्ते भवा आयनान्तीया आग्रहायणे-ष्टीः केवलाः सदा निर्वपेत् कुर्यात्। पर्वचायनं च पर्वायणे तयोरन्तौ तत्र भवाः पूर्वं स्वार्थिकमणं कृत्वा ततो वृद्धा-च्छः प्रत्ययः कार्यः ॥

भा० शिलोञ्छवृत्त्या जीवतः समीपेऽन्नधनाधिक्यसञ्चयो न सम्भवति ततश्च व्ययविशेषसाध्या अन्ये प्रधाना यज्ञा-स्तेनानुष्ठातुं न शक्यन्ते तदकरणे न कोऽपि दोषोऽस्ति त-दा साङ्गोपाङ्गस्याग्निहोत्रस्यैव नियमेनानुष्ठानं कार्यं नात्रा-न्नधनाधिक्यमपेक्ष्यते ॥ १० ॥

भाषार्थः --जिस के निकट खर्च कम हो अर्थात् लड़के बाले कम हों वा न हों ऐसा तपस्वी गृहस्थ ब्राह्मण (शिलोञ्छाभ्यां वर्त्तयन्) शिला बीन वा बा-जारआदि में से अन्न बीन कर जीवन का निर्वाह मात्र करता हुआ (अग्निहो-त्रपरायणः) नित्य अग्निहोत्र करने में तत्पर रहे और उस के साथ (पार्वा-यनान्तीयाः केवला इष्टीः सदा निर्वपेत्) अमावास्या पौर्णमासी नामक पर्वों के अन्त में प्रतिपदा के आरम्भ में होने वाली दर्शेष्टि पौर्णमासेष्टि तथा वर्षान्त में विधान की गयी आग्रहायणेष्टि जो अगहन के आरम्भ में प्रतिपदा लगते हो होनी चाहिये । केवल इतना ही नित्य नैमित्तिक अग्निहोत्र यज्ञ किये जावे किन्तु इन से भिन्न बड़े २ खर्च वाले बड़े यज्ञ न करे ॥

भा०-शिलोञ्छवृत्ति से जीविका करने वाले के समीप में अन्न धनादि का अधिक संचय होना सम्भव ही नहीं क्योंकि अन्य जीविका कर सकने पर भी धर्म की अनुकूलता देख कर जो शिलोञ्छवृत्ति करेगा वह संचय करना स्वयं ही नहीं चाहेगा । इस कारण अधिक व्यय के द्वारा सिद्ध होने वाले ज्योतिष्टोमादि प-धान यज्ञों का अनुष्ठान वह पुरुष नहीं कर सकता और उन बड़े यज्ञों के न

करने से कोई दोष भी उस को नहीं लगता वा अधिक पुण्य से वञ्चित भी वह नहीं रह सकता क्योंकि उन यज्ञादि के लिये धन संग्रह करने में जो दोष लगेंगे उन से अधिक पुण्य यज्ञों द्वारा हो यह सम्भव है तथापि धनसंग्रह की ओर चित्त की फसावट न रहने पर शरीर के परिश्रम से जितना धर्म वा ब्राह्मण कर सकेगा वह धर्म उस यज्ञ के पुण्य से बहुत अधिक होगा तथा धनोपार्जन से लगने वाले दोषों से भी वह बचेगा । इस लिये उस त्यागी गृहस्थ को केवल साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र का ही नियम से अनुष्ठान करना चाहिये इस अधिक अन्न धनादि की कुछ अपेक्षा नहीं है अपने निर्वाहार्थ जो मिले उसी से नित्य का अग्निहोत्र भी चल सकता है ॥१०॥

न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम् ॥

अ०–स्नातको विप्रो जीविकाप्राप्तिहेतोर्वेदादिशास्त्रविरुद्धं धर्महीनमधर्मयुतं वा किमपि लोकवृत्तं न वर्त्तेत न कुर्यात्किन्त्वजिह्मामवक्राशयामशठां परवञ्चनरहितां शठसंसर्गरहितां वा तादृशीं स्ववर्णस्य शुद्धामदोषां जीविकां जीवेत् ॥

भा०–गतानुगतिकत्वं लोके प्रधानं लोकाः प्रवाहेण प्रवृत्तं शास्त्रविरुद्धमपि यत्साधु मन्यन्ते तदेव योऽनुमोदते तस्य प्रतिष्ठां कुर्वन्ति जीविकां च तस्मै ददति सामान्येनायं लोकप्रवाहः । सुमार्गोपादानाभिमानिनोऽपि बहवो न कदापि लोकोत्तराः सम्भवन्ति किन्तु तन्नायकः कश्चित्कदाचित् कुत्रचिल्लोकप्रवाहाद्व्यतिरिच्यते । यश्च यथा लोकप्रवाहमत्येति तथैवाधिकं केवलं धर्मं संचिनोति तस्मात्सर्वैः शास्त्रमर्यादाविद्भिः सर्वदैव लोकप्रवाहान्निस्सृत्य शास्त्रसृतिमनुसर्त्तुं प्राबल्येनोद्योगः कार्यः ॥ ११ ॥

भाषार्थः—गृहस्थ ब्राह्मण (वृत्तिहेतोर्लौकवृत्तं कथंचन न वर्त्तेत) जीविका प्राप्त होने के कारण वेदादिशास्त्र की आज्ञा से विरुद्ध धर्म रहित वा अधर्म युक्त लोकचाल के प्रवाह में कदापि न वहे अर्थात् जीविका होने की आशा से शास्त्रविरुद्ध लोकचाल पर कभी न चले किन्तु (अजिह्मामशठां शुद्धां ब्राह्मणजीविकां जीवेत्) जिस का अभिप्राय किसी प्रकार की कुटिलता वा चालाकी से सम्बन्ध रखने वाला न हो तथा जो किसी द्वितीय को धोखा दे कर प्राप्त न होती हो वा जो शठ नीच प्रकृतियों के संग से प्राप्ति न हो ऐसी अपने ब्राह्मण वर्ण के किसी शुद्ध निर्दोष कर्म द्वारा सिद्ध होने वाली जीविका को करे ॥

भा०—एक के पीछे दूसरे का चलना जिस को भेड़ियाधसान भी कहते हैं। जिस बात को किसी ने किसी कारण अच्छा कहा वा माना तो उस को अच्छा कहने वा मानने वाले उस एक के अनुगामी अनेक हो जाते हैं यही प्रधान लोकपन है कि तत्व का खोज फिर नहीं करते अन्धाधुन्ध वही रटें चले जाते हैं। अर्थात् संसार के प्रवाह में पड़े संसारी लोग प्रवाह से प्रवृत्त शास्त्रविरुद्ध भी जिस मन्तव्य को अच्छा मानते हैं उसी का जो अनुमोदन करता उस की वे प्रतिष्ठा करते उस को जीविका देते हैं सामान्य कर यही लोक का प्रवाह है। तथा बहुत से लोग सुमार्ग को पकड़ने उस पर चलने का अभिमान रखने वाले भी लोकप्रवाह के पार नहीं पहुंचते। किन्तु अनेकों का नायक कोई २ कभी कहीं लोक प्रवाह से बच के निकल सकता है। जो जितना लोक प्रवाह को त्यागता है वह उतना ही अधिक केवल धर्म का संचय करता। इस से सब के लिये सब शास्त्रज्ञ लोगोंको सब काल में लोक प्रवाह से बाहर निकल के शास्त्र की आज्ञा के अनुसार चलने के लिये प्रबल उद्योग करना चाहिये ॥११॥

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥१२॥

अ०—सुखार्थी स्नातको गृहस्थो ब्राह्मणः परमुत्कृष्टमाधिक्येन संतोषमास्थायोद्दिश्य संयतो जितेन्द्रियः प्रचुरधनार्जनादुदासीनो भवेत्। हि यतः सन्तोषएव सुखस्य मूलं नहि तृष्णाप्रवाहोर्मिपतितः सुखं लभते तस्मादेव सन्तो-

षाद्विपर्ययो दुःखमूलं तृष्णाधिक्यमेव दुःखाधिक्यस्य सर्व-त्रप्रधानं कारणमस्तीति ॥

भा०-यथासम्भवभृत्यात्मपोषणावश्यकपञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानमात्रोचितान्नधनानधिकोपादित्सा गृहस्थस्य सन्तोषः नहि कोऽप्यधिकधनान्नार्जनाय धावन् शान्तः सुखी वा भवितुमर्हति । पङ्के प्रविष्टस्य निर्लिप्तत्वमिवासम्भवम्.

भावार्थः-(सुखार्थी परं संतोषमास्थाय संयतो भवेत्) स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण अधिकता से उत्तम सन्तोष को धारण कर वा सन्तोष को ही परम उद्देश मान कर जितेन्द्रिय हो अर्थात् अधिक धन जोड़ने से उदासीन रहे (हि सन्तोषमूलं सुखं विपर्ययो दुःखमूलम्) क्योंकि सन्तोष ही सुखका मूल कारण है जो सन्तोष को त्यागता है उसे सुख नहीं मिलता और सन्तोष का त्याग-तृष्णा का बढ़ना ही सर्वत्र दुःख का मूल कारण है ॥

भा०-शक्ति वा प्राप्ति के अनुसार स्त्री पुत्रादि तथा अपने साधारण भरण पोषण के लिये जितना आवश्यक है तथा पञ्चमहायज्ञ करने के लिये जितना अन्न धन उचित आवश्यक है उतने से अधिक प्राप्ति के लिये तृष्णा न रखना गृहस्थ का सन्तोष कहाता है क्योंकि कोई अधिक अन्न धन जोड़ने के लिये भागता हुआ शान्त वा सुखी नहीं हो सकता जैसे कीचड़ में फसे हुए का न लिपना असम्भव है वैसे लोभ लालच में फसे हुए पुरुष का चित्त शुद्ध निर्दोष शान्त वा सुखयुक्त रहना असम्भव है ॥ १२ ॥

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः।
स्वर्ग्यायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत्॥

अ०-स्नातको द्विजो विप्रोऽतः सुखार्थित्वादेव षट्सु जीविकोपायेषु मध्येऽन्यतमया देशकालाद्यनुसारेण कर्त्तुमुचितयैकया कयाऽपि वृत्त्या जीवन् स्वर्ग्यायुर्यशःकराणीमानि वक्ष्यमाणानि व्रतानि धारयेत् स्वीकुर्यात् ॥

भा०—अत्र प्रकरणे सन्तोषाधिक्येन धनाद्यर्जनसंकोचो ब्राह्मणपरएव विज्ञायते यतस्तस्य तपएव धर्मं वा धनं यस्य च धनमेव धनं न तस्य तपएव धर्मएव वा धनं भवति। यद्वा यस्य तपएव धर्मएव वा धनं सएव ब्राह्मणः। कुलेन यो ब्राह्मणस्तेनान्येन च स्वब्राह्मण्यरक्षायै सन्तोषएव प्रधानीकार्यः। यो धर्मेणाधिकसुखमाप्तुमिच्छति स ब्राह्मणो यः प्रभुत्वेन सुखमिच्छत्यसौ क्षत्रियो यश्च प्रधानतया धनेन सुखमिच्छति सएव वैश्यइति। अतः सन्तोषादिवाक्यानि गौणभावेन क्षत्रियादिषु प्राधान्येन च ब्राह्मणेषु घटन्ते। यो हि वृत्त्याधिक्येन सुखाय धावति न तस्य सुखार्थित्वं सफलं सम्भवति। यश्च बहुभिर्वृत्युपायैर्जीवति नासौ भविष्यति कल्याणहेतूनि स्वर्ग्यायुर्यशांसि प्राप्तुं व्रतान्यनुष्ठातुं वा शक्तः सावकाशो वा जायते। तस्मादेकवृत्या जीवने सुखार्थित्वं पूर्वपद्योपात्तं हेतुस्तादृशं जीवनं च व्रतधारणे हेतुरिति ॥१३॥

भावार्थः—(स्नातको द्विजोऽतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु) ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त कर गृहस्थ हुआ ब्राह्मण सुख का अभिलाषी होने के कारण पूर्व कहे जीविका के छः उपायों में से देश कालादि के अनुसार करने योग्य किसी एक प्रकार की जीविका से जीवन का निर्वाह करता हुआ (स्वर्ग्यायुष्ययशस्यानीमानि व्रतानि धारयेत्) सुख आयु तथा यश कीर्त्ति को अधिक बढ़ाने वाले इन आगे कहे जाने वाले व्रतों नाम नियमों को धारण करे ॥

भा०—इस प्रकरण में सन्तोष की अधिकता से धनादि के जोड़ने में संकोच रखना मुख्य कर ब्राह्मण का ही काम है [इसी कारण सामान्य कर तीन वर्ण के वाची भी द्विजपद से ब्राह्मण का ग्रहण किया गया है सो (विप्रो जीवेदनापदि ४।२) इस अध्याय के आरम्भ में तथा (वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती ४।२५९) इसी अध्याय के अन्त में विप्रपद से ब्राह्मणके लिये मुख्य उपदेश है यह बात ग्रन्थकार ने उपक्रमोपसंहार द्वारा स्वयमेव प्रकट करदी है] क्योंकि ब्राह्मण

का तप वा धर्म ही मुख्य धन है और जिस का धन ही धन है उस का तप वा धर्म ही धन नहीं हो सकता अथवा जिस किसी (वैश्य क्षत्रियादि कहाने वाले) का भी तप और धर्म ही धन है वही ब्राह्मण कहावेगा । इस लिये जो कुल से ब्राह्मण है उस को तथा अन्य गुण कर्मानुकूल ब्राह्मण को अपने ब्राह्मणपन की रक्षा के लिये सन्तोष को ही प्रधान मानना चाहिये । जो कोई पुरुष धर्म के द्वारा अधिक सुख चाहता वह ब्राह्मण जो प्रभुता [हकूमत] द्वारा सुख की अधिक इच्छा रखता वह क्षत्रिय तथा जो मुख्य कर धन के द्वारा सुख भोगना चाहता है वही वैश्य है । इस कारण सन्तोषादि सम्बन्धी वाक्य मुख्य कर ब्राह्मणों में तथा गौणरूप से क्षत्रियादि में घटते हैं । जो अधिक जीविका करके सुख प्राप्ति के लिये भागता है उस का सुखार्थीपन सफल नहीं हो सकता । और जो बहुत जीविका के उपायों का आरम्भ करके जीवता है वह भावी समय में कल्याण के हेतु स्वर्ग अधिक आयु और उत्तम यश को प्राप्त, वा नियम व्रतों का सेवन नहीं कर सकता और उस को सुखभोग के लिये अवकाश भी नहीं मिलता है । इस लिये पूर्व श्लोक में कहा सुखार्थी होना एक वृत्ति से जीवने में हेतु और वैसे जीवन व्यतीत करना व्रत धारण में हेतु है ॥१३॥

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥१४॥

अ०-स्नातकः स्वकं स्ववर्णाश्रमोचितं वेदोक्तं कर्म नित्यं निरन्तरमतन्द्रितः कुर्यात् । तद्धि दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितं वैदिकं कर्म यथाशक्ति शक्तितोऽन्यूनं कुर्वन् परमां गतिं सर्वोत्कृष्टं निःश्रेयससुखं प्राप्नोति ॥

भा०-यथा सर्वत्रैव लोके शास्त्रे च साधनतारतम्येन साध्यतारतम्यसिद्धिर्जायते । अन्नेन भक्षितेन क्षुन्निवर्त्तत इत्यस्मिन्सामान्यवाक्येऽल्पेनाल्पा मध्यमेन मध्यमाऽधिकेन चाधिका तथैवात्रालस्यादिदोषत्यागपुरस्सरं दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितेन वेदोक्तकर्मणा परमगतिः सम्भवति ।

अल्पकालादिसेवितेन चाल्पैव सुखावाप्तिरिति । ज्ञानेनैव मुक्तिरिति सिद्धान्ते सत्त्वशुद्धिद्वारा ज्ञानेन मोक्षे सति नास्ति बाधः । तदुक्तं महाभारतमोक्षधर्मपर्वणि—"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः । तदा दर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि" ॥ १४ ॥

भावार्थः—(स्वकं वेदोदितं कर्म नित्यमतन्द्रितः कुर्यात्) गृहस्थ ब्राह्मण वेद में कहे अपने वर्ण वा आश्रमानुकूल कर्म को नित्य निरन्तर निरालस्य होके करे (तद्धि यथाशक्ति कुर्वन् परमां गतिं प्राप्नोति) अधिक काल तक श्रद्धा के साथ निरन्तर उस वेदोक्त यज्ञादि कर्म को अपनी शक्ति भर करता हुआ परमगति नाम सर्वोत्तम मोक्ष सुख को प्राप्त हो जाता है ॥

भा०—जैसे लोक वा शास्त्र में सर्वत्र ही साधनों के उत्तम मध्यम प्रबल निर्बल वा न्यूनाधिक होने से वैसी ही न्यूनाधिक कार्यों की सिद्धि होती है । अन्न खाने से क्षुधा निवृत्त होती इस सामान्य वाक्य में इतना ऊपर से जोड़ के समझना उचित होता है कि थोड़े से थोड़ी मध्यम से मध्यम और अधिक अन्नसे अधिक क्षुधा निवृत्त हो सकती है । वैसे यहां भी आलस्यादि दोषों के त्याग पूर्वक बहुत काल तक श्रद्धा के साथ निरन्तर सेवन किये वेदोक्त कर्म से मुक्ति हो सकती है और थोड़े कालादि से सेवन किये वेदोक्त कर्म से थोड़ी ही सुख प्राप्ति होती वा हो सकती है । ज्ञान से ही मुक्ति होती इस सिद्धान्त में सत्त्वशुद्धि द्वारा हुए ज्ञान से मुक्ति होती है ऐसा मानने पर कोई बाधा नहीं है । सो महाभारत शान्तिपर्वान्तर्गत मोक्षधर्ममें कहा है कि "मलिनता कुसंस्कार वा दुर्वासनारूप पाप कर्म के शुभ कर्मों द्वारा क्षीणहोने से शुद्ध दर्पण में ठीक स्वरूप दीख पड़ने के समान अपने अन्तःकरण में परमात्मा को देखता है" ॥ १४ ॥

नेहेतार्थान् प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा ।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्त्यामपि यतस्ततः ॥१५॥

अ०—धर्मकृत्यं विस्मृत्य धनाद्यासक्त्याऽर्थानुपार्जितुं नेहेत । विरुद्धेन धर्मविरोधिनिषिद्धप्रतिग्रहादिनार्थान्नेहेत ।

विद्यमानेषु निर्वाहमात्रमुपस्थितेष्वन्नधनादिषु चार्थान्नेहेत आर्त्यामप्यन्नमन्तरेण कष्टे सत्यपि यतस्ततः पतितादेर्नेहेत

भा०-प्रसङ्गादिना धनाद्यर्जने धर्महानिरधर्मप्राप्तिर्वोभयं वा सम्भवति। तस्मादासक्त्यादीन् विहाय वृत्तिमाचरेत्॥१५

भाषार्थः-(प्रसङ्गेनार्थान्नेहेत) धर्म को भुला कर और धनादि में आसक्त हो धनोपार्जन की चेष्टा न करे (न विरुद्धेन कर्मणा) धर्म से विरुद्ध निषिद्ध दान आदि कर्म के द्वारा भी धन संग्रह की चेष्टा न करे (न विद्यमानेष्वर्थेषु) निर्वाहमात्र के लिये अन्न धनादि के उपस्थित होने पर भी लोभ से अधिक धन की चेष्टा न करे (नार्त्यामपि यतस्ततः) अन्न प्राप्ति के विना कष्ट होने पर भी जिस किसी पतित वा अतिनीचादि से अन्नादि लेने की चेष्टा न करे॥

भा०-धनादि में आसक्ति आदि के द्वारा धनादि के उपार्जन में धर्म की हानि, अधर्म की प्राप्ति वा दोनों होनी सम्भव हैं इस लिये अधिक लालच वा फसाव आदि को छोड़ के गृहस्थ जीविका करे॥ १५॥

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्त्तयेत्॥

अ०-सर्वेषु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविसर्गानन्दादानभ्रमणभाषणेष्विन्द्रियाणामर्थेषु विषयेषु कामतो रागेण भोगोत्कण्ठया न प्रवर्त्तेत। एतेषामिन्द्रियाणां विषयेष्वतिप्रसक्तिं मनसा मानसविचारेण दोषदर्शनपुरस्सरं सम्यङ्निवर्त्तयेत्॥

भा०-स्वभार्य्यागमनादीनि गृहस्थेन कर्त्तव्यान्यपि कर्माणि "ऋतौ भार्यामुपेयात्" इत्यादिप्रेरणालक्षणधर्ममत्यैव धर्ममिच्छता गृहस्थेन कार्याणि न त्वनुरागतः। एवं हि धर्मो ज्ञातुं सेवितुं च शक्यते नान्यथा॥ १६॥

भाषार्थः-(सर्वेष्विन्द्रियार्थेषु कामतो न प्रसज्यते) शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इन ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषयों में तथा गुदा के त्याग, उपस्थ के आनन्द, हा

के लेने, पगों के भूषण और वाणी के भाषण विषयों में रागपूर्वक भोग की उत्कण्ठा से गृहस्थ आसक्त न हो (एतेषामतिप्रसक्तिं मनसा संनिवर्त्तयेत्) इन इन्द्रियों की विषयों में होने वाली अत्यन्त फसावट को मानस विचार से दोष देखने पूर्वक सम्यक् रोकता रहे । इन सब में कामासक्ति सब का मूल है उस को सम्हालने से अन्य विषयों में फसावट होना कम सम्भव है। अति फसावट यही है कि जिस से धर्म कर्म सब भूल जाता दिनरात उन्हीं विचारों में लगा रहता है। अति का निषेध करने से कुछ फसावट तो गृहस्थ होने से होती ही है यह जताया है इसी कारण सर्वथा फसावट छुड़ाने के लिये वानप्रस्थादि अगले आश्रम हैं॥

भा०—स्वस्त्रीगमनादि गृहस्थ के कर्त्तव्य काम भी धर्मबुद्धि से ही धर्मोपार्जन की इच्छा रखता हुआ गृहस्थ करे किन्तु स्नेह वा राग में फस के नहीं ऐसा करने पर ही धर्म का ज्ञान और सेवन मनुष्य कर सकता है अन्यथा नहीं ॥१६॥

सर्वान् परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथातथा ध्यापयंस्तु साह्यस्य कृतकृत्यता ॥१७॥

अ०—वेदाध्ययनाध्यापनरूपस्य प्रधानधर्मस्य विरोधिनो विघ्नरूपान्सर्वानर्थान्कर्त्तव्यत्वेनोपदिष्टानपि वृत्त्युपायादीन् परित्यजेत्सर्वथैव जह्यात् । योहि यथातथा कष्टेनापि स्वस्य, कुटुम्बस्य पुत्रकलत्रादेश्च निर्वाहं कुर्वन् स्वाध्यायरूपं परमं धर्मं न जहाति साह्यस्य कृतकृत्यताऽस्ति ॥

भा०—वेदस्याध्ययनमध्यापनं श्रवणं श्रावणं च सर्वद्विजार्याणां परमो धर्मो योहि सांसारिकसुखलिप्सया तत्र विघ्नं करोति स स्वस्यैव भावि महत् कल्याणं निहन्ति ॥१७॥

भाषार्थः-(स्वाध्यायस्य विरोधिनः सर्वानर्थान् परित्यजेत्) वेद के पढ़ने पढ़ाने वेदोक्त धर्म के उपदेश रूप परमधर्म के विरोधी उस धर्म में विघ्न करने वाले अन्य धनोपार्जनादि कर्त्तव्यता से कहे कामों को भी सर्वथा ही छोड़ देवे जो पुरुष (यथातथा यापयंस्तु) जिस किसी प्रकार अपना वा स्त्री पुत्रादि का कष्ट से भी निर्वाह करता हुआ परमधर्म को नहीं छोड़ता (साह्यस्य कृतकृत्यता) सो

ही गृहस्थ ब्राह्मण का कृतार्थ हो जाता है। और धर्म कर लेना ही मुख्य क
वर्त्तमान में भी अधिक सुख का हेतु है ॥

भा०—वेद का पढना पढ़ाना सुनना सुनाना ही ब्राह्मणादि द्विज आर्यों
परमधर्म है जो पुरुष संसारी सुख भोग के लालच से उस परमधर्म में विघ्न
रता है वह अपने ही होने वाले महत् सुख का नाश करता अर्थात् अपने पा
में कुल्हाड़ी मार कर आप ही पीड़ित दुःखित होता है ॥१७॥

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च।
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह ॥१८॥

अ०-वयसो यौवनादेः कर्मणोऽध्यापनादेरर्थस्य धनस्य
श्रुतस्य विद्वत्त्वस्याभिजनस्य कुलीनत्वस्य च वेषवाग्बुद्धि
सारूप्यमाचरन्निह जगति विचरेत्। वेषादिसारूप्यस्य
प्रत्येकेन वयआदिना सम्बन्धो योजनीयः ॥

भा०-वयआदिना वेषादिसारूप्यस्य लोकैरभिमतत्वाद्
द्वेषाद्यभावेन सुखहेतुत्वाद् धर्मेण युज्यते तस्मात्तादृशमे
वाचरणं धर्मानुकूलं विज्ञेयम् ॥ १८ ॥

भावार्थः—(वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च) यौवन वृद्ध वा बा
की अवस्था, अध्यापन वा याजनादि प्रधान कर्म, अर्थ-धन, शास्त्र में प्रवेश औ
कुलीनता ये सब जिन २ (वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्निह विचरेत्) भेष, वाणी औ
बुद्धियों के चिह्नों से प्रकट हों वैसा ही वेषादि रखता हुआ इस जगत् में गृहस्था
पुरुष विचरे ॥

भा०—यह कथन गृहस्थ से भिन्न के लिये भी सामान्य धर्म है। अवस्था
के साथ अनुकूल वेषादि का होना लोगों को अच्छा लगने से किसी से द्वेषादि
हो कर सुख का हेतु होने से धर्म का साथी होता इस से वैसा ही आचरण कर
धर्मानुकूल जानो अर्थात् युवावस्था में वृद्धों का सा वेष, वृद्ध की सी, वाणी, वा बु
रखना धर्म से विरुद्ध है तथा निर्धन होकर धनी का सा और धनी हो कर द
का सा वेष वाणी वा बुद्धि रक्खे तो यह भी धर्म से विरुद्ध काम है। क्योंकि उ
चित से विपरीत वर्त्ताव ही अधर्म है ॥ १८ ॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ॥
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥

अ०-वेदाविरुद्धानि सद्यः शुभबुद्धिवर्धकानि धन्यानि धनाय हितान्यर्थवेदाभिमुखानि हितान्यायुर्वेदादीनि च शास्त्राणि वेदार्थज्ञापकान् ब्राह्मणादिनिगमग्रन्थांश्च नित्यं स्नातकः प्रयत्नेन यथाकालं यथावकाशं चावेक्षेत ॥

भा०-नित्यं सच्छास्त्रावलोकनेन कर्त्तव्ये मनः समाधीयते तेन हृदि धर्मः सदैवोपचीयते ॥ १९ ॥

भावार्थः—(आशु बुद्धिवृद्धिकराणि) शीघ्र ही अच्छे शुभ विचार को बढ़ाने (धन्यानि च हितानि च) अर्थवेद से संबन्ध रखने वाले जिन के अवलोकन से धर्मानुकूल धन प्राप्त कर सके तथा आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थ जिन से आरोग्यता द्वारा हित हो सके ऐसे (शास्त्राणि) शास्त्रों (च) और (वैदिकानेव निगमान्) वेद के आशय में निरन्तर प्रवेश कराने वाले वेद ही के व्याख्यानरूप ब्राह्मणादि ग्रन्थों को गृहस्थ (नित्यमवेक्षेत) नित्य २ देखा शोचा विचारा करे जिस से अभ्युदय निःश्रेयस की सिद्धि सुगम हो ॥

भा०—नित्य २ सत् शास्त्रों के अवलोकन से कर्त्तव्य में मन ठीक अचल-स्थिर होता जाता है । चक्र में घुमाने वाले सन्देह मिटते जाते हैं जिस से हृदय में धर्म का सदा संचय होता है ॥ १९ ॥

यथायथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथातथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥

[शास्त्रस्य पारं गत्वा तु भूयोभूयस्तदभ्यसेत् ।
तच्छास्त्रं शबलं कुर्यान्नचाधीत्य त्यजेत्पुनः ॥१॥]

अ०-पुरुषो यथायथा शास्त्रं सम्यगधिगच्छत्यभ्यस्यति

तथातथा तस्य मर्म विशेषेण जानाति विज्ञानं चास्य रो
चते उज्ज्वलं प्रकाशितं भवति ॥

भा०-यद्यपि केचिज्जन्मान्तरीयशुद्धसंस्कारिणोऽल्पा
भ्यासेनैव शास्त्रस्य यावन् मर्म विजानन्ति न तावन्मलिन
संस्कारा दीर्घकालाभ्यासेनापि जानन्ति तथापि स्वल्पा
भ्यासापेक्षया वेदादिशास्त्रस्याधिकाभ्यासः सर्वस्यैव विज्ञा
नवर्धकः । रुचेरत्र रुच्यर्थाभावादेव सम्प्रदानसंज्ञाभावः ॥२०

भाषार्थः-(पुरुषो यथायथा हि शास्त्रं समधिगच्छति) गृहस्थादि पुरुष जैसा
ही शास्त्र का वार २ अभ्यास करता उस के अभिप्राय को हृदय में बैठाता है (त
थातथा विजानाति) वैसा २ उस का विशेष ज्ञान होता उस के मर्म को जानत
जाता (च) और (विज्ञानमस्य रोचते) इस को शास्त्र का बोध प्रसन्नता बढ़ा
वाला होता क्योंकि उज्ज्वल शुद्ध निर्विकल्प बोध ही रुचि कहाता है ॥ [इसी
आगे किसी २ पुस्तक में (शास्त्रस्य०) यह एक श्लोक और भी मिलता है जिसका अ
है कि-किसी शास्त्र को आद्योपान्त पढ़के वार २ उसका अभ्यास आवृत्ति पाराय
करे तो उसका ठीक शुद्ध बोध निर्मल ज्ञान हो सकता है किन्तु गुरुमुख से पढ़
के उसका अभ्यास छोड़ न देवे] ॥

भा०-यद्यपि जन्मान्तर के अति शुद्ध संस्कारी कोई लोग थोड़ा अभ्यास करने
भी शास्त्र का जितना मर्म जान लेते हैं, मलिन संस्कारी बहुत काल के अभ्यास से
उतना मर्म नहीं जान पाते। तथापि थोड़े २ अभ्यास की अपेक्षा से वेदादि शा
का अधिक २ अभ्यास सभी के लिये विशेष ज्ञान का बढ़ाने वाला माना ज
यगा रुचि शब्द का अर्थ यहां निर्मलता है किन्तु अभिलाषा नहीं है ॥ २० ॥

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥२१॥

अ०-सर्वदा ऋषियज्ञं-ब्रह्मयज्ञं,देवयज्ञं-होमं,भूतयज्ञं
वैश्वदेवं,नृयज्ञमतिथिपूजनं,पितृयज्ञं-पितृपदवाच्यानां वि
प्राणां श्राद्धेन पूजनं यथाशक्ति न हापयेत्त्यजेत् ॥

भा०—विहितानामपि पञ्चयज्ञानां पुनरुपादानमुत्तरार्थं तेनोक्तप्रकारेण वक्ष्यमाणप्रकारेण वा कार्या एव । रोगादिना कर्त्तुमशक्तदशां विहायान्यदा न त्याज्याइत्याशयः ॥

भावार्थः—(ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा) सन्ध्योपासन वेदाध्ययन, अग्निहोत्र, वैश्वदेव, (नृयज्ञं पितृयज्ञं च) अतिथिपूजन, पितृयज्ञ पितृपद्वाच्य ब्राह्मणों का श्राद्ध द्वारा पूजन इन पञ्च महायज्ञों को गृहस्थ सदा करे (यथाशक्ति न हापयेत्) यथाशक्ति कभी न त्यागे अर्थात् साधारण रोगों में भी जब तक शरीर में शक्ति रहे तब तक करता ही रहे ॥

भा०—पञ्चमहायज्ञों के नित्य करने की आज्ञा गृहस्थ के लिये पूर्व आ चुकी थी तो भी आगे विशेष व्याख्यान दिखाने के लिये फिर कहते हैं । इस से उक्त प्रकार अथवा आगे कही रीति से किसी प्रकार अवश्य करना दिखाया है । रोगादि के कारण अशक्त दशा को छोड़ कर अन्य समय कभी कोई मरण पर्यन्त भी न छोड़े । संन्यास आश्रम में केवल महायज्ञों का प्रकार बदल जाता है ॥ २१ ॥

एतानेके महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदो जनाः ।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥
वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा ।
वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥
ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतैर्मखैः सदा ।
ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा
॥ २२—२४ ॥

अ०—यज्ञशास्त्रतत्त्वज्ञाः केचिद्बहिरङ्गप्रकारेण महायज्ञानुष्ठानमनीहमाना अकुर्वाणा एतान् महायज्ञान्सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति । केचिद्वाचि वेदाध्यापनोपदेशाध्ययनज-

पादिवाक्कर्मसु निरन्तरं प्रवृत्ता वाचि प्राणक्रियां जुहुति।
एवं प्राणनिरोधकाले स्वप्नसमये वा प्राणे वाचमक्षयां य
सिद्धिं वाचि प्राणे च पश्यन्तो जुह्वति। अतोऽप्यपरे वि
ज्ञानचक्षुषैषां ज्ञानमूलां क्रियां पश्यन्त एतैर्मखैर्महायज्ञैः स
ज्ञानेनैव यजन्ति । तदा चाविद्यादि दोषा ज्ञानाग्नौ हूयन्ते

भा०—इत्थं पञ्चयज्ञानां त्रिधानुष्ठानमुपपन्नं बाह्यमे
कमाध्यात्मिकं च द्विविधम् । वाक्प्रवृत्तौ प्राणश्वासः स्वत
एव निरुद्धइव जायते तस्मादेव प्राणसाध्यं दर्शनादिकं न क
शक्नोति। एवं च प्राणक्रियातत्परो न भाषते। एकस्य शक्ति
रित्यत्र हूयते तथाऽऽत्ममनसोरेव संयोगेन तत्त्वालोचने रक्त
श्च न चेष्टते न पश्यति नच भाषतेऽपितु तदानीं सर्वाः शक्तय
ज्ञाने हूयन्ते सएव ज्ञानयज्ञ उच्यते। यतो ज्ञानमन्तरेण
किमपि बाह्यं कर्म केनापि कर्त्तुं शक्यते। स्वापकाल उन्माद
दशायां वाऽविचारेण या चेष्टा सातु नात्र यज्ञादिकर्मण्य-
न्तर्भवितुमर्हति । वायुरेव तस्यास्तृणादाविव कारणम्
ज्ञानस्य प्राधान्यान्मूलत्वाच्च तदधीना महायज्ञाः सर्वापे
क्षयाऽप्यत्युत्तमा बोध्याः । यथा कश्चित्कस्मैचित्किमपि
ददाति कदापि कस्याप्युपकारं करोति नच सर्वदा परोप
कारं कोऽपि कर्तुमर्हति स्वोपकारमन्तरेण परोपकारास
म्भवात् । यश्चान्येषां हितमेव चिन्तयति न कस्याप्यहि
स च दात्राद्यपेक्षया श्रेष्ठएव । एवं च कस्याप्युपरिष्टाद
कारापेक्षया मनसाऽनिष्टचिन्तको महानीचः पापिष्ठइति
एतेनापि ज्ञानयज्ञस्य सर्वापेक्षया प्राधान्यम्। हस्तपादादि

ना रक्षाशौचादिरूपा यमादिसंबद्धा महायज्ञक्रिया तृतीया कोटिः, वाचा प्राणेन च जपप्राणायामादिका क्रिया प्राणायामप्रत्याहारसंबद्धा मध्यमपुण्यहेतुका, धारणाध्यानसमाधिसम्बद्धा प्रथमा मुख्योत्तमा धर्मकोटिः। एवंरीत्यैव योगसाधनादिरूपाण्यहिंसादिकर्माणि ज्ञानोत्पत्तेः कारणान्यभ्युदयनिःश्रेयससुखयोर्हेतूनि विज्ञेयानि ॥ २२–२४ ॥

भावार्थः—(यज्ञशास्त्रविद एके जना एतान्महायज्ञाननीहमानाः) यज्ञों की शिक्षा के तत्त्व–मर्म को जानने वाले कोई २ महात्मा लोग इन पांच महायज्ञों को तृतीयाध्याय में कही प्रसिद्ध रीति से शरीर के द्वारा न करते हुए (इन्द्रियेष्वेव सततं जुह्वति) इन्द्रियों में ही इन्द्रियों का निरन्तर होम करते हैं [अर्थात् यज्ञों के मर्म को कोई २ बड़े ज्ञानी ही जान पाते हैं किन्तु सब कोई नहीं और जो लोग मर्म को जान लेते, वे ही इन्द्रियों वा अन्तःकरणमात्र में यज्ञ कर सकते हैं। और इन महायज्ञों का भीतरी मर्म यह है कि १–ऋषिपन वा ब्रह्मपन, २ देवपन, ३ पितृपन, ४–मनुष्यपन और ५–भूतपन स्थूल सूक्ष्म रूप से न्यून वा अधिक सर्वत्र विद्यमान हैं उसी ऋषिपन आदि का यज्ञ नाम ठीक सुधार शुद्ध दशा अच्छीहालत] रूप पूजन करना यही ऋषियज्ञ है क्योंकि ऋषिपूजन ऋषियज्ञ एक ही बात है। यज्ञ का अर्थ पूजा ही है। उसी ऋष्यादिपन के बाह्याभ्यन्तर ठीक संशोधन रूप पूजन से मनुष्य के संसार परमार्थ दोनों बन जाते हैं। इन का ठीक २ कर चुकना ही तीन ऋणों का चुका देना है यही मुक्ति है। सो प्रथम २ सीढ़ीं के द्वारा ही जैसे अगली २ सीढ़ी पर पहुंचना हो सकता है। और जैसे बाह्य शुद्धि आभ्यन्तर शुद्धि का कारण है कोई पुरीषागार [पाखाने] में बैठा हुआ अपने भीतर को शुद्ध इस लिये नहीं रख सकता कि बाहर से श्वासादि द्वारा दुर्गन्ध युक्त तत्त्वों के अंश भीतर पहुंच कर अशुद्धि करेंगे। सो जैसे बाह्य अशुद्धि भीतरी अशुद्धि का कारण होती वैसे बाह्य शुद्धि भीतरी शुद्धि का कारण जानो। इसी प्रकार बाह्य पांच महायज्ञों का सेवन भीतरी महायज्ञों का हेतु होगा। अग्नि के साथ ऋषिपन, वायु के साथ देवपन जलों के साथ पितृपन और पृथिवी के साथ मनुष्यपन तथा भूतपन का प्रधान सम्बन्ध है, सो जहां २ जैसा २ स्थूल सूक्ष्म ऋषि आदि पन विवक्षित है वहां वेदादि में अग्नि आदि को

ऋषिरादि कहा है "(अग्निर्ऋषिः पवमानः ऋ०) (चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः । ब्राह्मणे
इत्यादि] (एके वाचि प्राणं जुह्वति) कोई लोग वाणी के पढ़ाना वा धर्मोपदेश
यज्ञ वा जपपाठ करने आदि निरन्तर कर्मों में प्रवृत्त हुए वाणी में प्राण
होम कर देते अर्थात् देखने सूंघने आदि प्राण के कामों को वाणी के प्रवाह
ही झोंक देते उन को भूल जाते हैं (प्राणे वाचं च सर्वदा) इसी प्रकार प्र
को रोकने के समय वा स्वप्नादि में मौन हो जाने के समय वाणी की शक्ति का प्र
सम्बन्धी इन्द्रियों में होमकर देते हैं तब राग द्वेष रहित सामान्य देखना सु
रह जाता है (अक्षयां यज्ञनिर्वृत्तिं वाचि प्राणे च पश्यन्तः) वाणी तथा प्राण
होम करने से हुई अत्यन्त काल तक ठहरने और अविनाशी सुख की देने वा
यज्ञ के फल की सिद्धि को ज्ञानदृष्टि से देखते हुए । (एषां ज्ञानमूलां क्रि
ज्ञानचक्षुषा पश्यन्तोऽपरे विप्राः) तथा इन महायज्ञों की क्रिया का मूल कारण ज्ञ
ही है ऐसा ज्ञान चक्षुओं से देखते हुए कोई २ और भी बड़े महात्मा (एतैर्
ज्ञानेनैव सदा यजन्ति) केवल ज्ञान के द्वारा ही सदा इन महायज्ञों को करते
अर्थात् पहिली दो कक्षाओं से उत्तीर्ण हो कर तीसरी सर्वोत्तम कोटि में प
जाते हैं ॥

भा०—इस उक्त प्रकार पञ्चमहायज्ञों का तीन प्रकार से करना सिद्ध हुआ जि
में एक बाहिरी और दो प्रकार का भीतरी, व्याख्यान वा लगातार वेदपाठादि
के समय प्राण का श्वास स्वयमेव रुकसा जाता है । इसी लिये विचार पू
पाठादि करने के समय प्राण से होने वाला देखनादि काम ठीक वा प्रधान न
होता । इसी प्रकार प्राण की क्रिया श्वास फेंकने वा रोकने समय वा वि
पूर्वक देखने आदि के समय बोल नहीं सकता एक की शक्ति अन्य में होम कर
जाती है । तथा आत्मा और मन के ही केवल संयोग से तत्त्वालोचन करने
किसी भीतरी विचार में लगा हुआ न हाथ पांव चलाता न देखता तथा न
बोल सकता है किन्तु उस समय विचार रूप ज्ञान में सब शक्तियों का होम
जाता है । उसी को ज्ञानयज्ञ कहते हैं क्योंकि जिस कारण समझे विना वि
बाहिरी काम को कोई भी नहीं कर सकता । सोते समय वा पागल दशा में
ना विचार जो हाथ पांव आदि की चेष्टा होती है वह यज्ञ के अन्तर्गत नहीं
क्योंकि भीतरी सूक्ष्म ज्ञान के वहां कारण होने पर भी प्रमाद [बेहोशी] की
बलता से जड़ तृणादि हिलने के समान केवल वायु ही उस चेष्टा का कारण
ज्ञान के मूल तथा प्रधान होने से ज्ञान के आधीन सिद्ध होने वाले महायज्ञ

की अपेक्षा अत्युत्तम हैं। जैसे कोई किसी को कभी २ कुछ देता वा कभी किसी का उपकार करता है किन्तु सर्वकाल में कोई परोपकार नहीं कर सकता क्योंकि अपना उपकार हुए विना परोपकार हो ही नहीं सकता। और जो अन्य सर्व साधारण का हित ही शोचा करता है किन्तु किसी का अहित नहीं शोचता वह हाथ से देने वाले आदि की अपेक्षा श्रेष्ठ ही है। प्रयोजन यह है कि जिस के हृदय में परोपकारादि धर्म है वह प्रायः हाथ आदि से कम भी करे तो भी जिस के हृदय में नहीं केवल लोक में प्रतिष्ठादि के लिये थोड़ा दानादि देकर अधिक प्रशंसा का उपाय करता है उस की अपेक्षा उस से फिर भी दानादि धर्म अधिक ही होगा। इस से ज्ञानयज्ञ ही सर्वोत्तम ठहरता है। इसी प्रकार ऊपर से किसी का अपकार कर देने की अपेक्षा भीतर से जो सदा ही अन्यों के अनिष्ट चिन्तन में रहता धीरे २ दूसरे के हित की जड़ काटा करता है वही महापापी महानीच है तो भीतरी पाप अन्य पापों से बड़ा होने से भी ज्ञानयज्ञ की उत्तमता सिद्ध हो गयी। हाथ पांव आदि से किसी की रक्षा वा शरीरशुद्धि आदिरूप यमनियम आदि से सम्बन्ध रखने वाली महायज्ञों की क्रिया स्थूल कोटि की है। वाणी और प्राण से सम्बन्ध रखने वाले जप, शुभ दर्शनादि वा प्राणायाम सम्बन्धी क्रिया मध्यम पुण्य का हेतु महायज्ञों की द्वितीय कोटि है। और धारणाध्यान समाधि से सम्बन्ध रखने वाले महायज्ञों की क्रिया मुख्य धर्मकोटि है इसी का नाम ज्ञानयज्ञ है, पञ्चमहायज्ञादि कर्म, धर्म तथा यमनियमादि योगाङ्ग ये सब एक ही हैं। इसी रीति से योग साधनादिरूप अहिंसादि कर्म ज्ञानोत्पत्ति के कारण तथा अभ्युदय निःश्रेयस दोनों प्रकार के सुख के हेतु होते जानो ॥२२-२४॥

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा।
दर्शेन चार्द्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि॥२५॥

अ०—द्युनिशोराद्यन्ते सदा प्रतिदिवसमग्निहोत्रमपि जुहुयादर्द्धमासान्ते च दर्शेष्टिविधिना मासान्ते च पौर्णमासेष्टिविधिना प्रतिमासं जुहुयात् ॥

भा०—ब्रह्मचर्याश्रमे ब्रह्मयज्ञस्य सर्वोपरि प्राधान्यं गृहाश्रमे त्वग्निहोत्रस्यापि तद्वदेव प्राधान्यं विज्ञेयमिति ज्ञा-

पयितुमग्निहोत्रानुवादो नत्वपूर्वो विधिः ॥२५॥

भाषार्थः-गृहस्थ पुरुष (द्युनिशोराद्यन्ते सदाऽग्निहोत्रं च जुहुयात्) दिन के आरम्भ और दिन के अन्त में तथा रात्रि के आदि और रात्रि के अन्त में सध्या तथा सन्ध्या के समय में सदा प्रतिदिन अग्निहोत्र भी किया करे । (अर्द्धमासान्ते दर्शेन च) अमावास्या और प्रतिपदा की सन्धि में दर्शेष्टि पद्धति के अनुसार (पौर्णमासेन चैव हि) और महिने के अन्त पौर्णमासी प्रतिपदा की सन्धि में पौर्णमासेष्टि विधि से प्रतिमास यज्ञ करे ॥

भा०-ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मयज्ञ का सेवन विशेष कर करना सर्वोपरि उत्तम परन्तु गृहाश्रम में ब्रह्मयज्ञ के समान वा उस से भी अधिक अग्निहोत्र नामक देवयज्ञ का करना आवश्यक और प्रधान है यही जताने के लिये अग्निहोत्र का अनुवाद यहां किया है किन्तु अपूर्व विधान नहीं है ॥ २५ ॥

सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः
पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः ॥२

अ०—द्विजो ब्राह्मणादिः स्नातकः सस्यस्यान्ते समीपे पक्के नवान्नेन नवसस्येष्ट्या तथा—ऋत्वन्ते द्वयोर्ऋत्वोः स न्धावध्वरैस्तत्तत्कालशाकफलमूलादिभिरयनस्य संवत्सरस्यादौ पशुना पशुविकारेण घृतादिना वर्षान्ते च कार्तिक्यां सौमिकैः सोमतत्त्वप्रधानद्रव्यसाधनैर्मखैर्यज्ञैर्जुहुयादि ति पूर्वश्लोकादनुवर्त्तनीयम् ॥

भा०-अत्र साधनद्रव्यप्रधानानि नवसस्येष्ट्यादियज्ञनामानि । कदा केन यज्ञः कार्यइति कालेन साकं साधनद्रव्य प्रतिपादने ग्रन्थकर्त्तुस्तात्पर्यम् । तत्रापि पशुविकारघृतादेः सामान्येन सर्वत्र सत्त्वेऽपि तस्यतस्य तदातदा प्राधान्यं विवक्षितं बोध्यम् । पशुनेति पदेन ये तन्मांसहोममिच्छ

न्ति तैरपि तद्विकारोऽवयवो वा कल्पनीयो भवति तस्माद् हिंसादिदोषरहितस्य घृतादिविकारस्य कल्पनं सर्वथैव धर्मशास्त्रानुकूलमस्ति मांसकल्पने च हिंसादोषः ॥२६॥

भावार्थः-(द्विजः सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या) ब्राह्मणादि स्नातक गृहस्थ खेती पकने के समीप [फसल में] नवीन पके अन्न से नवसस्येष्टि (तथर्त्वन्तेऽध्वरैः) तथा ऋतु २ के आदि अन्त में उस २ ऋतु के फल मूल शाकादि से अध्वर नामक यज्ञ (अयनस्यादौ पशुना तु) संवत्सर के आरम्भ में गौ आदि पशु से उत्पन्न हुए घृतादि से आग्रायणेष्टि यज्ञ और (समान्ते सौमिकैर्मखैः) और वर्षान्त कतिकी के समीप सोमतत्त्व प्रधान कुमुदिनी कमलादि से होने वाले यज्ञ करे पूर्व श्लोक से यहां (जुहुयात्) की अनुवृत्ति लानी है ॥

भा०-यहां होम के साधन द्रव्यों की प्रधानता दिखाने वाले नवसस्येष्टि आदि यज्ञों के नाम हैं । जिस से यह विधि वा आज्ञा सिद्ध हो जाती है कि अमुक २ समय अमुक २ द्रव्यों से यज्ञ करे। काल के साथ साधनरूप हविष्यद्रव्यों का विधान दिखाने में ग्रन्थकार का तात्पर्य है । उस में पशु के विकाररूप घृतादि के सर्वत्र होने पर भी उस २ वस्तु की उस२ समय प्रधानता विवक्षित कही जानो । जो लोग पशुना इस पद से पशु के मांस का होम करना चाहते हैं उन को भी पशुपद का अर्थ उस का विकार नाम मांस करना ही होगा । इस लिये पशु का विकार जो हिंसादि दोष से रहित हो उसी की कल्पना करना धर्म शास्त्र के सिद्धान्त के अनुकूल है और मांस का ग्रहण करने में हिंसादोष को कोई बचा नहीं सकता इस से वह कल्पना शास्त्र विरुद्ध है ॥ २६ ॥

[नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान् द्विजः । नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ नवेनानर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः । प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगर्द्धिनः ॥ २७ । २८ ॥]

अ०-अग्निमानाहिताग्निर्दीर्घमायुर्जिजीविषुर्द्विजो नवसस्येष्ट्या पशुना चानिष्ट्वा नवान्नं मांसं वा नाद्यात् ॥

नवेनान्नेन पशुहव्येन चानर्चिता नवान्नामिषगर्धिनो ह्य-ग्नयोऽस्य यज्ञमकुर्वतो गृहस्थस्य प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति, तस्मादुक्तविधिना यज्ञः कार्यः ॥

भा०-पूर्वोक्तश्लोकद्वयोक्तविध्योरर्थवादोऽयं निन्दारूपः। पशुहव्यपदेनात्र घृतादेर्ग्रहणं सम्भवति तत्र पशुनेति तृतीयानिर्दिष्टपदस्य व्याख्यानं बोध्यम्। यदि चैवं स्पष्टमेव पशुपदेन पशुसम्भूतं घृतादिकमेव ग्रन्थकर्तुरिष्टं तदा च मांसं वेत्यस्य नास्ति कोऽपि प्रसङ्गः। एवं च यदि-"नवान्नमद्याद्दुग्धं वा" इत्ययं ग्रन्थानुकूलः साधुः पाठः स्यात् तदा नास्त्यसम्भवम्। पशुपदेन केनचिन्मांसस्य ग्रहणं कल्पयित्वा दुग्धस्थाने मांसपदस्य परिवर्त्तनं कृतं चेदिति सम्भवति। एवं चार्थवादरूपपद्यद्वयस्य सम्यक्त्वं सम्भवति। तथापि विचारकोटौ श्लोकाविमौ स्थाप्यौ सा-ध्यत्वादेव। गृहादिषु व्याप्ता अग्नयो घृतनवान्नादिपुष्टसुगन्धिपदार्थहोमैः सम्यक् शुद्धा जीवनहेतवः सम्पद्यन्ते। तएव तादृशपदार्थहोमेन विना दुर्गन्धादियुक्ताः प्राणिघातहेतुका भवन्ति। यो हि यमवाप्य वर्द्धते प्रसीदति प्रज्वलति वा स तमेव पदार्थमिच्छति। यथा पृथिव्युदकमिच्छति। एवं तात्पर्यबोधेन जडवस्तुष्वपीच्छाप्रयोगो नायुक्तः ॥२८॥

भाषार्थः-(अग्निमान् दीर्घमायुर्जिजीविषुर्द्विजो नवसस्येष्ट्या पशुना चानिष्ट्वा) विधि पूर्वक अग्निहोत्र का जिस ने आरम्भ वा स्वीकार किया हो ऐसा दीर्घायुपर्यन्त जीवन की इच्छा रखने वाला गृहस्थ ब्राह्मणादि नवीन अन्न से तथा पशु साधन से यज्ञ न करके (नवान्नं मांसं वा नाद्यात्) नये अन्न और मांस को न खावे (नवेन पशुहव्येन चानर्चिता नवान्नामिषगर्धिनोऽग्नयः) नये अन्न और

पशु सम्बन्धी हविष्य से पूजित वा तृप्त न हुए नया अन्न और आमिष खाने की इच्छा वाले अग्नि (अस्य प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति) इस गृहस्थ के प्राणों को ही खा जाना चाहते हैं । इस कारण उक्त विधि से यज्ञ करना चाहिये ॥

भा०—पूर्वोक्त दो श्लोकों में कही विधियों का यह निन्दारूप अर्थवाद है । पशुहव्य कहने से यहां घृतादि का ग्रहण होना अच्छा सम्भव प्रतीत होता है । हव्यपद से मांस का ग्रहण कोशादि से भी सिद्ध नहीं है । सो यह पूर्व कहे पशुना इस तृतीयान्तपद का व्याख्यान माना जायगा । ऐसे यदि स्पष्ट ही पशुपद से घृतादि का ग्रहण ग्रन्थकार को भी इष्ट है तो (मांसं वा) कहने की प्राप्ति ही नहीं । इस प्रकार यदि " नया अन्न और दुग्ध न खावे " ऐसा ग्रन्थ के सिद्धान्तानुकूल ठीक पाठ हो तो असम्भव वा आश्चर्य नहीं है । इस दशा में अनुमान होता है कि किसी ने पशुपद से मांस की कल्पना करके दुग्ध के स्थान में मांसपद बदला होगा । इस प्रकार अर्थवाद रूप ये दोनों श्लोक ठीक निर्विवाद माननीय ठहर सकते हैं । तो भी साध्य होने से ये दोनों श्लोक विचारकोटि में रखने योग्य ही हैं । घर आदि में व्याप्त अग्नि घृत वा नवीन अन्नादि पुष्ट सुगन्ध पदार्थों के होमों से सम्यक् शुद्ध जीवन के हेतु हो जाते हैं वेही वैसे पदार्थों का होम मिले विना दुर्गन्धादि युक्त हुए प्राणियों के घातक होते हैं जो जिस को पाकर बढ़ता प्रसन्न वा प्रज्वलित होता वह उसी पदार्थ को चाहता है जैसे पृथिवी जल चाहती इस प्रकार तात्पर्य बोध होने से जड़ वस्तुओं में इच्छा का प्रयोग अयुक्त नहीं है ॥२८॥

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा ।
नास्य कश्चिद्वसेद्गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः

अ०—आसनं कुशादिमयमशनं भोजनं शय्या सुखेन शयनाय सविस्तरा खट्वादिका ताभिर्विशिष्टभोजनाभावे मूलफलादिना तदभावेऽपि केवलेनोदकेन वा शक्तितो यथाशक्ति कोऽप्यनऽर्चितोऽतिथिरस्य स्नातकगृहिणो गेहे न वसेदपित्वर्चितएव वसेत् ॥

भा० विहितस्याप्यतिथियज्ञस्य गृहाश्रमनियमेषु त-

स्यावश्यकत्वं प्राधान्यं चानुवादेन ज्ञाप्यते। शक्तिपदेन चाँसाधनानि वस्तूनि सूच्यन्ते यादृशानि स्वस्य साधनानि तेषु न किमप्युत्कृष्टं साधनं स्वसुखाय रक्षयेत्। नाँ तत उत्कृष्टसाधनसाध्यापेक्षया सन्निहितसाधनजन्यां पूहीनां मत्वा शोकातुरो भूत्वाऽकृतामिव मन्येत तेन धाँहीयते तस्माद् यथोचितकरणमेव धर्मः॥२९॥

भाषार्थः–(आसनाशनशय्याभिः) बैठने का कुशादि निर्मित आसन, भोजन सुख से सोने के लिये बिछौना सहित खटिया आदि से तथा विशेष उत्तम भो प्राप्त न हो सकने पर (मूलफलेनाद्भिर्वा) फल मूलों से उन के भी न मिलने केवल जल से (शक्तितः कश्चिदनर्चितोऽतिथिरस्य गेहे न वसेत्) अपनी शक्ति अनुसार आदर सत्कार न किया कोई अतिथि इस गृहस्थ के घर पर न वसे। इस अभिप्राय यह नहीं कि अतिथि की पूजा भी न करे और वसने भी न देवे कि यथाप्राप्त सामग्री से सत्कार किया हुआ ही अतिथि गृहस्थ के घर पर वसे वि सत्कार पाये कदापि न पड़ा रहे यह गृहस्थ का एक मुख्यधर्म है कि अपने य आये का सत्कार अवश्य करे॥

भा०–अतिथियज्ञ का विधान हो चुका है उसकी गृहाश्रम में विशेष आवश्यकता और प्रधानता दिखाने के लिये यहां अनुवाद किया है। तथा शक्ति से सत्कार के साधन भोजनादि वस्तुओं की सूचना है। जैसे अपने साधन उन में से किसी उत्तम वस्तु को अपने सुख के लिये न रख छोड़े कि जो अति को न देवे। और उस से उत्तम सामान से होने वाली पूजा की अपेक्षा समीपस्थ साधनों से होने वाली पूजा को तुच्छ मान शोकातुर हो सेवा को न के तुल्य भी न माने अर्थात् दुःखित न होवे क्योंकि इस से धर्म घटता है लिये यथोचित करना ही धर्म है॥ २९॥

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकाञ्छठा हैतुकान् बकवृतींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्

अ०–अतिथिवदकस्मात्पूजां प्राप्तुमागतान् वेदबाह्य

लिङ्गव्रतधारिणश्चक्राङ्कितादीन् प्रतिषिद्धवृत्तिजीविन आश्रमधर्महीनान् विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् १९५ पद्ये वक्ष्यमाणान् शठान् कुटिलहृदयानुपरिष्टात्प्रियभाषिणोऽपि वेदमश्रद्दधानान् हैतुकान् वेदविरुद्धतर्कप्रधानान् वेदसिद्धान्तमज्ञात्वा वेदाशयप्रकाशमिषेण जीवतो वकवृत्तीन् १९६ पद्ये वक्ष्यमाणानतिथ्याभासान् वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् । न सत्कुर्यात् नायमतिथियज्ञः ॥

भा०—अतिथिपूजनं धर्मोन्नतये धर्मिष्ठार्चनेन धर्मोन्नतिः सम्भवति । धर्मविरुद्धाधर्मिणोऽर्चनेन भुजङ्गस्य पयःपानवद्धर्मस्यैवोन्नतिसम्भवात् प्रतिषिद्धमीदृशानामर्चनम् । सर्वान्यसत्कारसाधनाभावे सर्वदोषरहितवाचाऽपि सुहृदां पूजनावश्यकत्वं शास्त्रेषूक्तं तदपि न तत्र कार्यम् ॥३०॥

भाषार्थः—अतिथि के तुल्य अकस्मात् भोजनादि द्वारा सत्कार मिलने की इच्छा से आये (पाषण्डिनो विकर्मस्थान्) वेद से विरुद्ध वेषधारी चक्राङ्कितादि पाखण्डी तथा धर्म विरोधी कर्मों द्वारा जीविका करने वा आश्रम धर्मों पर न चलने वाले (वैडालव्रतिकान्) बिलाई कासा नियम वा विचार रखने वाले जो बड़ी सावधानी वा चतुराई से अन्यों का माल मारते हों जिन का विशेष वर्णन इसी अध्याय के १९५ वें श्लोक में किया है (शठान्) ऊपर से प्रिय कोमल भाषण में तत्पर भीतर हृदय से कुटिलता को धारण करने वाले वेद पर जिन की श्रद्धा नहीं होती (हैतुकान्) वेद के सिद्धान्तसे विरुद्ध तर्क पर सवार, वेद के सिद्धान्त को न जान कर भी जीविका के हेतु से वेद के आशय का प्रकाश करने को प्रवृत्त होने वाले और (वकवृत्तींश्च) इसी अध्याय के १९६ वें श्लोक में जिन का विशेष वर्णन है ऐसे नाम मात्र ब्राह्मण वा पण्डित कहाने वाले धूर्त्तों का (वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्) वाणीमात्र से भी आदर सत्कार गृहस्थ पुरुष न करे क्योंकि ऐसों का पूजन अतिथियज्ञ नहीं कहावेगा ॥

भा०— अतिथि पूजन धर्म की उन्नति के लिये है सो धर्मात्माओं के पूजन से धर्म की उन्नति हो सकती है । तथा धर्म से विरुद्ध चलनेवाले अधर्मियों के पूजन

से सांप को दूध पिलाने के समान अधर्म वा दुःख की ही उन्नति का सम्भव है। से वैसों के पूजन का निषेध किया है। सत्कार के लिये भोजनादि सब साम के प्राप्त न होने पर भी शुद्ध हृदय वालों का केवल वाणी से भी पूजन का आवश्यक माना है। सो पाषण्डी आदि का वह भी न करना चाहिये ॥ ३०

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्छ्रोत्रियान् गृहमेधिनः पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥३१॥

अ०–नियमधर्मेण वेदविद्यां प्राप्य ब्रह्मचर्यव्रतानि समाप्य स्नातान् समावृत्तान् यद्वा ब्रह्मचर्याश्रमव्रतानुष्ठान मन्तरेणापि येन केनापि संस्कारप्राबल्यादिना श्रोत्रिया वेदमर्मज्ञान् वेदगूढाशयज्ञाने प्रसिद्धान् गृहमेधिनो गृहपा वकान् हव्यकव्येन देवपितृयज्ञसाधनेन पूजयेद्विपरीतांश्चा ङ्गहीनादीन् तृतीयाध्यायोक्तानपि वर्जयेत् ॥

भा०–वेदविद्धर्मात्मपूजनेन विद्याधर्मावेव पूज्येते यतो गुणत्वात्सुपात्रद्रव्यएव तयोः स्थितिः। विपरीतपदेन सर्वेषामेव वर्ज्यानां सामान्येन ग्रहणमुचितं विशिष्टानां के षांचिद्ग्रहणे हेत्वभावात् ॥ ३१ ॥

भाषार्थः–(वेदविद्याव्रतस्नातान् श्रोत्रियान् गृहमेधिनः) पूर्ण नियमों व धर्मों के साथ वेद विद्या को पढ़ जान के तथा ब्रह्मचर्याश्रम के व्रतों को समा करके समावर्त्तन स्नान किये अथवा ब्रह्मचर्याश्रम के व्रतों का सेवन किये विन भी जिस किसी पूर्व संस्कारों की विशेष प्रबलता वा शुद्धतादि के कारण वेद क मर्म जानने में तत्पर वेद का गूढ़ाशय जानने वालों में प्रसिद्ध घर को पवित्र क रने वाले शुद्ध हृदय के धर्मात्मा विद्वानों का (हव्यकव्येन) देवयज्ञ और पितृय के साधनों द्वारा (पूजयेत्) पूजन करे (विपरीतांश्च वर्जयेत्) और विपरीत नाम वेदविद्यादि शुभगुणों से रहितों वा तृतीयाध्याय में कहे अङ्गहीनादि को भी वर्जन कर देवे उन का कभी सत्कार न करे ॥

भा०—वेदवेत्ता धर्मात्माओं के पूजन से विद्या और धर्म की ही पूजा होती है जिस कारण विद्या और धर्म गुण हैं इस कारण सुपात्र में ही विद्या धर्म दोनों एक साथ ठहरते हैं। और यहां विपरीत कहने से वर्जनीय सभी का ग्रहण जानो क्योंकि किन्ही विशेषों के ग्रहण में कोई हेतु नहीं है ॥ ३१ ॥

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना ।
संविभागश्च भूतेभ्यः कर्त्तव्योऽनुपरोधतः॥३२॥

अ०-गृहमेधिना गृहिणीसङ्गिना पुरुषेण ब्रह्मचार्याद्यपचमानेभ्योऽपचनशीलेभ्यो भिक्षान्नं दातव्यम्। पुत्रकलत्रादिनिर्वाह उपरोधमकृत्वा भूतेभ्योऽपि संविभागः कर्त्तव्यो वैश्वदेवाख्यो यज्ञोऽपि कर्त्तव्यः। न्यूनान्ने न्यूनोऽधिकान्नेऽधिको मध्यदशायां च मध्यम इति ॥

भा०—अयमपि गृहस्थाश्रमे प्राधान्येन कर्त्तव्यत्वप्रदर्शनार्थ एवोक्तस्य भूतयज्ञस्यानुवादः ॥ ३२ ॥

भावार्थः—(गृहमेधिना) स्त्री के साथ रहने वाले गृहस्थ पुरुष को चाहिये कि (अपचमानेभ्यः शक्तितो दातव्यम्) स्वयं भोजन न पकाने वाले ब्रह्मचारी वा संन्यासियों को पकाये अन्न की भिक्षा दिया करे (अनुपरोधतो भूतेभ्यः संविभागश्च कर्त्तव्यः) स्त्री पुत्रादि को भूखे न रखकर तृतीयाध्यायमें कहे अनुसार वैश्वदेव नामक भूतयज्ञ भी गृहस्थ कियाकरे। अर्थात् वैश्वदेव सम्बन्धी बलिकर्म अन्न जैसा न्यूनाधिक हो वैसाही करे ॥

भा०—पूर्व तृतीयाऽध्याय में विधान किये भूतयज्ञ को गृहस्थ अवश्य करे ऐसी गृहस्थाश्रम में प्रधानता दिखाने के लिये अनुवादमात्र कथन है अपूर्व नहीं ॥३२॥

राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा।
याज्यान्तेवासिनोर्वापि नत्वन्यतइति स्थितिः३३

अ०—स्नातको विप्रः क्षुधा संसीदन्राजतो याज्यान्ते-

वासिनोर्वापि धनमन्विच्छेत् । अन्यतः शूद्रादेर्नेच्छेदिति प्रधाना धर्मस्थितिः ॥

भा०—सर्वतः प्रतिगृह्णीयादितित्वापत्कालिकं वचस्तत्राप्युत्कृष्टाल्लाभेऽवकृष्टास्त्याज्या भविष्यन्त्येव । न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितइति वक्ष्यति । तस्मात्प्रजानामपीडको धार्मिकः क्षत्रधर्मे रतएवात्र जनो राजपदवाच्यो विज्ञेयः । यः क्षुधा सीदति नासौ धर्ममनुष्ठातुं शक्नोति यश्चोत्तमभोगासक्तस्तस्माद्धर्ममिच्छतोभयं त्याज्यम् ३३

भावार्थः—(स्नातकः क्षुधा संसीदन्) स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण भूख से दुःखी हो भूखों मरता हो तो (राजतो याज्यान्तेवासिनोर्वापि धनमन्विच्छेत्) राजा से जिन क्षत्रिय ब्राह्मणादि को यज्ञ कराता हो उन से तथा अपने शिष्यों से धन लेने की चेष्टा करे (न त्वन्यतइति स्थितिः) किन्तु अन्य नीच शूद्रादि से धन न लेवे इसी से मुख्य कर धर्म की स्थिति रहती है ॥

भा०—" सब से दान ले लेवे " यह आपत्काल के लिये कथन है उस में भी अच्छे से मिलने पर नीचों से लेना त्याज्य ही होगा । और " क्षत्रिय भिन्न राजा से दान न लेवे " यह आगे इसी अध्याय में कहेंगे । इस कारण प्रजा को पीड़ा न देने वाला क्षत्र धर्म में तत्पर धार्मिक मनुष्य ही यहां राजतः कहने से मानना चाहिये । जो भूखों मरता वा उत्तम भोगों का लालची है वह धर्म का अनुष्ठान नहीं कर सकता इस कारण धर्म चाहने वाले को दरिद्रता और लालच दोनों छोड़ देने चाहिये ॥ ३३ ॥

न सीदेत्स्नातको विप्रः क्षुधा शक्तः कथंचन ॥
न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः ।
स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च
॥ ३४— ३५ ॥

अ०—धर्मेण धनोपार्जने भोक्तुं वा शक्तः समर्थः स्नातको विप्रः कथंचन लोभेनापि क्षुधा न सीदेद्विभवे धनाद्यैश्वर्ये सति विद्यमाने जीर्णानि छिन्नानि मलिनानि च वासांसि न धारयेत्। किन्तु लूनकेशनखश्मश्रुर्मनसो दमनकर्त्ता शुक्लाम्बरो निर्मलशुद्धवस्त्रधारी बाह्याभ्यन्तरशौचकारी लघ्वाहाराद्यात्महितेषु स्वाध्याये वेदाध्ययनाध्यापनयोश्च नित्ययुक्तो नित्यं तत्पर आसक्तो लग्नः स्यात् ॥

भा०—बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चिदिति कथनानुकूलं क्षुधा पीड्यमानश्छिन्नमलिनवासोभृच्च मनसो लाघवाद् ग्लानत्वाच्च न धर्माचरणं कर्त्तुं शक्नोति। मध्यकोटिस्थाएव जना गृहाश्रमे तिष्ठन्ति निकृष्टानां च पुत्रकलत्रादिभरणाक्षमत्वात्तैः कृतोऽपि गृहाश्रमोऽकृतइवैव जायते। जन्मान्तरीयप्रबलसंस्काराश्च नरा जन्मतएव विरक्ता बाल्याद् ब्रह्मचारिणो भवन्ति नच ते दोषदर्शिनो दारपरिग्रहमिच्छन्ति। नच ते शुक्लाम्बरधरत्वादिना शरीरपरिकर्मापेक्षन्ते। अत्र च सति शुक्लाम्बरधारणविधौ मलवद्वाससां प्रतिषेधे शुक्लान्यपि कानिचिन्मलिनवासांसि सम्भवन्ति कानिचिच्चाशुक्लान्यपि निर्मलानीति योज्यम् ॥ ३४—३५ ॥

भाषार्थः—धर्मानुकूल धन का संग्रह करने तथा खाने पचाने की (शक्तः) शक्ति होने पर (स्नातको विप्रः) गृहस्थ ब्राह्मण (कथंचन क्षुधा न सीदेत्) किसी प्रकार लोभ से वा आलस्य से भूंख करके पीडित न रहे अर्थात् इस प्रकार करने में अपना कल्याण वा धर्म न माने (च) और (विभवे सति) धनादि ऐश्वर्य के विद्यमान होने पर (जीर्णमलवद्वासा न भवेत्) फटे टूटे वा मलिन वस्त्र धारण न करे किन्तु (क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः) शिर के केश, नख और डाढ़ी आदि वालों को कट-

वा छटवा के अच्छे बनाये रक्खे अर्थात् जटाधारी न होवे (दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः) मन को वश में रखने वाला, निर्मल शुद्ध श्वेत वस्त्रधारी तथा बाहर भीतर से शुद्धि रखने वाला हो (आत्महितेषु च स्वाध्याये चैव नित्यं युक्तः स्यात्) आयुर्वेदादि ग्रन्थों में लिखे अनुसार आचार विचार रख के हलका थोड़ा पथ्य भोजन करनारूप अपना हित करने तथा वेद के पढ़ने पढ़ाने रूप अपने परमधर्म परमसुखदायी कर्म में नित्य ही लगा रहे ॥

भा०–"भूखे को कुछ भी नहीं सुहाता" इस जनश्रुति–कहावत के अनुसार भूख से पीडित हुआ तथा फटे वा मलिन वस्त्रों का धारण करने वाला मनुष्य मन की लघुता और ग्लानि होने से धर्म का सेवन नहीं कर सकता । मध्यम कोटि के मनुष्य ही अच्छे गृहाश्रमी होते हैं । और नीच कक्षा के लोग गृहस्थ होने पर भी स्त्री पुत्रादि के पालन पोषण वा धर्मकार्यों में असमर्थ होने से उन का गृहाश्रम करना न करने के समान ही हो जाता है । और जन्मान्तर के प्रबल शुद्ध संस्कारों वाले उत्तम कक्षा के लोग बाल्यावस्था से ब्रह्मचारी रहते जन्म ही से विरक्त होते हैं वे गृहाश्रम में अधिकतर दोष वा दुःख देखते शोचते हुए विवाह नहीं करते कोई भूल से करभी लेते हैं तो जन्म भर वहां फसे नहीं रहते । इसी कारण श्वेत वस्त्र धारण करने आदि द्वारा शरीर को अच्छा बनाकर रखने की इच्छा नहीं रखते उन का मुख परमार्थ की ओर फिरा होता है । यहां श्वेत वस्त्रधारण करने का विधान होने पर भी मलिन वस्त्रों का निषेध इस लिये किया है कि कोई श्वेत वस्त्र भी वस्तुतः मलिन होते वा हो सकते और कोई खाखी वा देखने में मलिन वस्त्र भी वस्तुतः निर्मल होते हैं इस से निर्मल का धारण करना विशेष धर्मानुकूल है ॥३४–३५ ॥

वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥३६॥

अ०–स्नातको विप्रो ब्राह्मणत्वस्य गृहाश्रमस्य चेमानि चिह्नानि सर्वदा स्वीकुर्यात्–वैणवीं वंशमयीं, नासिकादिजन्यमलशोधनाय सोदकं च कमण्डलुं, यज्ञोपवीतं यथाविहितं त्रिसूत्रकं, वेदं वेदपुस्तकं च रौक्मे स्वर्णमये कुण्डले च भैषज्याय शोभायै च धारयेत् ॥

भा०-अत्रान्ये वेदपदेन कुशमुष्टिधारणं विदधति। तच्च वेदमेव सदाभ्यस्येत्। सर्वान् परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनइत्यादिना विरुध्यते। वेदाभ्यासेन यादृशं ब्राह्मणत्वं रक्षयते पुष्यति वर्धते च नच कुशानां धारणेन तादृशं ब्राह्मणत्वं रक्षयते। वेषवाग्बुद्धिसारूप्याचरणं पूर्वमुक्तं तदेवात्र वर्णाश्रमचिह्नधारणेन पोष्यते सुवर्णमाग्नेयत्वात्कर्णयोर्धृतं सात्त्विकं शिरोदेशस्थसप्तस्रोतसां विशोधनं बुद्धेर्वैशारद्यहेतुकं रोगनाशहेतुकं च संपद्यते ॥ ३६ ॥

भाषार्थः–गृहस्थ ब्राह्मण गृहस्थाश्रम और ब्राह्मणपन के इन निम्नलिखित चिह्नों का धारण सदा स्वीकार करे–(वैणवीं यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम्) वांस की क सुन्दर छड़ी, नासिकादि के मल को समय २ पर शुद्ध करने के लिये जल से रे हुए पात्र को (यज्ञोपवीतं वेदं च) ग्रन्थों में लिखे अनुसार तीन सूत्रों वाले ज्ञोपवीत, वेद के पुस्तक और (रौक्मे शुभे च कुण्डले) सुवर्ण के अच्छे स्वच्छ र्शनीय दोनों कानों में दो कुण्डलों को रोग निवृत्ति और शोभा के लिये (धायेत्) धारण करे अनुकूल चिह्नों से धर्म में सहायता माने ॥

भा०–यहां अन्य टीकाकार वेदपद से झाड़ू के तुल्य वनाये कुशों का धारण बताते हैं सो यह कथन "तप करता हुआ ब्राह्मण वेद का ही सदा अभ्यास क- । तथा–अपने परम धर्म वेद के पढ़ने पढ़ाने में विघ्न करने वाले सब कामों ो अवश्य छोड़ देवे" इत्यादि मनु जी के कथनाशय से विरुद्ध पड़ता है। वेद े पढ़ने से ब्राह्मणपन की जैसी रक्षा, पुष्टि तथा वृद्धि होती है वैसी ब्राह्मणपन ी रक्षा कुशों के धारण से नहीं हो सकती इस कारण कुशों के धारण की अपेक्षा दि पुस्तक का सदा समीप रखना धर्म के लिये अत्यन्त उपयोगी है। वेष, वाणी ौर बुद्धि अपनी दशा वा अवस्था के अनुकूल रखना यह पूर्व कह चुके हैं उसी ा यहां वर्ण और आश्रम के चिह्नों का धारण कहके पुष्ट किया है। कानों आदि धारण किया सुवर्ण अग्नितत्त्व प्रधान तथा सत्त्वगुणी होने से शिर के सातों छिद्रों तथा पांच प्रकार की ज्ञानेन्द्रिय शक्तिरूप बुद्धि को निर्मल करता और ीतप्रधान कफादि उपद्रवों को शान्त रखता है ॥३६॥

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥

अ०-उद्यन्तमस्तं यान्तमुपसृष्टं छायाग्रस्तं घटादिस्थ वारिणि छायारूपेणावस्थितं मध्याह्नकालस्थं चादित्यं स कदाचन स्नातको विप्रो नेक्षेत ॥

भा० अत्रोद्यन्तमित्याद्यादित्यविशेषणमुपलक्षणा तेन सर्वदैव सूर्याद्यतितेजस्विनामवलोकनं तत्परतया नि यमाणां प्रतिषिद्धं बोध्यम् । नभोमण्डलस्थनक्षत्रोल्काप्र तादीनां प्रबलसजातीयाभिभूतानां दिवाऽदर्शनं सर्वशास्त्र कृदनुमतं प्रत्यक्षमेवोदाहरणम् । जातिश्छेदनलेन किमित्य दीनामयमेवाशयः । यथा समानेन सजातीयेन सर्वत्र सर्व स्योन्नतिस्तथैव प्रबलसजातीयेन सर्वस्य सर्वत्रावनतिर्लो कसिद्धा शास्त्रसिद्धा चेति मत्वैव-"समानव्यसनेषु मैत्री" इ त्यादयो जनश्रुतयः प्रवृत्ताः । "सूर्यं ते चक्षुर्गच्छतु । चक्षोः सूर्यो अजायत" इत्यादिषु वेदमन्त्रेषु तैजसकार्यकारणरूपे चक्षुःसूर्ययोः सजातीयत्वं स्फुटमेव प्रदर्शितम् । तथा वात्स्यायनेनापि "श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥ न्यायद० ३ । १ । २९" इत्यादिस्थल एतत्स्पष्टमुक्तम् । सति च सूर्यादिभिश्च क्षुषोः सजातीयत्वे प्रबलसजातीयसूर्यादितेजसा चाक्षुषं ते वधाहन्यतेऽभिभाव्यते च तस्माद्दर्शनं प्रतिषिद्धम् । यस्य फ दुःखावाप्तिः सएवाधर्मइत्यधर्मः सर्वत्रैव प्रतिषिध्यते । "व लातपः प्रेतधूमः" इति नीत्यादिवाक्यानामप्ययमेवाशयः

बालातपपदेन केचित्कन्याराशिस्थसूर्यावलोकनं प्रतिषिद्धं हानिकरं मन्यन्ते तच्च गगनमण्डलस्य तदानीमतिनिर्मलत्वाद्विशेषेण चक्षुषोर्व्याघातकं सौरं तेजइति सम्भवति। सामान्येन तु सर्वत्रैव प्रबलजातीयेन स्वजातीयं निर्बलं बाध्यतइति योज्यम्। उपसृष्टवारिस्थादिदर्शनप्रतिषेधेन सर्वत्रैव सूर्यस्य दर्शनं तारतम्येन हानिकरमिति सूचितं प्रकृतिवदनुकरणस्य प्रतिबिम्बस्यापि सत्त्वात् ॥ ३७ ॥

भाषार्थः– (नोद्यन्तं नास्तं यान्तम्) न उदय होते समय वा न छिपते समय (नोपसृष्टं न वारिस्थम्) न ग्रहण लगे न प्रतिविम्ब रूप से जल में दीखते (न नभसो मध्यं गतम्) और न आकाश मण्डल के वीच में आये मध्याह्नस्थ (आदित्यं कदाचनेक्षेत) सूर्य को कदापि गृहस्थ ब्राह्मणादि देखे ॥

भा०–उदयादि के समय का ग्रहण यहां उपलक्षणार्थ है । इस से सभी समय सूर्यादि अति तेजस्वी पदार्थों को विचारपूर्वक टकीलगा कर देखने का निषेध यहां किया गया जानो । किन्तु साधारण चलते फिरते दृष्टि पड़ने से कोई विशेष हानि वा दोष नहीं है । आकाश मण्डल में विद्यमान रहते हुए भी तारागण और उल्कापातादि जो दिन में नहीं दीखते किन्तु उन का तेज हत होजाता है इस का कारण सजातीय सूर्य के प्रवल तैजस प्रताप का उदय होना ही है । सो यह प्रवल से निर्वल सजातीय शक्ति के तिरोभूत हो जाने का सब शास्त्रों के अनुकूल प्रत्यक्ष दृष्टान्त वा उदाहरण है । " जाति हो तो अग्नि का क्या प्रयोजन ? " भर्तृहरि आदि के कहे इत्यादि वचनों का भी यही अभिप्राय है । जैसे तुल्य सजातीय से सर्वत्र सब की उन्नति होती है वैसे ही प्रवल सजातीय से सब की सर्वत्र अवनति वा हानि होती इस नियम को मान के ही "तुल्य व्यसन वालों में मेल मित्रता होती है" इत्यादि कहावतें चली हैं । " सूर्य को तेरा चक्षु प्राप्त हो " तथा "चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुआ" इत्यादि वेद के मन्त्रों में कार्य कारण रूप से तैजस चक्षु और सूर्य का सजातीय सम्बन्ध स्पष्ट दिखाया है । और यही वात न्यायद० के भाष्य में वात्स्यायन जी ने भी (श्रुतिप्रा०) इत्यादि सूत्रों पर स्पष्ट कही है । जब सूर्यादि के साथ चक्षुओं का सजातीयपन सिद्ध होने पर

प्रवल सजातीय सूर्य के तेज से चक्षु का तेज नष्ट होता वा दव जाता है। इसी से
उदयादि के समय सूर्य के देखने का निषेध किया गया है। जिस का फल
प्राप्ति है वही अधर्म है इस से जिस का निषेध किया वही सर्वत्र अधर्म है
(वालातपः०) इत्यादि नीति के वाक्यों का भी यही अभिप्राय है। यहां
लातप कहने से कोई लोग कन्याराशिस्थ क्वार के सूर्यावलोकन को हानि
रक निषिद्ध मानते हैं सो यह उस समय आकाश मण्डल के अति निर्मल
से सूर्य का तेज विशेष कर चक्षु के लिये हानिकारक होना सम्भव है पर
मान्य कर सर्वत्र ही प्रवल जातीय अपने निर्बल सजातीय को दवाता है
मानना चाहिये। ग्रहण पड़े हुए सूर्य और जलस्थ सूर्य के प्रतिविम्बादि को दे
के निषेध से सर्वत्र ही सूर्य का देखना न्यूनाधिक हानिकारक जताया है। वा
प्रतिविम्ब में भी उस के गुण अवश्य कुछ आते हैं जिस का वह प्रतिविम्ब है
है इसी कारण जैसे का तैसा ही प्रतिविम्ब पड़ता है ॥ ३७ ॥

न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति
न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥३८

अ०—वत्सतन्त्रीं वत्सबन्धनरज्जुं न लङ्घयेत्। मे
वर्षति न धावेत्पतनसम्भवात्। न चोदके स्वं रूपं स्वदे
स्य प्रतिबिम्बं निरीक्षेतेति धारणा धर्मविन्महर्षिभिः कृत
ऽनुभवा मर्यादा बोध्या ॥

भा०—वृद्धवृषभाद्यपेक्षया वत्सा आधिक्येनोद्विजन्त उत्था
धावन्ति च तेन पतनं सम्भवति। मलिनजले स्वस्य
तिबिम्बं मलिनं शुद्धे च जलगुणान्वितं कान्तितेजोही
मृतस्येव दृश्यते तद्दर्शनेन मनोलाघवजन्यशोकसम्भवादुत्त
हहानिः। यस्य यादृशोऽनिष्टः परिणामः स तादृशोऽध
र्मइति मत्वा तस्य तादृशएव प्रतिषेधः कृतो बोध्यः ॥३८

भावार्थः—(वत्सतन्त्रीं न लङ्घयेत्) बछरा जिस में बन्धा हो उस रस्
को नांघ के न निकले (नच वर्षति प्रधावेत्) मेह वर्षते में दौड़ कर न

उदके स्वं रूपं न च निरीक्षेतेति धारणा) और अपने शरीर की छाया को जल में विचार पूर्वक न देखे यह धर्मज्ञों की बांधी मर्यादा है ॥

भा०—बूढे बैल आदि की अपेक्षा बछरे अधिक चौंकते तथा उठ कर भागते हैं इस कारण रस्सी नांघ कर निकलने वाले का उलझ के गिर जाना सम्भव है। तथा मलिन जल में अपना मुख मलिन दीखेगा और शुद्ध जल में कान्ति और तेज रहित जल के गुण से युक्त मुर्दा कीसी छाया दीखती है उस को देखने से मन की लघुता द्वारा शोक हो कर उत्साह बिगडेगा। तथा छाया नाम प्रतिबिम्ब देखना निष्फल व्यर्थ भी है जिस का जैसा अनिष्ट परिणाम वा फल है उस को वैसा ही छोटा वा बड़ा अधर्म मानकर निषेध किया जानो ॥ ३८ ॥

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् ।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ३९

अ०—मृदं—खेटादिरूपामुच्चाम् । गां—गवादिपशून्, दैवतम्—यज्ञशालाम्—विप्रं—ब्राह्मणं मेधाविनम् । घृतं—मधु—घृतक्षौद्रादिपदार्थान् विक्रयाय समुदितान् बुद्धिवर्द्धकान्, चतुष्पथम्—चतुर्दिङ्मार्गं प्रधानान् हाटकादीन्, प्रज्ञातान् प्रसिद्धान् महत्परिमाणान् वटादिवनस्पतींश्च सर्वाण्येतानि प्रदक्षिणानि कुर्वीत स्वस्माद्दक्षिणभागे त्यक्त्वा वामप्रदेशेन निस्सरेत् । प्रदक्षिणानीति नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्यामिति नपुंसकत्वम् ॥

भा० खेटादिदक्षिणभागे श्मशानमलपातादिकं कुर्वन्तिस्म दक्षिणवाय्वागमासम्भवात् तस्मात्खेटादिकं दक्षिणं कृत्वा वामभागेन यायादिति । गवादीनां च प्राधान्यात्तत्साध्यस्वकार्यसाधनाय तथा निस्सरेद्येन दक्षिणः पाणिर्गवादिसन्निहितः स्यात्तेनैव यावन्ति यादृशानि च कार्या-

णि लोके निर्वर्त्तन्ते न तावन्ति तादृशानि च वामाङ्गेन ति। तस्मादेव विवाहकाले स्त्रियं वामाङ्गीं कुर्वन्त्यप्राधान्यप्रज्ञापनायेति। वामापेक्षया दक्षिणहस्तस्य शुद्धत्वात्प्रधानत्वाच्च प्रधानकोटिस्थगवादिसम्बद्धो व्यवहारो दक्षिणहस्तेनैव कार्यइति सदाचारो लोकेऽपि शास्त्रानुकूलतयैवाभिमतइति। नहि लोकेऽपि गुर्वादिसन्निधौ वामहस्तेन क्रियमाणो व्यवहारः केनापि क्वापि साधुर्मन्यते कथ्यते वा सदाचारस्य धर्मकोटौ परिगणनात्। ब्राह्मणानां च सन्निधौ० दक्षिणं पाणिमुद्धरेदित्यन्यत्रास्मिन्नेव ग्रन्थ उक्तं तस्मान्निर्विकल्पोऽयमेवाशयः ॥३९॥

भाषार्थः-(मृदं गां दैवतं विप्रम्) मट्टी का ऊंचा टीला वा खेरा, गौ आदि पशु, यज्ञशाला, विद्वान् ब्राह्मण (घृतं मधु चतुष्पथम्) घी और मधु-शहद आदि बुद्धिवर्द्धक विक्रयार्थ संचित पदार्थों की मण्डी, चारों दिशाओं की ओर जहां मार्ग हो ऐसी मुख्य दुकानें चौक वा बाजार और (प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन्) बड़े २ स्थूल प्रसिद्ध वट पीपल आदि वनस्पति इन सब को (प्रदक्षिणानि कुर्वीत) अपने से दाहिनी ओर छोड़ के इन के वाईं ओर से निकले। यहां (नपुंसकमनपुंसकेन सूत्र से प्रदक्षिण शब्द में नपुंसकलिङ्ग हुआ है ॥

भा०-खेरे आदि के दहिनी ओर श्मशान भूमि वा मल मूत्र का त्याग इस कारण पूर्व समय में किया करते थे कि दक्षिण का वायु प्रायः नहीं चलता जिस से ग्रामादि में दुर्गन्ध आसके। इस कारण खेरे आदि को दहिना छोड़ कर निकलना कहा है। और गौ आदि, पशु आदि में प्रधान हैं गौण की अपेक्षा प्रधान से अधिक काम निकलते ही हैं इस कारण उन प्रधान गौ आदि से सिद्ध होने योग्य अपने कार्यों की सिद्धि के लिये ऐसा निकले जिससे अपना दहिना हाथ गौ आदि की ओर रहे। उस दहिने हाथ से जैसे और जितने काम लोक में सिद्ध होते हैं वैसे और उतने काम वांये हाथ से नहीं होते। इसी से विवाह के समय अप्रधानता जताने के लिये अपनी अर्द्धाङ्गी स्त्री को वायीं ओर बैठाने की चाल चली है

और वायें हाथ की अपेक्षा दहिने हाथ के शुद्ध और प्रधान होने से प्रधान कक्षा के गौ आदि से सम्बन्ध रखने वाला व्यवहार दहिने हाथ से ही करना चाहिये यह सदाचार शास्त्र के अनुसार लोक में भी अभिमत है। इसी कारण अन्न खानादि उत्तम काम दहिने हाथ से और मल शोधनादि काम वायें हाथ से किये जाते हैं। और लोक में भी कोई पुरुष गुरु आदि मान्य पुरुषों के समीप वायें हाथ से व्यवहार करे तो उस को कोई कहीं भी अच्छा नहीं मानता वा कहता क्योंकि सदाचार धर्मकोटि में गिना गया है। और (ब्राह्मणानां०) इत्यादि श्लोक में मनु जी ने भी आगे कहा है कि ब्राह्मणादि के समीप दहिने हाथ से काम करे इस कारण यही सिद्धान्त निर्विकल्प ठीक है ॥ ३९ ॥

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्त्तवदर्शने ॥ समानशयने चापि न शयीत तया सह ॥ रजसाऽभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः। प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम्। प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥४०–४२॥

अ०–कामप्रबोधेन प्रमत्तोऽपि स्नातक आर्त्तवदर्शनकाले स्त्रियं नोपगच्छेत् संयोगं न कुर्यात्। तया सह समानशयन एकशय्यायामन्यदापि न शयीत। तथासति पृथक्शयनापेक्षया समानशयनेऽधिकसंयोगाद्देहात्मबलनाशेनाधर्मः सम्भवति। अत्रान्ये तयर्तुमत्यैव सह समानशयने न शयीतेति वदन्ति न तद्रोचते धर्ममर्मविदाम्। रजोदर्शनकाले सूक्ष्मशुद्धतत्त्वांशजन्यप्रज्ञातेजोबलचक्षुषां विरोधिना निस्सरता मलिनरजसा स्पष्टतयैव शुक्लवाससः शौ

वल्यं पङ्कादिनेव स्फुटतयैव व्याहन्यते तेन च धर्महानि रधर्मवृद्धिश्चोभे सम्भवतएव ॥

भा०-अत्र पूर्वपद्ये विधिद्वयमुत्तरो विधिशेषो वा । उत्तरपद्ये च निन्दार्थवादस्तृतीये प्रशंसार्थवादश्च स्फुटएव तस्माद्रजोदर्शनकाले स्नातकः सदैव स्त्रियं दिनत्रयावधि वर्जयेदित्युक्तस्याप्यनुवादः स्नातकव्रतबोधार्थः ॥ ४०-४२

भाषार्थः-(प्रमत्तोऽप्यार्त्तवदर्शने स्त्रियं नोपगच्छेत्) काम भोग की इच्छा से उत्तेजित होने से प्रमत्त व्याकुल पीडित हुआ भी गृहस्थ रजोधर्म होने के समय स्त्री के समीप कदापि न जावे अर्थात् उस से संयोग न करे (अपि च समानशयने तया सह न शयीत) और भी एकखटिया वा बिछौनापर अति निकट उस स्त्री के साथ नित्य वा अधिक काल तक अन्य समय भी न सोवे । क्योंकि स्त्री के साथ सोनेपर अलग सोने की अपेक्षा शरीर का अधिक संयोग रहने से काम भोग अधिक करेगा तो शारीरिक बल और बुद्धिबल का नाश होने से अधर्म होगा और धर्म की हानि होगी । यहां कोई लोग ऋतुमती स्त्री के ही पास सोने का निषेध मानते हैं तो अन्य समय स्त्री के साथ सोने का निषेध नहीं आता किन्तु अर्थापत्ति से विधान आ सकता है सो यह धर्मज्ञ लोगों को अच्छा नहीं लग सकता क्योंकि कामासक्त पुरुष धर्म से विमुख अवश्य रहेगा (हि रजसाऽभिप्लुतां नारीमुपगच्छतो नरस्य) जिस कारण मलिनरक्त निकलने से भीगी दूषित हुई स्त्री के पास जाने वाले पुरुष के (प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते) बुद्धि तेज, बल, चक्षु और आयु की हानि अवश्य होती बुद्धि आदि सब धीरे २ मलिन मन्द होते-घटते जाते हैं (तां रजसा समभिप्लुतां विवर्जयतस्तस्य) और उस रजस्वला को छोड़ने वाले गृहस्थ पुरुष के (प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते) बुद्धि, तेज, बल, चक्षु और आयु सदा बढ़ते हैं नष्ट नहीं होते । जैसे शुद्ध श्वेतवस्त्र कीचड़ वा कज्जल आदि लगने से दूषित कलङ्क युक्त हो जाता है वैसे रजस्वला होने के समय शुद्ध सूक्ष्म तत्त्वांश से बने बुद्धि आदि की निकलते हुए विरोधी मलिन रक्त से स्पष्ट ही अवश्य हानि होती है । इस से धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि दोनों होनी सम्भव ही हैं ॥

भा०—यहां पहिले श्लोक में दो विधिवाक्य हैं वा दूसरे विधान को पहिले विधिका शेष मानो। और द्वितीय श्लोक में निषिद्ध को करने में निन्दारूप अर्थवाद कहा तथा तीसरे में रजस्वला से सदा बचने वाले के लिये प्रशंसारूप अर्थवाद स्पष्ट ही कहा है। इस से रजस्वला होने के समय तीन दिन तक स्त्री का त्याग गृहस्थ सदैव अवश्य करे। यह अंश तृतीयाध्याय में कहा भी गया है तथापि गृहस्थ के लिये दृढ नियम जताने के अर्थ उसी का फिरसे अनुवाद किया गया जानो ॥ ४०—४२ ॥

नाश्नीयाद् भार्यया सार्द्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्। क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम्॥ नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे नचाभ्यक्तामनावृताम्। न पश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः॥४३। ४४॥

[उपेत्य स्नातको विद्वान्नेक्षेन्नग्नां परस्त्रियम्। सरहस्यं च संवादं परस्त्रीषु विवर्जयेत् ॥]

भ०—स्नातको भार्यया सार्द्धमेकपात्रे न भुञ्जीतैनामश्नतीं च नेक्षेत क्षुवतीं नासिकया शब्दं कुर्वाणां जृम्भमाणां यथासुखमासीनां च नेक्षेत। स्वके नेत्रेऽञ्जयन्तीं तैलादिनाऽभ्यक्तामनावृतां वस्त्रहीनां स्तनाद्यावरणरहितां तथाऽपत्यं प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमो नेक्षेत सर्वत्र सविचारदर्शनाभ्यासेन प्रीतिर्हीयते परोक्षवस्तुनि च स्वभावेनैव प्रीतेराधिक्यं जायते प्रीतिह्रासाद्गृहाश्रमसुखस्य सन्ततेश्च ध्रुवा क्षतिरतो दर्शनं प्रतिषिद्धम्। अत्रोपेत्येत्यादि पद्यं क्वचित्पुस्तकेषूपलभ्यते तच्चापूर्वं नास्त्यतः केनापि पश्चादेव प्रवेशितमित्यनुमीयते ॥

भा०-भार्यया सहैकपात्रे भोजनेनातिसंनिकर्षः सम्भवति तेनाकाले दिवापि कामासक्तिसम्भवः । अतिसन्निकर्षेण पुरुषे स्त्रीत्वं निर्बलत्वादिकमायाति तस्मात्सार्द्धभोजनोपलक्षणेन सर्वदैवाधिकसान्निध्यं प्रतिषिद्धं बोध्यम् भोजनादिकाले विकृतरूपदर्शनेन मनसि विकारो ग्लानि रुचिर्जायते तेन च धर्मकृत्येषु कश्चिद्विघ्नएव सम्भवति रुचिविघातादेवापत्यानामपि हानिः सम्भवति । तस्माद् दाऽसौ कृतपरिकर्मा प्रसन्नवदना च स्यात्तदैव विचारपुरस्सर पश्येत् । अविचारेणाकस्माद्दृष्टिपाते निवर्त्तिते च ना दोषः। तेजस्कामइति कथनेनार्थवादउक्तो विकृतरूपदर्शने तेजो हीयते। द्विजोत्तमइति कथनात्क्षत्रियो वैश्यो वा स्ना तकः पश्येदिति भ्रमो न कार्यो यतः क्षत्रियो वैश्योऽपि द्विजस्तयोरप्युत्तमो न पश्येद्यश्च न पश्यति सएवोत्तमो य नैवं कर्त्तुं शक्नोति स मध्यमो निकृष्टो वा भवति नोत्तम इति ॥ ४३ । ४४ ॥

भाषार्थः-(भार्यया सार्द्धं नाश्नीयात्) अपनी स्त्री के साथ एक पात्र भोजन न करे (एनामश्नतीं च नेक्षेत) और अपनी पत्नी को खाते समय विचार पूर्वक न देखे (क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम्) छींक ती, जम्भाई लेती और अपनी इच्छानुकूल बैठी हुई [जिस समय पति की ओर ध्यान न हो कि मुझ को कोई देखता है] को भी न देखे (ना यन्तीं स्वके नेत्रे) अपनी आंखों में अञ्जन सुरमा लगाती हुई को न देखे (न भ्यक्तामनावृताम्) तेल लगाती वा उवटन करती हुई जब छाती आदि श खुला हो तब भी न देखे और (तेजस्कामो द्विजोत्तमः) ब्रह्मर्षि वा राजर्षि पन के तेज, कान्ति, शोभा वा प्रतिष्ठा की चाहना रखता हुआ ब्राह्मणादि में उत्तम गृह पुरुष (प्रसवन्तीं च न पश्येत्) सन्तान उत्पन्न होते समय भी अपनी स्त्री को

देखे। सर्वत्र समक्ष पूर्वक देखने का निषेध इस लिये भी किया है कि जिस को वार २ अधिक देखा करते हैं उस में प्रीति नहीं रहती वा कम हो जाती है और परोक्ष अदृष्ट में स्वाभाविक ही प्रीति अधिक होती है । प्रीति घटने से गृहाश्रम का ठीक २ सुख नहीं मिलता और सन्तति भी अच्छी नहीं होती । इसी स्थान पर (उपेत्य०) इत्यादि एक श्लोक किन्हीं पुस्तकों में अधिक मिलता है वह अपूर्व न होने आदि के कारण पीछे मिलाया गया यही अनुमान होता है। उस का अर्थ यह है कि-"विद्वान् गृहस्थ समीप जाकर पराई स्त्री को नंगी न देखे और अन्य की स्त्री के साथ एकान्त में बात चीत भी न करे ॥"

भा०-पत्नी के साथ एक पात्र में भोजन करने पर अति समीप बैठना होने से कुसमय दिन में भी कामासक्ति होना सम्भव है और सर्वत्र सङ्ग के गुण दोष लगने के समान स्त्री के साथ अधिक समीपता रहने से निर्बलतादि रूप स्त्रीपन पुरुष में भी आजाता इसी से वैसे पुरुष लोक में मिहरा कहाते हैं इस से साथ भोजन करने के निषेध द्वारा सर्वदा ही स्त्री की अधिक संगति का निषेध किया जानो । और भोजनादि के समय स्त्री का विकृत रूप दीख पड़ने से मन उस की ओर से ग्लानि अरुचि होती जिस से धर्म कार्यों में विघ्न हो सकता है और रुचि वा प्रीति कम होने से सन्तान भी अच्छे नहीं होते वा हो ही बन्द हो जाते हैं इस कारण जब वह स्त्री शृङ्गार करके प्रसन्नमुखी हो और पति को अपना स्वरूप दिखाना चाहती हो तभी उस को विचार पूर्वक देखे । और भोजनादि करते समय विना विचारे अकस्मात् दीख पड़े तथा पुरुष जान कर दृष्टि को हटा लेवे तब यह दोष नहीं माना जायगा । यहां (तेजस्कामः) कहने से अर्थवाद कहा जानो कि भोजनादि के समय का विकारी अरोचक रूप देखने से पुरुष का तेज घटता है । यहां द्विजोत्तम कहने से ब्राह्मण ही लिया जाय, क्षत्रिय वैश्य गृहस्थों का ग्रहण न हो सो नहीं क्योंकि क्षत्रिय वैश्य भी द्विज कहाते हैं उन में भी उत्तम जन तेज चाहते हुए वैसी दशाओं में पत्नी को न देखें । जो नहीं देखता वा विषयासक्ति से अधिक बचता है वही उत्तम है और जो ऐसा नहीं कर सकता वही मध्यम वा निकृष्ट होता है किन्तु उत्तम नहीं कहा जाता ॥ ४३-४४ ॥

नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत् ।
न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥

न फालकृष्टे न जले न चित्यां नच पर्वते
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥
न ससत्वेषु गर्त्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः
न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥
वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः
नकदाचन कुर्वीत विरामूत्रस्य विसर्जनम् ॥
तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्टपत्रतृणादिना
नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः
मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ सन्ध्ययोश्च यथा दिवा
वा ॥ छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि
द्विजः । यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभये
च ॥ प्रत्यग्निं प्रति सूर्यं च प्रति सोमोद
द्विजान् । प्रति गां प्रति वातं च प्रज्ञा नष्य
ति मेहतः ॥ ४५–५२ ॥

अ०–स्नातको गृहस्थ एकं वस्त्रं परिधाय नान्नमद्यात्
नग्नः सन्स्नानं नाचरेत् । पथि, भस्मनि, गोव्रजे, फालकृष्टे क्षेत्रे, जले जलाशये, चित्यां श्मशानप्रदेश इष्टकाचितेन निर्मिते, पर्वतउच्चप्रदेशे खेटकाद्युपरि, जीर्णदेवायतने

रातनयज्ञशालायाम्, वल्मीके कृमिनिवासे प्राणिसहितग-र्त्तेषु, पर्वतमस्तके गिरिशिखरे, गच्छन्, स्थितो, नदीतीर-मासाद्य गत्वा च मूत्रं न कुर्वीत । वायुमग्निं विप्रं सूर्यं जलं तथैव गाश्च पश्यन्कदाचन विण्मूत्रस्य विसर्जनं न कुर्वीत । वाचं नियम्य प्रयतोऽनुच्छिष्टः संवीताङ्गो धृतवासा अवगुण्ठित आच्छादितशिराः पुरुषस्तिरस्कृत्य मलं मूत्रं च देहाद्दूरीभवेदखिलं निस्सरेदिति ग्लानिं कृत्वोपेक्षयोच्चरेत्त्यजेत् । तदनन्तरं शुष्ककाष्ठलोष्टपत्रतृणादिना गुदोपरि लग्नं मलं शोधयित्वोदकेन शोधयेदिति शेषः । अन्ये तु शुष्ककाष्ठादिना भूमिं तिरस्कृत्याच्छाद्योच्चरेदिति योजयन्ति । मूत्रोच्चारं समुत्सर्गं मलत्यागं च दिवोदङ्मुखो रात्रौ दक्षिणाभिमुखः सन्ध्ययोश्चोदङ्मुखएव कुर्यात् । मेघादिच्छायायां महान्धकारे प्राणबाधाभयप्रदेशेषु च रात्रावहनि वा द्विजो यथासुखमुखो मलमूत्रयोरुत्सर्गं कुर्यात् । अग्न्यादीन् दर्शनेन प्रतिकूलान्स्वविरोधिनः कृत्वा मेहतः पुरुषस्य प्रज्ञा प्रकृष्टज्ञानस्वरूपा बुद्धिर्नश्यति ॥

भा०—यथाऽतिशुभ्रे वाससि सूक्ष्ममपि मालिन्यं हानिकरं तद्रूपविघातकं च जायते । ये चातिशुभ्राणि वासांसि बिभ्रति ते किंचिदेव मलिनमपि वासो मलिनमिदमिति कृत्वा त्यजन्ति । अन्ये चाधिकमलिनवासोधरा नरास्तदेव किञ्चिन्मलिनं वासोऽतिशुद्धमिति कृत्वा बिभ्रति । तथैव ये जना ब्राह्मणादयो धर्मशास्त्रोक्तानि प्रधानानि शौचाहिंसादीन्यनुतिष्ठन्ति तत्र च ये लब्धास्पदा जायन्ते तएव सूक्ष्माधर्म-

णापि जायमानां सूक्ष्मामपि स्वस्य महतीं क्षतिमनुभवि शक्नुवन्ति। सर्वथा सुरभियुतप्रदेशे ये सर्वदा निवसन्ति तै सूक्ष्मोऽप्यनिष्टो गन्धो विशिष्टः प्रतिकूलः प्रतीयते। पुर काले ये शुद्धतरा ब्रह्मर्षयो राजर्षयश्च धर्ममेव सर्वोत्तमं म सेवितवन्तस्ते यथा धर्मकृत्यानां मर्म ज्ञातवन्तो न त तिष्ठन्तो ये मूत्रयन्ति तद्इदानीन्तना जनाः स्वप्नेऽपि ज्ञा मर्हन्ति। एकवाससा भोजनेन वासोद्वयापेक्षया स्वस्य ह निस्तेनैव प्रतीयते। सर्वत्रैव यत्कार्यं यथा कर्त्तव्यत्वेन वि धीयते ततो भिन्नप्रकारेण क्रियमाणं न तादृशं सफलं भ वति। यो नग्नो स्नातुमीहते सइतस्ततो विकल्पेन पश्यन्स ङ्कं स्नाति न कोऽपि मां पश्येदिति। अशङ्कितेन यादृशं का र्यं कर्त्तुं शक्यते न तादृशं शङ्कितेनेति। पथ्यादिषु मूत्र करणेनान्यपान्थादीनामपि निकृष्टगन्धेन दुःखं जायते। ए स्वस्यान्यस्य वा मूत्रादिकरणेन यत्र यत्र कापि हानिर्भ तत्र तत्र न कार्यमिति पथ्यादीन्युपलक्षणार्थानि पदानि बो ध्यानि। एकदा सहैव क्रियमाणं कार्यद्वयं सम्यक्तया नैव कमपि तयोर्निष्पद्यते यस्माद्वाय्वादिकान् पश्यन्यो मूत्र रीषोत्सर्गं करोति तस्य पादवस्त्रादिषु मूत्रपतनं सम्भवा मलं च सर्वं न निस्सरति तस्मात्तदानीं न केनापीन्द्रिये किमपि दर्शनादि कार्यम्। प्रधानतेजस्विप्रशस्यपदार्था अ शुचिकालेऽपानप्रवृत्तौ दृश्यमानाः स्वदेहस्थवाय्वादितत्त्व प्रकोपनेन प्रतिकूलाः सम्पद्यन्ते। यथाऽन्यविद्यावतां जनेन स्वदेहस्यापि विद्योन्नीयते। अन्यब्राह्मणत्वविशिष्टा

पूजनेन स्वदेहान्तःकरणस्थमपि ब्राह्मणत्वमुन्नतं भवति। एवं च यादृश्यां दशायामवस्थितः पुरुषो यादृशेन भावेन यस्य सङ्गं करोति तादृशएव स्वदेहस्थो भाव उन्नीयते यथा चौरस्य सङ्गेन प्रशंसया च स्वान्तःकरणस्थं स्तेयमुन्नतं भवति । निकृष्टदशायामवस्थितेन च केनापि कदापि ब्रह्मपूजनादि नैव तथा कर्त्तुं शक्यते यथा कृतशौचदशायामिति । तथैवात्र मूत्रपुरीषोत्सर्गकालेऽशुचिदशायामवस्थितेन पुरुषेण दर्शनादिनोपात्ता वाय्वादयः स्वदेहस्थवाय्वादिकार्यमनआदीनां प्रतिकूलाः सन्तो प्रज्ञां प्रकृष्टां विचारशक्तिं नाशयन्ति । मूत्राय पथ्यादिभ्योऽन्यप्रदेशे स्थानमनुपलभमानः कदाचिद्यः पथ्यादिषु मूत्रादिकं करोति न तस्य तादृशः कोपि दोषो यादृशः प्रायेण तत्र २ तत्कुर्वाणस्य सम्भवति। सर्वत्रैव विधौ प्रतिषेधे च मात्राबोधस्तत्त्वबोधहेतुरस्ति । यथा भक्षितेनान्नेन क्षुन्निवर्त्तते । अत्र कीदृशेन कियतान्नेन कीदृशबुभुक्षितस्य कियती क्षुन्निवर्त्ततइत्यादिरूपो विचारः कर्त्तव्यो भवत्येवमत्रापि पथ्यादिषु कीदृशमूत्रादिकरणेन कस्य कदा कीदृशो दोषइति विचार्यम् ॥ ४५–५२ ॥

भाषार्थः–ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थ हुआ पुरुष (एकवासा अन्नं नाद्यात्) केवल एक धोती ही पहन के अन्न न खावे किन्तु द्वितीय वस्त्र अंगोछा साथ रक्खे (नग्नः स्नानं नाचरेत्) नङ्गा हो कर स्नान न करे किन्तु धोती वा कोपीन पहिने ही स्नान करे (पथि मूत्रं न कुर्वीत) मार्ग में प्रस्राव–पेशाव न करे (न भस्मनि न गोव्रजे) न राख में न गौओं के रहने की गोशाला में (न फालकृष्टे न जले) न हल से जोते खेत में न जलाशय में (न चित्यां नच पर्वते) न मुर्दा जलाने नाम अन्त्येष्टि करने के लिये ईंटों से चिन कर बनायी मरघट भूमि की वेदि-

में न ऊंचे खेरे आदि की टुकी पर चढ़ के (न जीर्णदेवायतने) न पुरानी टूटी फूटी यज्ञशाला में (न वल्मीके कदाचन) न कदापि कीड़ों के निवास के स्थान बिल में (न ससत्त्वेषु गर्त्तेषु) न प्राणी जिन में विद्यमान हों ऐसे गढ़ों में (न गच्छन्नापि च स्थितः) न चलता हुआ न खड़े हो कर (न नदीतीरमासाद्य) न नदी के किनारे पर जाकर (न च पर्वतमस्तके) और न पर्वत के शिखर पर चढ़ के कभी सूत्र करे (वाय्वग्निविप्रमादित्यमपस्तथैव गाः पश्यन्) वायु अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल और गौओं को देखता हुआ (कदाचन विण्मूत्रस्य विसर्गं न कुर्वीत) कदापि विष्ठा वा मूत्र का त्याग न करे किन्तु (वाचं नियम्य प्रयतः संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः) भोजनादि करने पश्चात् मुखादि धोया हो किन्तु उच्छिष्ट न हो, कोई वस्त्र पहने वा ओढ़े हो शिर भी किसी वस्त्र से ढंपा हो ऐसी दशा में वाणी से मौन होकर (तिरस्कृत्योच्चरेत्) मल सूत्र मेरे देह से दूर हो जाय सब निकल जाय कुछ न रहे इत्यादि प्रकार मलिनता से उपेक्षा वा ग्लानि करता हुआ मल का त्याग करे तत्पश्चात् (काष्ठलोष्टपत्रतृणादिना) सूखे काष्ठ मट्टी के ढेले, पत्ते और सूखे तृणादि से गुदा के ऊपर लगे मल को शुद्ध कर (दूर करके) पीछे जल और मट्टी से (अ० ५ श्लोक १३६) में कहे अनुसार शुद्धि करे [आवद्स्त] [अन्य टीकाकार इस का ऐसा अर्थ करते हैं कि सूखे काष्ठादि से भूमि को तिरस्कृत्य नाम ढांप के मलत्याग करे। और कुल्लूक भट्ट ने इसी अंश की पुष्टि के लिये वायुपुराण का (शुष्कैस्तृणैर्वा० अन्तर्धाय वसुन्धराम्) इत्यादि श्लोक भी लिखा है। सो किसी काष्ठादि के ऊपर का मल शीघ्र सूख जाता इस से दुर्गन्ध बहुत काल नहीं ठहरता और मल से दब जाने आदि द्वारा पृथिवी के प्राणियों को दुःख भी कम पहुंचना सम्भव है इत्यादि कारण यह भी अर्थ अनुचित नहीं जान पड़ता] (दिवोदङ्मुखो रात्रौ दक्षिणाभिमुखः) दिन में उत्तर को और रात्रि में दक्षिण को मुख करके तथा (सन्ध्ययोश्च यथादिवा) दोनों सन्ध्याओं के समय सायं प्रातः [उषःकाल के आरम्भ से सूर्योदय होने तक प्रातः सन्ध्या काल और सूर्यास्त से तारे सब दीख पड़ने तक सायं सन्ध्या का समय कहा जाता है] दिन के तुल्य उत्तर को मुख करके (मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं कुर्यात्) मल मूत्र का त्याग किया करे (छायायामन्धकारे वा प्राणबाधाभयेषु च रात्रावहनि वा) भित्ति वा मेघादि की छाया में वा आंधी मेघादि द्वारा हुए राति के वा दिन में होने वालेअधिक अन्धकार में तथा शरीर पर किसी प्रकार की आपत्ति के आजाने का भय हो ऐसे

प्रदेश में (द्विजो यथासुखमुखः कुर्यात्) ब्राह्मणादि गृहस्थ पुरुष चाहे जिस ओर मुख कर के मल मूत्र का त्याग करे (प्रत्यग्निं प्रति सूर्यं च) अग्नि, सूर्य (प्रति सोमोदकद्विजान्) चन्द्रमा जल और ब्राह्मण (प्रति गां प्रति वातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः) गौ और वायु इन सब को देखते हुए प्रस्राव करने वाले की उत्तम शुद्ध बुद्धि नष्ट मलिन वा मन्द हो जाती है ॥

भा०—जैसे अत्यन्त श्वेत वस्त्र में थोड़ी भी मलिनता उस के रूप को बिगाड़ने वाली हानिकारक होती अर्थात् वैसे ही श्वेत अन्य वस्त्रों के सामने वह अधिक मलिन प्रतीत होने लगता है इसी कारण जो लोग अतिनिर्मल वस्त्रों को पहनते हैं वे किंचित् मलिन वस्त्र को भी अधिक मैला मान कर त्याग देते हैं। और अन्य लोग जो अधिक मलिन वस्त्रों को ही प्रायः धारण करने वाले उसी वा वैसे ही किंचित् मलिन वस्त्र को अपने अन्य अधिक मलिन वस्त्रों की अपेक्षा अति शुद्ध मानते हुए धारण करते हैं। वैसे ही जो ब्राह्मणादि मनुष्य धर्मशास्त्रों में कहे अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि धर्म के मुख्य २ अंशों का ठीक यथार्थ सेवन करते और धर्म के सेवन से ही जो प्रतिष्ठा को प्राप्त—नामी होजाते वेही अधर्म के सूक्ष्म अंशों के सेवने [एक वस्त्र से भोजन करना, मार्ग में वा खड़े हो कर प्रस्राव वा नंगे हो स्नान करना आदि] से होने वाली अपनी थोड़ी लेशमात्र हानि को भी बड़ी जानते मानते हैं। तथा जो लोग सर्वथा सुगन्ध युक्त बगीचे आदि स्थान में रहते हैं उन्हीं को थोड़ा भी दुर्गन्ध अधिक प्रतिकूल जान पड़ता है। पूर्वकाल में जो राजर्षि वा ब्रह्मर्षि लोग धर्म को ही सब से उत्तम मान कर सेवन करते थे वे लोग धर्मसम्बन्धी कामों का जैसा मर्म जानते वा जान पाते थे वैसा जो खड़े हो कर प्रस्राव करते वा वैसा करना अच्छा मानते हैं ऐसे वर्त्तमान समय के लोग स्वप्न में भी नहीं जान सकते। एक वस्त्र से भोजन करने वाला शुद्धि ठीक नहीं कर सकता, हाथ मुख धोने पोंछने आदि के लिये भोजन के समय द्वितीय वस्त्र अंगोछा का अधिक प्रयोजन पड़ता है। अंगोच्छा सहित भोजन करने की अपेक्षा एक धोती ही धारण कर भोजन करने वाले को स्वयमेव कुछ अपनी हानि वा दिक्कत प्रतीत हो सकती है। सर्वत्र जो काम जिस प्रकार करने को कहा गया है उस से भिन्न प्रकार किया हुआ वैसा अच्छा सुफल नहीं होता। जो पुरुष नंगा न्हाता है वह इधर उधर शङ्का के साथ देखता हुआ स्नान करता है कि मुझ को कोई देख न लेवे। और निःशङ्क होकर किया काम

जैसा अच्छा होता वैसा शङ्का के साथ किया कदापि नहीं होता । तथा आ
उपस्थेन्द्रिय को देखने छूने आदि से कामासक्ति बढ़ती है और कामी पुरुष
मीत्मा हो नहीं सकता इस कारण नग्न होकर स्नान करने का निषेध किया
मार्गादि में पेशाब करने से मार्गादि में चलने वा रहने वाले अन्य प्राणियों
दुर्गन्धादि के द्वारा दुःख होता है। इत्यादि कारण से ही राजमार्ग [सड़क आदि
प्रस्रावादि का सदा ही निषेध है। इसी प्रकार जहां २ प्रस्राव आदि करने से आप
वा अन्य किसी की हानि होती वहां २ नहीं करना चाहिये। इस अभिप्राय की सि
के लिये मार्गादि उपलक्षणार्थ कहे हैं किन्तु केवल गिनाये हुये स्थानों में ही मल
करने का निषेध अभीष्ट नहीं है इसी लिये कहीं कभी कोई ऐसा नाम मात्र
मार्गादि भी हो सकता है जहां करने से किसी की कुछ हानि न हो वा इतनी
हो जिस को हानि ही न मान सकें तो वहां के लिये निषेध नहीं होगा। तथा
एक समय में दो काम किये जांय तो दोनों में एक भी अच्छा नहीं होता। इस
लिये वायु आदि को देखता हुआ जो पुरुष मल मूत्र का त्याग करता है उस
पगों वा वस्त्रादि में मलमूत्र का लगना वा गिरना सम्भव है और अन्यत्र ध्यान
होने से मल भी ठीक २ नहीं निकलता । इस कारण उस समय किसी इन्द्रिय
से कोई भी काम अन्यत्र मन लगाके नहीं करना चाहिये । दर्शन कहना उदा
हरण के लिये उपलक्षणार्थ है । और वायु आदि को देखने [वृक्षों के पत्ते आदि
के हिलने को देखना वायु का देखना है वैसे वायु रूप रहित है] के निषेध का मु
सूक्ष्म आशय तो यह है कि अपान के कार्य मलमूत्रादि के त्याग समय प्रधा
तेजस्वी प्रशंसा के योग्य वायु अग्नि आदि पदार्थ, किसी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण कि
हुए अपने शरीरस्थ वायु आदि के शोधक सहायक जीवनोपयोगी न हो
शरीरस्थ वायु आदि को कुपित करके प्रतिकूल हो जाते हैं । जैसे अन्य विद्व
वानों का विद्वत्ता के कारण पूजन सत्कार करने से अपना शरीरस्थ विद्यांश
न्नत होता, शुद्ध श्रेष्ठ ब्राह्मणपन से युक्त ब्राह्मणों की सेवा पूजा करने से पूजा
करने वाले के शरीरस्थ ब्राह्मणपन की उन्नति होती है। इसी प्रकार जिस द
में विद्यमान पुरुष जैसी भावना से जिस का सङ्ग करता है वैसा ही अपने शरी
का भाव भी उन्नत होता। जैसे चोर का सङ्ग और उस की प्रशंसा करने से अ
पने शरीर में चोरी करने का भाव जागता वा उभड़ता है। और निकृष्ट वा म
लिन दशा में अवस्थित कोई पुरुष ब्रह्म पूजनादि श्रेष्ठ काम को वैसा अच्छा
नहीं कर सकता जैसा अच्छी उत्तम शुद्ध दशा में विद्यमान पुरुष ईश्वरभक्ति आ

कर सकता है। वैसे ही यहां मल मूत्र त्यागने के समय अशुद्ध दशा में अ-स्थित पुरुष ने देखने आदि द्वारा ग्रहण किये वायु आदि, वायु आदि के कार्य पने देहस्थ मन आदि के प्रति कूल हुए प्रकृष्ट विचार शक्तिरूप प्रज्ञा को नष्ट रते हैं। प्रस्राव करने के लिये मार्गादि से अन्यत्र स्थान न मिलने पर यदि कभी शक्त दशा में मार्गादि के ऊपर जो मूत्रादि कर देवे उस को वैसा अधिक दोष हीं लगता जैसा कि वार २ प्रायः मार्गादि में मूत्रादि करने वाले को हो सकता । और विधि वा निषेध में सर्वत्र ही मात्रा का बोध होना तत्त्व समझने का हेतु होता है। जैसे अन्न खाने से भूख शान्त होती है इस से भूखा मनुष्य अन्न खावे इस विधि वाक्य में—कैसे और कितने अन्न से कैसे भूखे पुरुष की कैसी और कितनी क्षुधा निवृत्त हो सकती है? अन्न के एक दाने का भी खाना, खाने में लिया जा- यगा। तो तब तीन दिन के भूखे ग्रामीण मनुष्य की क्षुधा क्या कुछ भी शान्त हो सकती है? कदापि नहीं। पर चींटी के लिये वह एक दाने का खाना भी सार्थक है। इत्यादि विचार जैसे कर्त्तव्य होता वैसे यहां भी मार्गादि में कब किस प्रकार कैसा मूत्रादि त्यागने से किस को कब कैसा दोष लग सकता है यह सब विचारणीय अवश्य होता है इसी रीति से विचार करने को मीमांसा कहते वा मानते हैं ॥ ४५—५२ ॥

नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्।
नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ नच पादौ प्रतापयेत् ५३

भा०—मुखेन साक्षादग्निं नोपधमेदपि तु व्यजनन-लिकादिसाधनेनोपधमानं वरम्। नग्नां स्वस्य परस्य वा स्त्रियं नेक्षेत। मैथुनादन्यत्रेत्यन्य आहुर्नादो रोचतेऽस्माकम्। नग्नेक्षणं सर्वदैव कामासक्तिवर्धकं कामासक्तिश्च धर्मविरो-धिनी सिद्धैव तस्मात्प्रयोजनाभावाद्रतिकालेऽपि नग्नाया ईक्षणं प्रतिषिद्धमेवेति धर्म्यः परामर्शः। अग्नावमेध्यं न प्रक्षिपेद्दुर्गन्धोत्थानभयात्। नच साक्षादव्यवहितौ पादौ प्रतापयेत् ॥

भा०–व्यजनादिनाऽग्नेरुपधमानं सवसनायाः स्वस्त्रियाः ईक्षणममेध्यं विहाय सात्त्विकमेध्यवस्तूनां चाग्नौ प्रक्षेपणं वरं स्वस्यान्यस्य च सुखकरमिति। सर्वदेहापेक्षया निकृष्टकारणजन्यत्वात्पादावेव निकृष्टौ तन्मार्गेण प्रविष्टोऽग्निः पादादिस्थनिकृष्टांशसहितः शिरोऽवधि गच्छति। तेन शिरःस्थं विचारशक्त्यनुग्राहकं शुद्धं तत्त्वं दूषितं जायते। अतस्तमेन निकृष्टस्य संयोगः सर्वदा सर्वथैव सर्वत्र प्रतिकूलफलजनकः सम्भवतीति सिद्धमेव ॥ ५३ ॥

भावार्थः–(मुखेनाग्निं नोपधमेत्) मुख से अग्नि को न धोंके वा फूंके। पंखा वा पीतल आदि की बनी नली आदि के द्वारा मुख से भी फूंकना अ... है (नग्नां स्त्रियं च नेक्षेत) अपनी वा अन्य की नंगी स्त्री को न देखे [... टीकाकार—मैथुन से भिन्न समय में नंगी स्त्री को न देखे ऐसा कहते हैं सो हम को अच्छा नहीं लगता क्योंकि नंगी का देखना सदा ही कामासक्ति का बढ़ाने वाला है और कामासक्ति की वृद्धि धर्म की विरोधिनी सिद्ध ही है इस ... रण प्रयोजन न होने से रतिकाल में भी नंगी स्त्री का देखना निषिद्ध है यही धर्मानुकूल सम्मति जानो। और सूर्य दीपकादि के प्रकाश में भी स्त्री से संयोग करना प्राणों के लिये हानिकारक प्रश्नोपनिषद् में स्पष्ट लिखा गया है इस से अन्धकार में नङ्गी स्त्री के देखने का अवसर भी शास्त्रानुकूलाचरण करने वाले को मि... कम सम्भव है] (अग्नावमेध्यं न प्रक्षिपेत्) दुर्गन्ध उठने के भय से अग्नि में अ... वस्तु न डाले (च) और (न च पादौ प्रतापयेत्) अग्नि में पगों को साक्षात् ... कर न तपावे ॥

भा०–पंखादि से अग्नि का धोंकना, अच्छे वस्त्र पहिने हुई अपनी स्त्री को स्त्री बुद्धि से देखना, अशुद्ध को छोड़ शुद्ध सुगन्धयुक्त सत्त्वगुणी पदार्थों का अग्नि में छोड़ना अपने तथा अन्य के लिये अच्छा सुखकारी है। सब शरीर की अपेक्षा पिता पादादि सम्बन्धी शुक्र शोणित निकृष्ट कारण से उत्पन्न होने के कारण ही प्रत्येक शरीर में नीच हैं। उन पगों द्वारा शरीर में प्रविष्ट हुआ अग्नि पादादि के निकृष्टांशों को साथ लेता हुआ नाड़ियों के द्वारा शिर तक पहुंचता

तिस् से शिर की विचारशक्ति का सहायक शुद्ध तत्त्व दूषित होता। अर्थात् उत्तम के साथ निकृष्ट का मेल सब काल में सभी प्रकार से प्रतिकूल फल का उत्पादक होता यह सिद्ध ही है इसी कारण दुष्ट संग बुरा जानो ॥ ५३ ॥

अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत्।
नचैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधमाचरेत् ॥५४॥

अ०—खट्वादेरधस्तादग्निं हसन्तीस्थं नोपदध्यान्नचैनमग्निमभिलङ्घयेदुल्लङ्घ्य निस्सरेत् पादतः पादेन संचितं पादप्रदेश एनं वा नच कुर्याच्छयनकाले पादप्रदेशे निधाय न शयीत। नाप्यग्निना कस्यापि जन्तोरग्नेरेव वा प्राणाबाधमाचरेत् प्राणानां समन्ताद्बाधं हिंसनं नाचरेत् ॥

भा०—बाह्योऽग्निराभ्यन्तरस्य जीवनरूपस्याग्नेः सहायकस्तस्य च प्रधानो भागः शिरस्यवस्थितः। अतएव मुखेन शिरसा चाग्नेः कार्यकारणरूपेण सम्बन्धो वेदे स्फुटएव प्रदर्शितः। तस्माच्छुद्धेनाग्निना शीताधिक्ये शिर उरःस्थलं वा प्रतपेत्। साक्षान्नाभितः पादावधि प्रदेशोऽग्निना यदि ताप्यते तदा कट्यादिस्थं सोमादितत्त्वं कुप्यति तेन बुद्धेरनवस्थितत्या मनसो व्यग्रतया च धर्मकृत्येषु विघ्नो जायतइति कृत्वा प्रतिषिद्धं सर्वमेतदिति ॥ ५४ ॥

भाषार्थः—(अधस्तान्नोपदध्याच्च) खट्वादि के नीचे अंगीठी आदि में अग्नि को समीप न धरे [नीचे से आग लग जाने का भी भय है] (नचैनमभिलङ्घयेत्) और न इस अग्नि को लाङ्घ कर निकले (नचैनं पादतः कुर्यात्) तथा न इस अग्नि को पग से टाले इकट्ठा करे वा सोते समय न पगों के नीचे धरे (न प्राणाबाधमाचरेत्) और अग्नि से किसी जन्तु का भी प्राण बध कभी न करे वा अग्नि को रगड़ के अथवा जल के द्वारा न बुनावे ॥

भा०-शरीर के भीतर जीवनरूप अग्नि का बाहरी अग्नि सहायक ! का पोषक है। और उस जीवनाग्नि का प्रधान भाग शिर में रहता है मुख वा शिर के साथ अग्नि का कार्य कारण सम्बन्ध (अग्निं यश्चक्रुः इत्यादि रूप से वेद में स्पष्ट दिखाया है। इस से शीत की अधिकता के समय अग्नि से शिर वा उरःस्थल को तपाना अच्छा है [इसी से (तनूपाअग्ने इत्यादि मन्त्रों से शिर वा छाती वा कण्ठ को सेंकने का लेख भी मिलता है। पग सेकने का कहीं नहीं] नाभि से पगों तक का शरीर यदि साक्षात् से तपाया जाय तब कटि आदि स्थानों में रहने वाला सोमादि तत्त्व होता जिस से बुद्धि की अनवस्थिति और मन की व्यग्रता होने से धर्मकार्य विघ्न होना सम्भव है इस कारण यह सब निषेध किया जाते ॥ ५४ ॥

नाश्नीयात्सन्धिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशे
न चैव प्रलिखेद् भूमिं नात्मनोपहरेत्स्रजम्

अ०-सन्धिवेलायां नाश्नीयादन्नं, न पन्थानं गच्छे न संविशेत्-शयीत मैथुनं वा न कुर्यात्। तथा भूमिं प्रलिखेन्नाप्यात्मनः स्वस्य धृतां स्रजं पुष्पमालां तदा स्वयमेवापहरेत् ॥

भा०-सन्ध्याकाले सदैव नियमेन ऋषियज्ञं देवय च कुर्यादिति बहुत्र विधीयते। भोजनादिलग्नेन च कर्त्तुं शक्यं तदिति कृत्वा भोजनादिप्रतिषेधः। भूमिलेखनमं दापि त्याज्यं तदानीं तु विशेषेण। संध्याकाले चेतःप्रसादा धृतायाः स्रजउत्तारणं धारणापेक्षया न वरमिति ध्येयम्

भाषार्थः-(सन्धिवेलायाम्) सायंप्रातः संध्याकाल में भोजन न करे (गच्छेन्नापि संविशेत्) तथा संध्या समय न मार्ग में कहीं को चले न मैथुन न सोवे (न चैव प्रलिखेद् भूमिम्) न सन्ध्या समय वा अन्य काल में भी हाथ से भूमि को खोदे और (आत्मनः स्रजं नापहरेत्) पहनी हुई फूलों की माला को सन्ध्या समय स्वयं न उतारे ॥

भा०—सदैव नियम से सन्ध्या काल में ऋषियज्ञ—वेद मन्त्रों का जप पाठ और देवयज्ञ नाम होम करे ऐसा विधान अनेक स्थलों में किया गया है। और भोजनादि काम में लगा हुआ ऋषियज्ञादि कदापि नहीं कर सकता इस कारण सन्ध्यासमय में भोजनादि का निषेध है। भूमि खोदना सभी समय में त्याज्य है परन्तु सन्ध्यासमय में विशेष कर त्याज्य जानो। सन्ध्या के समय चित्त की प्रसन्नता के लिये धारण की हुई फूलों की माला को उतार डालने की अपेक्षा धारण किये रहना अच्छा है ॥ ५५ ॥

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणिवा॥५६

अ०—मूत्रं पुरीषं ष्ठीवनं वेति समुच्चयार्थेन गण्डूषादिकमन्यदमेध्यलिप्तं विष्ठादिलिप्तं काष्ठादिकं रुधिरं विषाणि विषवस्तूनि चाप्सु जले न कदापि समुत्सृजेत्प्रक्षिपेत् ॥

भा०—षट्चत्वारिंशत्तमपद्येन कृतोऽपि जले मूत्रप्रतिषेधो विशेषार्थः पुनरत्रोक्तः। जलं द्वितीयकक्षायां सर्वप्राणिवर्गस्य पानादिना जीवनहेतु तस्य विकारसम्पादनेन स्वस्यान्यस्य चापकरणादधर्मः संचीयतइति कृत्वा प्रतिषेधः कृतः ॥ ५६ ॥

भाषार्थः—(मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा) मूत्र, विष्ठा, थूक—खकार तथा कुल्ला आदि (अमेध्यलिप्तमन्यद्वा) विष्ठादि लगा अन्य काष्ठादि तथा (लोहितं वा विषाणि वा) लोहू रुधिर—और विषयुक्त वस्तुओं को (अप्सु न समुत्सृजेत्) जलों में नाम जलाशयों में न डाले ॥

भा०—छयालीशवें श्लोक से जल में प्रस्राव करने का निषेध किया हुआ भी विशेष आवश्यकता दिखाने के लिये यहां पुनर्वार कहा गया है। अर्थात् मार्गादि में प्रस्रावादि करने की अपेक्षा जल में करना बहुत ही बुरा है क्योंकि वायु से नीचे द्वितीय कक्षा में पीने आदि द्वारा जल सब प्राणिमात्र के जीवन का हेतु है उस को बिगाड़ने द्वारा अपने तथा अन्यों के जीवन में बाधा पहुंचने से अधिक

अधर्म का संचय होता है इस कारण जलाशयों में निकृष्ट मूत्रादि डालने
विशेष कर निषेध है ॥ ५६ ॥

नैकः सुप्याच्छून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत्।
नोदक्ययाभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्नचावृतः ॥५

[एकः स्वादु न भुञ्जीत स्वार्थमेको न चिन्तयेत्।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥]

अ०-शून्ये गृह एक एकाकी न सुप्यात्। श्रेयांसं स्व
तः श्रेष्ठं शयानं कमपि न प्रबोधयेत्। उदक्यया रजस्व
लया नाभिभाषेत। अवृतो यजमानेनानाहूतोऽस्वीकृतो
यज्ञं न गच्छेत् ॥

भा०-यत्र गृहे प्रतिदिनं बहुकालान्न कोऽपि वसति त
त्रान्यसत्त्वैर्विघ्नानि भयं च सम्भवति। सति च सहा
विघ्नवारणमाधिक्येन सम्भवम्। यत्र च प्रायेण वसन्ति
तत्र कदाचिदेकोऽपि सुप्यात्तदा नास्ति भयम्। शयानं न
प्रबोधयेदिति पाठान्तरम्। श्रेष्ठांश्च स्वप्नादन्यत्रापि न प्र
बोधयेदुपदेशेन नैव चेतयेत्। ते च विशिष्टनिद्रालस्यादित
स्वयमेव प्रबुद्धाः सन्तएव श्रेष्ठत्वमाप्नुवन्ति तस्मात्तत्प्रबो
धनं कोपाय सम्भवति। रजस्वलया सार्द्धं भाषणेनापि का
मोद्दीपनं सङ्गजन्यमालिन्यागमश्च शङ्क्यते तदभावे प्रयो
जनाधिक्ये च भाषणमप्रतिषिद्धम्। यज्ञेऽवृतस्य गमनमप
मानकरं स्फुटमेव। एकः स्वाद्विति पद्यं क्वचिदेव पुस्तके
उपलभ्यते विदुरनीतौ चास्त्येव ॥ ५७ ॥

भाषार्थः-(शून्यगेह एको न सुप्यात्) सूने घर में अकेला न सोवे (श्रेयां
सं न प्रबोधयेत्) अपने से बड़े श्रेष्ठ किसी पुरुष को न जगावे चितावे वा

(उदक्यया नाभिभाषेत) और रजस्वला स्त्री के साथ भाषण न करे (अवृतो नच यज्ञं गच्छेत्) यजमान के विना बुलाये वा स्वीकार किये यज्ञ वा ब्रह्मभोजादि में न जावे ॥

भा०—जिस घर में बहुत काल से प्रति दिन कोई न वसता हो किन्तु प्रायः सूना पड़ा रहता हो वहां मनुष्य के विरोधी अन्य प्राणी वा अप्राणी तत्व, प्रधान हो जाते अपना अधिकार जमा लेते हैं उन के द्वारा अकेले सोने वाले को विघ्न वा जीवन का भय प्राप्त होना सम्भव है। पर द्वितीय मनुष्य कोई सहायक साथी हो तो विघ्नों से बचजाना अधिक सम्भव है। और जिस घर में प्रायः मनुष्य वसते हैं वहां कभी अकेला भी सोवे तो भय नहीं है। श्रेयांसम्— के स्थान में कहीं—शयानम्—ऐसा पाठान्तर मिलता है। श्रेष्ठ पुरुषों को निद्रा से अन्य समय में भी उपदेशादि द्वारा न चितावे क्योंकि वे विशेष निद्रा आलस्य कर्त्तव्याकर्त्तव्य की भूल आदि से बच कर सचेत रहते हुए ही श्रेष्ठता को प्राप्त होते हैं इस दशा में उन का चिताना कोप का हेतु हो सकता है जब कि चिताने वाले से वे सर्वथा ही जगे हुए सचेत हैं। रजस्वला स्त्री के साथ भाषण करने से कामोद्दीपन और समीप होने से सङ्गदोषरूप मलिनता आने की शङ्का है सो कामोद्दीपनादि का सम्भव न हो और विशेष प्रयोजनार्थ बोलना आवश्यक हो तो निषेध नहीं है। यज्ञ में न बुलाने पर वा निमन्त्रण न देने पर जाना अपमान का हेतु स्पष्ट ही है । इस से मन को क्षोभ हो कर धर्म में बाधा होगी ॥ ५७ ॥

इसी के आगे (एकः स्वादु०) यह विदुरनीति का श्लोक किसी २ पुस्तक में यहां भी लिखा मिलता है। अर्थ उस का यह है कि "स्वादिष्ठ वस्तु अकेला ही न खा लेवे—अन्य को भी देवे । विचारणीय विषय को अकेला न शोचे अन्य की भी सलाह लेवे। मार्ग में अकेला न चले किसी को साथ ले लेवे और सोते हुओं में अकेला न जागे स्वयं भी सो जावे वा अन्य को जगा देवे ॥"

अग्न्यागारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ । स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ ५८ ॥

अ०- यज्ञशालाद्यग्निस्थानेषु गोशालायां वेदविद्ब्राह्मणानां सत्कारादौ ब्रह्मयज्ञे वेदाध्ययने गुरुतो वाऽध्ययने भोजनकरणावसरे च हस्तसाध्यकार्यनिर्वृत्तये सर्वाश्रमस्थः पुरुषो दक्षिणं पाणिमुद्धरेन्नतु वाममिति ॥

भा०—कारणस्य प्राधान्यादेव दक्षिणाङ्गं वामापेक्षया सर्वत्रैव प्रधानं प्रशस्तं च पादाद्यपेक्षया शिरोवत्। तस्मादेव यादृशं यावच्च कार्यं दक्षिणाङ्गेन कर्त्तुं शक्नोति न तादृशं तावच्च वामाङ्गेनेति। अतएव कार्यसौलभ्यार्थं यज्ञादिपावनकार्येषु दक्षिणहस्तोत्थापनमेवोचितमिति ॥५८॥

भाषार्थः-(अग्न्यागारे गवां गोष्ठे) यज्ञ शालादि अग्नि रहने के स्थानों में गोशाला में (ब्राह्मणानां च संनिधौ) वेद वेत्ता ब्राह्मणों के सत्कारादि में (स्वाध्याये भोजने चैव) सन्ध्योपासन, वेद पाठ तथा गुरुमुख से वेदादि के पढ़ने में और भोजन बनाने वा खाने में हाथ से सिद्ध होने योग्य कार्य करने के लिये सब आश्रमों में रहने वाला ब्राह्मणादि पुरुष (दक्षिणं पाणिमुद्धरेत्) दहिना हाथ उठावे बांयां नहीं॥

भा०—दहिना भाग प्रत्येक शरीर में उत्तम कारण से उत्पन्न हुआ है इसी कारण बायें अङ्ग की अपेक्षा दहिना अङ्ग सर्वत्र प्रधान और प्रशस्त माना जाता है जैसे कारण की उत्तमता से ही पग आदि की अपेक्षा शिर वा मुख उत्तम माना है। इसी कारण दहिने हाथ से जैसा और जितना काम मनुष्य कर सकता है उतना और वैसा बायें हाथ से नहीं। इसी से कार्य की सुगमता के लिये यज्ञादि पवित्रता के हेतु कर्मों में दहिने हाथ का उठाना ही उचित है॥ ५८॥

न वारयेद्गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित्।
न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद् बुधः ॥ ५९ ॥

अ०—जलं पिबन्तीं स्वकीयां परकीयां वा गां न वारयेत् । नच कस्यचिदन्यस्मै गां वारयितुं कथयेत् । दिव्याकाश इन्द्रायुधमिन्द्रधनुर्दृष्ट्वा बुधो दर्शनदोषज्ञो न कस्यचित्कस्मैचिद्दर्शयेत् ॥

भा०—वारिता गौः कुपिता दुःखिता च सती शत्रुभूता हानिकरी सम्भवति । परापकारश्चाधर्मः । इन्द्रो विद्युत्तस्यायुधं धनुराकारेण दृश्यमानं चिह्नं तैजसप्राधान्याच्चाक्षुषतेजोऽभिभावुकं सम्भवति तस्मात्स्वयमपि न पश्येन्नान्यस्मै दर्शयेत् ॥ ५९ ॥

भाषार्थः–(धयन्तीं गां न वारयेत्) अपनी वा अन्य की गौ को जल पीने से न हटावे (न चाचक्षीत कस्यचित्) और जल पीने से हटाने के लिये किसी अन्य से भी न कहे (बुधो दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा) देखने वा दिखाने के दोष को जानने वाला पुरुष आकाश में इन्द्रधनुष् को देखकर (न कस्यचिद्दर्शयेत्) किसी को न दिखावे ॥

भा०—जल पीने से हटायी गौ कुपित और दुःखित होती हुई हानि करने वाली शत्रुरूप होनी सम्भव है । अन्य प्राणियों का अपकार करना अधर्म स्पष्ट ही है । आकाश में धनुष् के आकार से दीखने वाला इन्द्र– विजुली का चिह्न है वह तैजसतत्त्व प्रधान होने से चक्षु के तेज को दबाने वाला हानिकारक होता है इस कारण न स्वयं देखे न अन्य को दिखावे ॥ ५९ ॥

नाधार्मिके वसेद् ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम् ।
नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥
न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते ।
न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः
॥ ६० । ६१ ॥

अ०–यत्राधिक्येनाधार्मिका वसन्ति तादृशग्रामे न व सेत्। यत्र वायुजलान्नादिदोषाधिक्यात्प्रायेण व्याधयो ज ज्यन्ते तत्र प्रदेशेऽपि वासं न रोचयेत्। एकोऽसहायोऽध्वा न प्रपद्येत न गच्छेत्। पर्वते च दीर्घकालं न वसेत्। शू द्रस्य राज्ये धर्मविरोधिभिः परित आवृते पाषण्डिगणैराक्रा न्ते स्वायत्तीकृते च ग्रामादौ न कदापि निवसेत्। चर्मका चाण्डालाद्यन्त्यजमनुष्यसमुदायेऽपि न निवसेत्॥

भा०–अधर्मिसमुदाये धर्मानुष्ठाने विघ्नोत्थानं सम्भ वत्येव सङ्गदोषेणाधर्मोऽपि भवत्येव। एवं व्याधिबहुले व्या धिभिराक्रान्तो धर्ममनुष्ठातुं न शक्नोति। पर्वते मृदाद्यभ वाच्छौचादिकं सम्यक् कर्त्तुमशक्यम्। ये शूद्रा धर्मानुष्ठा नाद्वारयन्त्यधर्मं वा कारयितुं प्रेरयन्ति तद्राज्ये वासनिषेधं धर्मबाधाधर्मागमभयात्कृतो बोध्यः॥ ६०। ६१॥

भाषार्थः–(अधार्मिके ग्रामे न वसेत्) जहां अधिकांश अधर्मी रहते हों ग्राम में न वसे (न भृशं व्याधिबहुले) तथा जहां वायु जल और अन्नादि के दो से शीघ्र २ प्रायः बड़े २ भयङ्कर रोग उठते हों ऐसे प्रदेश में भी वसना स्वीकार करे (अध्वानमेको न प्रपद्येत) विना दूसरे सहायक को साथ लिये मार्ग में अके न चले [चार छः मास का वालक मार्ग में सहायक नहीं हो सकता इसी से द्वितीय नहीं] (चिरं पर्वते न वसेत्) अधिक काल तक पहाड़ पर न वसे कि प्रयोजन मात्र के लिये जाकर लौट आवे (शूद्रराज्ये न निवसेत्) शूद्र राजा राज्य में न वसे किन्तु धर्म रक्षक क्षत्रिय के राज्य में निवास करे (अधार्मिक नावृते) धर्म के विरोधी असुर राक्षसादि जिसके चारो ओर रहते हों ऐसे ग्रा (न पाषण्डिगणाक्रान्ते) वेद विरुद्ध पन्थ चलाने वाले पाषण्डियों ने अप अधिकार में किये ग्रामादि में कदापि न वसे। और (नान्त्यजैर्नृभिरुपसृष्टे) चमार भंगी–महतर आदि अतिनीच मनुष्यों के समुदाय में वा पड़ोस में न वसे

भा०—अधर्मी आदि नीचों के समुदाय में धर्म करने में विघ्नों का उठना अधिक सम्भव है तथा सङ्गदोष से अधर्म भी होता वा लगता ही है । इसी प्रकार रोग हेतु प्रदेश में रोगों से दवाया हुआ धर्म का सेवन नहीं कर सकता। पर्वत में मट्टी आदि के ठीक २ न मिलने से वा शीतादि की अधिकता से शौचादि ठीक नहीं कर सकता । जो शूद्र राजा लोग धर्म करने से हटाते वा अधर्म करने की प्रेरणा करते दबाते हैं उन के राज्य में धर्म की हानि और अधर्म प्राप्ति के भय से वसने का निषेध किया जानो ॥ ६० । ६१ ॥

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत् ।
नातिप्रगे नातिसायं न सायं प्रातराशितः॥६२॥

अ०-उद्धृतस्नेहं पिण्याकादि न भक्षयेत् [तक्रन्तु सस्नेहदुग्धाद्यपेक्षयाऽभक्ष्यमपि सर्वं च दधिसम्भवमिति पञ्चमे प्रतिप्रसवेन विहितम्] अतिसौहित्यमतितृप्तिं नाचरेद्रुचिं न समापयेत् । अतिप्रगे उषःकालावसरे, अतिसायमर्द्धरात्रावसरे न भुञ्जीत। प्रातराशितः प्रातः पूर्वाह्णे समन्तादधिकं भुक्तवांश्चेत्सायं पुनर्न भुञ्जीत ॥

भा०—निस्सृतस्नेहं सर्वं राजसं तामसं वा जायते। अतिभोजनेऽजीर्णालस्यादिना धर्महानिः । उषःकालावसरे ऋषियज्ञबाधः । अर्द्धरात्रभोजनेऽजीर्णभयमित्यादि ॥ ६२ ॥

भाषार्थः-(उद्धृतस्नेहं न भुञ्जीत) चिकनाई जिस में से निकालली हो ऐसी पीना [खली] आदि को न खावे [दूध आदि चिकने पदार्थों की अपेक्षा मठा यद्यपि अभक्ष्य है तथापि –„दही से हुए सब वस्तु भक्ष्य हैं" इस पञ्चमाध्यायस्थ कथन के अनुसार वह भक्ष्य ही है] (अतिसौहित्यं नाचरेत्) इतना अधिक मन भर के न खावे जो अन्न से रुचि हटजाय (नातिप्रगे नातिसायम्) न अति प्रातःकाल न अत्यन्त रातगये आधीरात के समीप (प्रातराशितो न सायम्) तथा प्रातः पूर्वाह्ण में अधिक खाया होतो सन्ध्या को फिर न खावे॥

भा०—जिस की चिकनाई निकल जाती है वह तमोगुणी वा रजोगुणी भोजन

होता है। अतिभोजन में अजीर्ण तथा आलस्यादि से धर्म की हानि होती है। उषःकाल के समय भोजन करना ऋषियज्ञ में विघ्न तथा आधीरात्रि पर अजीर्णता का भय है इत्यादि प्रयोजन से सब निषेध किया है ॥ ६२ ॥

न कुर्वीत वृथा चेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत्।
नोत्सङ्गे भक्षयेद् भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली ॥

अ०–वृथा प्रयोजनरहितां चेष्टां न कुर्वीत निश्चेष्टोऽपि न तिष्ठेदपितु दृष्टादृष्टफलकान्येव कर्माणि कुर्यात्। अञ्जलिना वारि न पिबेदपितु पात्रेण। भक्ष्यान्मोदकादीन् पदार्थानुत्सङ्गऊर्वोरुपरि निधाय न भक्षयेत्। प्रयोजनाभावे किमेतदिति ज्ञातुं कुतूहल्याश्चर्यग्रस्तो विस्मितो न भवेत् ॥

भा०–अञ्जलिना पीतमुदकं बिन्दुरूपमुच्छिष्टं पादादिषु पतति। शरीरस्योर्ध्वभागापेक्षयाऽधस्तादशुद्धं तस्मात्तत्राधानप्रतिषेधः ॥ ६३ ॥

भाषार्थः–(वृथा चेष्टां न कुर्वीत) निष्प्रयोजन व्यर्थ हाथ पांव से चेष्टा न करे और सुस्त आलसी होके भी न बैठरहे किन्तु संसार वा परमार्थ में सुख देने वाले कामों को सदा कियाकरे (अञ्जलिना वारि न पिबेत्) अञ्जुली से जल न पीवे किन्तु छोटे पात्र से पिये (भक्ष्यानुत्सङ्गे न भक्षयेत्) भक्षण करने योग्य पदार्थों को जांघों वा गोड़ों पर धरके न खावे किन्तु पात्र वा पत्तों में धर के खावे (जातु कुतूहली न स्यात्) निष्प्रयोजन किसी विषय को जानने के लिये आश्चर्य के साथ विस्मित–व्याकुल वा भयभीत न होवे कि यह जाने क्या है ! ॥

भा०–अञ्जुली से जल पीनेपर जूटे जल के छींटा पग आदि पर गिरते हैं। नाभि से ऊपर के भाग की अपेक्षा शरीर के नीचे का भाग अशुद्ध है इस कारण भोज्य वस्तु को गोड़ों पर धरकर खाने का निषेध जानो ॥ ६३ ॥

न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत्।
नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत् ॥६४॥

अ० रक्तो रागाधिक्येन पूर्णो हस्तं भूमिं वाह्वादिकं वा हस्तेन नास्फोटयेन्न वादयेन्नच क्ष्वेडेन्मुखेन दन्तैर्वाऽव्यक्तशब्दं कुर्यात्। नच विरावयेन्मयूरादिवच्छब्दानुकरणं कुर्यात्। सुगममन्यत्पूर्वार्द्धम् ॥

भा०—स्नातकस्तौर्यत्रिकव्यसनासक्तो धर्मकर्मणी विस्मरति रागी कामी च जायते। आस्फोटनादयश्च गीतवादित्राणामेवावान्तरभेदाः सन्तीति ॥ ६४ ॥

भाषार्थः—(न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत्) न नाचे न गावे और न मृदंगादि वाजे बजावे (रक्तो नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च विरावयेत्) राग वा प्रेम में भरकर हाथ से हाथ आदि को वा पृथिवी को न बजावे, मुख वा दांतों से आँ३ वा हूँ ३ आदि अव्यक्त शब्दों के तार और मोर आदि के तुल्य बोलने वा रोनेकी नकल न करे ॥

भा०—स्नातक गृहस्थ नाचना गाना बजाना आदि बुरे व्यसनों में फस जाने पर कर्त्तव्य धर्म कर्म को भूल जाता और रागी—कामी [ऐयाश] होके भ्रष्ट हो-जाता है। आस्फोटन आदि गाने बजाने के ही अवान्तर भेद हैं ॥ ६४ ॥

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने।
न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥६५॥

अ०—कदापि कांस्यपात्रे पादौ न प्रक्षालयेत्। स्फुटितपात्रे मनोग्लान्युत्पादके च पात्रेऽन्नं न भुञ्जीत ॥

भा०—स्थूलांशत्वात्कांस्ये पादमालिन्यं सद्यः प्रविशति तेन पात्रं दूष्यते पादयोर्वा हानिकरः कांस्यगुणः प्रविशति। भिन्नपात्रे भोज्यं निस्सरति दूषिताशङ्कायां च मनोग्लान्या धर्म्यकर्मणि विघ्नः सम्भवति ॥ ६५ ॥

भाषार्थः—(पादौ कांस्ये-भाजने कदाचिदपि न धावयेत्) कांसे—फूल के पात्र में घर के पगों को कदापि न धोवे (न भिन्नभाण्डे न भावप्रतिदूषिते भुञ्जीत) न

फूटे पात्र में न जिस के अशुद्ध होने की मन में शङ्का हो गयी हो ऐसे पात्र में कभी भोजन करे ॥

भा०—स्थूल अंशों से बना होने के कारण कांसे के पात्र में पगों की मलिनता शीघ्र प्रविष्ट होती उस से पात्र दूषित माना जाता और कांसे का हानिकारक गुण भी पगों में प्रविष्ट हो जाता है। फूटे पात्र के छिद्रों द्वारा भोजन आदि गिर सकता वा उस में मट्टी आदि लगते हैं। और दूषित होने की शङ्का में मन की ग्लानि से कर्त्तव्य धर्म में विघ्न होता है ॥ ६५ ॥

उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत्।
उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥

अ०-उपानहौ वस्त्राणि, उपवीतमलङ्कारं स्वर्णादिमयं पुष्पमालां करकं मृत्कमण्डलुमेतान्यन्येन धृतानि स्नातको न धारयेत् ॥

भा०-अन्यजनधृतवस्त्रादिभिः साकं तच्छरीरस्थमालिन्यं केचिद्रोगाश्चायान्ति तेन मनोलाघवं मनोग्लानिर्व्याधिसमुत्थानं च धर्मकर्मबाधकं सम्भवतीति निषेधः ॥६६॥

भाषार्थः-(अन्यैर्धृतमुपानहौ च वासश्च) अन्य मनुष्यों ने धारण किये जूते वस्त्रों (उपवीतमलङ्कारम्) यज्ञोपवीत, कुण्डलादि आभूषण (स्रजं करकमेव च) फूलों की माला और मट्टी के कमण्डलु नाम करवा को (न धारयेत्) धारण न करे [लोक में इसी के अनुसार उतरन का धारण नीच काम मानते हैं] ॥

भा०-अन्य मनुष्यों के धारण किये वस्त्रादि के साथ उन के शरीर की मलिनता तथा कोई २ रोग भी आजाते हैं तिस से मन को ग्लानि तुच्छता और रोगों का उभड़ना होता जो कि धर्म का बाधक हो सकता है इस से निषेध किया गया जानो ॥६६॥

नाविनीतैर्व्रजेद्धुर्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः।
न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न वालधिविरूपितैः ॥

विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः ।
वर्णरूपोपसम्पन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥६७।६८॥

अ०—अविनीतैरशिक्षितैः, वालधिविरूपितैः पुच्छरहितत्वेन वैरूप्यमापन्नैर्वृषाश्वादियुक्तयानैर्न व्रजेदपितु विनीतैः शिक्षितैराशुगामिभिः शुभसूचकचिह्नोपेतैर्दर्शनीयवर्णाकृतियुक्तैर्धुर्यैः सहितेन यानेन भृशं मुहुर्मुहुः प्रतोदेनातुदन्नपीडयन् व्रजेत् । नोचेदीदृशं वाहनं तदाऽधर्मभिया पद्भ्यामेव यायात् ॥

भा०—अविनीतेन पातनभयमन्यैर्याने तेभ्यो दुःखप्रापणेनाधर्मागमो मनोलाघवं च स्यात्तस्मात्प्रतिषिद्धं विहाय विहितानुकूलमाचरेत् ॥ ६७ । ६८ ॥

भाषार्थः—(नाविनीतैः) न विनकढ़े (न च क्षुद्व्याधिपीडितैः) न भूंख तथा रोग से पीड़ित दुःखियों (न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैः) न जिन के सींग टूटे आंख-फूटी और खुर बिगड़े वा टूटे हों ऐसे (न वालधिविरूपितैः) और बड़े २ वाल जमने का स्थान पूंछ जिन के न हो बंडे–बुरे लगते हों ऐसे (धुर्यैर्व्रजेत्) बैल वा घोड़ों से युक्त सवारी पर चले वा चढ़े किन्तु (लक्षणान्वितैः) शुभ सूचक चिह्न युक्त (वर्णरूपोपसम्पन्नैः) अच्छे दर्शनीय रंग और अच्छी बनावट गठाव वाले (आशुगैर्विनीतैः) शीघ्रगामी तेज, कढ़े हुए बैलों वा घोड़ों से युक्त रथ (बग्घी) पर (प्रतोदेन भृशमतुदन् नित्यं व्रजेत्) पैना वा कोड़ा से बार २ न मारता वा पीटता हुआ नित्य चले [यदि ऐसी धर्मानुकूल सवारी प्राप्त न होतो अधर्म से डर के पगों से चलाकरे] ॥

भा०—विन कढ़े बैलादि की सवारी में गिरादेने वा रथ तोड़डालने का भय है और अन्य भूंखे आदि से युक्त रथपर चलने पर उनको दुःख पहुंचाने द्वारा अधर्म प्राप्त होगा तथा मन में लघुता होगी इस से निषिद्ध को त्याग के कहे अनुसार बैल वा घोड़ों को रथ में जोड़े ॥ ६७ । ६८ ॥

वालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथाऽऽसनम्
न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान्
न मृल्लोष्टं च मृद्नीयान्न छिन्द्यात्करजैस्तृणम्
न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम्
लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः
स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च
॥ ६९ । ७१ ॥

अ०–वालातप उन्नतिदशामाप्तो घर्मः कन्यालग्नस्थ...र्यघर्मो वा प्रेतधूमः शवदाहधूमश्च गृहस्थेन वर्ज्यः। तथा भि...भग्नमासनं वर्ज्यम्। स्वस्य नखलोमानि स्वयं न छिन्द्या...व्यसनेन नापिताभावेऽतिप्रवृद्धच्छेदने तु नायं निषेधः। त...दन्तैर्नखान्नोत्पाटयेत्। व्यसनेन प्रयोजनमन्तरेण मृल्लो...च न मृद्नीयात्करजैर्नखैस्तृणं न छिन्द्यात्। आयत्यां भ...विकालेऽसुखोदयं निष्फलं कर्म न कुर्यात्। लोष्टमर्दना...कर्मशीलो यः प्रायेणान्यस्वहितसाधनकर्माणि विहाय लो...ष्टमर्दनादिकमेव करोति तस्य स्वभावादिविप्रतिपत्तिर्मर...समयागमसूचिका जायते। अन्येष्टसाधनानां विनाशो...तस्य विनाशइति वक्तुं शक्यते। सूचकः खलः परापकार...रतवाक्, अशुचिर्बाह्याभ्यन्तरतस्तावपीष्टसुखस्य विनाश...मेवाप्नुतः॥

भा०–सर्वमेतद्वालातपादिसेवनं चक्षुरादीनां हानिकर...मिति कृत्वा त्याज्यम्। निष्फललोष्टमर्दनादिकर्मणि रतस्य

ऽयर्थः कालो गच्छति तावता कालेन शुभं कर्मानुष्ठाय स्वोपकारः परोपकारो वा कर्त्तुं शक्यते तेन वञ्चितो भवति। तृतीयपद्ये निन्दार्थवादः। विनाशो नानाविधः कथ्यते तत्र यादृशाधिक्येन लोष्टमर्दनादौ पैशुन्यमालिन्यादौ च रमते तादृशएव तस्य विनाशोऽपि न्याय्यो विज्ञेयः ॥६९-७१॥

भावार्थः-(बालातपः प्रेतधूमस्तथा भिन्नमासनं वर्ज्यम्) उन्नतिदशा को प्राप्त बढ़ता हुआ घाम वा कन्या के सूर्य (क्वार मास) का घाम, जलते हुए मुर्दा का धुंआं और बैठने लेटने का फटा टूटा आसन त्याज्य है (नखलोमानि न छिन्द्यात्) अपने नखों और लोमों-बालों को स्वभाव से निष्प्रयोजन स्वयं छेदन न करे यदि नाई के न मिलनेपर अधिक बढ़े हुए नख लोम कभी स्वयं काटने पड़ें तो उस के लिये यह निषेध नहीं है (दन्तैर्नखान्नोत्पाटयेत्) दांतों से नखों को न उखाड़े (मृल्लोष्टं च न मृद्नीयात्) प्रयोजन के विना व्यसन के साथ मट्टी के ढेलों को न फोड़ा करे (करजैर्नखं न छिन्द्यात्) हाथ के नखों से हाथ पांव के नखों को न तोड़े वा काटे (आयत्यामसुखोदयं न) आगामी काल में जिसका फल प्रसिद्ध सुख का उदय न हो ऐसा कर्म न करे तथा (निष्फलं कर्म न कुर्यात्) निष्फल मानस कर्म न करे [मन के मोदक-सेखचिल्ली कासा विचार न करे] शरीर से वृथा कर्म का निषेध [न कुर्वीत वृथाचेष्टाम्] से आचुका है (लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः) जो पुरुष ढेला फोड़ने, तिनका तोड़ने और दांतों से नखों को खाने का स्वभाव डालता है (स आशु विनाशं व्रजति) वह शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होता (च) और (सूचकोऽशुचिरेव च) सूचक इधर उधर झूठी बातें जोड़ कर लड़ाई कराने तथा अशुद्ध मलिन रहने के स्वभाव वाला भी विनाश को प्राप्त होता है अर्थात् बुद्धि के भ्रष्ट हो जाने से सुख से च्युत होता वा मर भी जाता है ॥

भा०-चढ़ते घाम आदि का सेवन चक्षु आदि के लिये हानिकारक होने से त्याज्य है। ढ़ेला फोड़ने आदि निष्फल कर्म में लगे रहने वाले का समय व्यर्थ जाता है उसी काल में शुभ कर्म का सेवन करके अपना वा अन्य का उपकार कर सकता उस से वञ्चित होजाता है। तृतीय श्लोक में निन्दारूप अर्थवाद है। विनाश अनेक प्रकार का कहा वा माना जाता है। उस लोष्टमर्दन-ढेला फोड़ने

आदि काम में वा पिशुनता मलिनतादि कर्म में जैसा २ अधिक २ लगता है
ही उस का विनाश भी न्यायानुकूल जानो । अन्त्य कक्षा के निष्फल कामों
अधिक रमण करना शरीर के भी नाश होने का कारण होगा ॥ ६९-७१॥

न विगृह्य कथां कुर्याद्बहिर्माल्यं न धारये
गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥७

अ०-विगृह्य विग्रहपूर्वकं कथां कथनं क्वापि न
र्यात्। बहिर्वाससामुपरि माल्यं पुष्पादिमालां न धारयेत्
गवां वृषभाणां पृष्ठेन पृष्ठमारुह्य कुत्रापि यानं गमनं स
थैव विगर्हितं निन्दितं त्याज्यम् ॥

भा०—विग्रहहेतुकवार्त्तालापेनान्यापकारात्क्रोधोत्
त्तिसम्भवाच्चाधर्मः । बहिर्मालाधारणेन शृङ्गारासक्ति
धर्महानिर्मालायाः शरीरआसङ्गेनेन जायमानगुणहानि
श्च । पृष्ठेन गमने पशोः कष्टाधिक्येनाधर्मः पशुत्वस्य स्व
हेऽतिसङ्गेनागमनमतो वर्जितानि। सर्वथैव पृष्ठेन यानं विग
र्हितमिति कथनादर्थादापन्नं गोयुक्तयानेन गमनेऽप्यल
दोषोऽस्त्येवेति ॥ ७२ ॥

भाषार्थः-(न विगृह्य कथां कुर्यात्) किसी प्रकार का व्याख्यान चर्चा वा
ऐसी न करे जिस से किसी की हानि वा लड़ाई होना सम्भव हो (बहिर्मा
न धारयेत्) अंगरखा आदि वस्त्रों के ऊपर फूल आदि की माला न पहिने (ग
च पृष्ठेन यानं सर्वथैव विगर्हितम्) और बैलों की पीठ पर चढ़के कहीं कोजा
सर्वथा ही बुरा है ॥

भा०-लड़ाई कराने वाले वार्त्तालाप से अन्य का अपकार और क्रोध आ
से धर्म की हानि और अधर्म का होना सम्भव है । माला को वस्त्रों के बा
पहरने से -शृङ्गार की ओर झुकावट होने से अधर्म होगा और माला के शरी
से लगे रहने पर प्रविष्ट होने वाले शुभ गुण की भी हानि होगी। पीठ पर चढ़

चलने में पशु को अधिक कष्ट पहुंचने से अधर्म होगा और पशु के साथ अधिक लगने से पशुपन का नीचगुण अपने में आवेगा इस से ये सब काम त्याज्य हैं। पीठ पर चढ़ के जाना सर्वथा निन्दित है ऐसा कहने पर अर्थापत्ति से सिद्ध होता है कि बैल गाड़ीपर चलने में भी पीठ पर चढ़ने की अपेक्षा थोड़ा दोष अवश्य है किन्तु पगों से चलना सब से अच्छा उस में कोई दोष नहीं है ॥ ७२ ॥

अद्वारेणचनातीयाद् ग्रामंवावेश्म वाऽऽवृतम्॥
रात्रौचवृक्षमूलानि दूरतःपरिवर्जयेत् ॥ ७३ ॥

अ०—ग्रामं वेश्म प्राकारादिनाऽऽवृतं नगरदुर्गादिकं वाऽद्वारेण नातीयादतिक्रम्य न कदापि गच्छेत्। रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतस्त्यजेन्न कदापि वृक्षमूल्यान्यतिक्रम्य क्वापि गन्तुमीहेत ॥

भा०-अद्वारतो गमनेन कष्टाधिक्यं चौरादिवन्निग्रहश्च स्यात्। रात्रौ वृक्षमूलानि तमःप्राधान्यात्सर्वाण्येव न दृष्टिगोचराणि भवन्ति तस्मात्पतनसम्भवः ॥ ७३ ॥

भाषार्थः—(ग्रामं वा वेश्म वाऽऽवृतमद्वारेण च नातीयात्) ग्राम में घर में वा परकोटा से घिरे हुए नगर वा किला में द्वार से भिन्न कुमार्ग वा भित्ति आदि फांदकर न घुसे (वृक्षमूलानि च रात्रौ दूरतः परिवर्जयेत्) और रात्रि में चलते समय वृक्षों की जड़ों को दूर से बचाकर निकले ॥

भा०—विना द्वार कुमार्गादि से घुसने पर अधिक कष्ट होना और चोरादि के तुल्य पकड़ा जाना सम्भव है। अन्धकार की अधिकता से रात्रि में वृक्षों की जड़ें ठीक २ नहीं दीखसकतीं इस से ठेवा लगकर गिरजाना सम्भव है ॥ ७३ ॥

नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयंनोपानहौ हरेत्।
शयनस्थोनभुञ्जीत नपाणिस्थंनचासने॥ ७४ ॥

अ०—कदाचिदप्यक्षैर्न क्रीडेत्। स्वस्योपानहौ स्वयं हस्ताभ्यां न कदापि हरेत्। शयनस्थो न भुञ्जीत, आसने

भोज्यं धृत्वा न भुञ्जीत । पाणिस्थं भोज्यं कृत्वा न भुञ्जी तापितु पात्रे पत्रेषु वा धृत्वा दक्षिणा हस्तेनाद्यात् ॥

भा०—द्यूतक्रीडा सर्वाधर्मकरीति नवमे वक्ष्यति । उपानहावशुद्धौ शय्यासने च । दक्षिणापेक्षया वामाङ्गस्य स्वभावेनैव निकृष्टत्वम् । तस्मान्न तत्र धृत्वा खादेत् ॥ ७४

भाषार्थः-(अक्षैः कदाचित्तु न क्रीडेत्) जुआ कदापि न खेले (स्वयं नो नहीं हरेत्) अपने जूतों को अपने हाथ में लेकर कदापि न चले (शयनस्थो भुञ्जीत) खटिया आदि सोने के स्थान पर बैठ कर भोजन न करे (न पाणिस्थं न चासने) तथा हाथ में पकड़ के और आसन पीढा आदि पर भोज्य वस्तु को धरके न खावे किन्तु पात्र में वा पतली आदि में धर के हाथ से खावे।

भा०–जुआ खेलना सब अधर्मों का मूल है यह नवयें अध्याय में ग्रन्थकार स्वयं कहेंगे । जूता, शय्या और आसन स्वयमेव अशुद्ध हैं । दहिने हाथ की अपेक्षा वांया हाथ स्वभाव से ही निकृष्ट है और हाथपर धर के खाने वाला वांये हाथ पर धरके ही खावेगा इस से निषेध किया गया ॥ ७४ ॥

सर्वंचतिलसंबद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ।
नचनग्नःशयीतेह नचोच्छिष्टःक्वचिद्व्रजेत्

अ०-तिलमिश्रं सर्वमेव वस्तु सूर्यास्तानन्तरं रात्रौ न द्यात् । इह संसारे गृहे वा नग्नो न शयीतापितु वासोऽभि धायैव स्वप्यात् । नच क्वाप्युच्छिष्टो व्रजेत् ॥

भा०-तिलग्रहणमुपलक्षणार्थम् । तेन घृताद्यपेक्षया तिलास्तज्जन्यवस्तूनि च सर्वाण्येव तामसानि । रात्रौ स्वभावेनैव तमो वर्धते स्वयं कारणतस्तदानीं तमोवर्द्धने प्रातरुत्थानादिहानिः स्फुटा तस्माद्रात्रौ तामसं वस्तु न किमपि खादेत्। नग्नशयने कामाप्यायनादयो दोषाः।उच्छिष्ट

गमनेन मुखाशुद्धेर्बुद्धिहानिः । विचारशक्तिरूपा सर्वा बुद्धिः शिरःप्रधानस्थितिका ॥ ७५ ॥

भावार्थः—(अस्तमिते रवौ तिलसंबद्धं सर्वं च नाद्यात्) सूर्यास्त होने पश्चात् रात्रि में तिल वा तिल मिलाकर बनाये किसी भी वस्तु को न खावे (इह नग्नो नच शयीत) यहां गृहाश्रम वा जगत् में नङ्गा हो कर न सोवे किन्तु वस्त्र पहन ओढ़ के ही सोवे (उच्छिष्टः क्वचिन्न च व्रजेत्) और जूठे कहीं न जावे ॥

भा०—यहां तिलग्रहण उपलक्षणार्थ है । दुग्ध घृतादि की अपेक्षा तिल और तिल से बने सब पदार्थ तमोगुणी होंगे । और रात्रि में स्वभाव से ही तमोगुण बढ़ता है उस समय यदि विचारपूर्वक कारण से तमोगुण बढ़ाया जाय तो प्रातः काल के उठने आदि में हानि स्पष्ट ही होगी इस से रात्रि में तमोगुणी वस्तु कुछ न खावे। नंगे सोने में कामासक्ति बढ़ने आदि दोष हैं । कहीं उच्छिष्ट जाने से मुख के अशुद्ध होने के कारण बुद्धि की हानि होती है क्योंकि विचार शक्ति-रूप बुद्धि की प्राधानता शिर में रहती है ॥ ७५ ॥

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तुसंविशेत् ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्॥७६॥

अ०—आर्द्रपादस्तु पादौ प्रक्षाल्याशुष्काभ्यामेव भुञ्जीत । पादौ प्रक्षाल्य शोषयित्वा च शयीत। आर्द्रपादो भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयादवाप्नोति ॥

भा०—क्षुधितस्याग्निर्वृद्धिंगतो भवति स चोदरेऽन्नजल प्रवेशेनाधोगन्तुं प्रवर्त्तते। तस्याधोगमनं चापानाश्रितमृत्यु-साह्यारयेन मृत्योः कारणं सम्पद्यते । पादयोश्च क्लिन्नयोर्न जाठराग्निरधो याति । तत्र स्थित्या च सम्यगन्नपाचनेन जायमानमारोग्यमायुषो वर्धकम्। एवंप्रकारेणास्य पद्य-स्योत्तरार्द्धे प्रशंसार्थवादः ॥ ७६ ॥

भाषार्थः—(आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत) तत्काल धोये हुए गीलेपगों से भोजन कि करे (नार्द्रपादस्तु संविशेत्) परन्तु गीले पगों से सोने का आरम्भ न करे किन्तु पगों को सुखाकर सोवे (आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्) गीले पा भोजन करने वाला दीर्घ आयु को प्राप्त होता है॥

भा०—भूखे मनुष्य का भीतरी अग्नि तेज होता है इसी कारण भूख लगती भूख लगने पर ही प्रायः खाता है। सो उदर में अन्न जल पहुंचने से वह अग्नि नीचे को खिसकता और उस का नीचे को जाना अपान का सहायक होके का कारण बनता है क्योंकि अपान के साथ ही मृत्यु का निवास है। और गीले होने पर जाठराग्नि नीचे को नहीं जाता किन्तु वहीं उदर में ठहर के स्यक् अन्न पचाने द्वारा आरोग्यता करके आयु को बढ़ाता है। इस प्रकार उत्तरार्द्ध में प्रशंसारूप अर्थवाद है। सोते समय मानसाग्निस्वयं स्वस्थमन्द शि तमोग्रस्त मृत तुल्य होता है इस से शीत पहुंचाने से तमोगुण और बढ़ेगा कारण पग धोके सोना निषिद्ध है॥ ७६॥

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित्।
न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत्॥७७

अ०—अचक्षुर्विषयं यत्स्वयं न दृष्टं तादृशं दुःखेन ग योग्यं गर्त्तगुल्मलतादिना गहनमार्गं स्थानं कदापि ग नेहेत। स्वस्याऽन्यस्य वा विण्मूत्रं नोदीक्षेत बाहुभ्यां न न तरेत्। सर्वाण्येतानि व्यसनेन नैव कुर्यात्॥

भा०—दुर्गस्थानाय गमने विपदागमसम्भवः। विष्ठ द्यतिमलिनवस्तुदर्शनेन बुद्धिमालिन्यं तेन धर्महानिः। प्र योजनमन्तरेण नदीतरणं प्रतिषिद्धं निमज्जनग्राहादिभयात्

भाषार्थः—(अचक्षुर्विषयं दुर्गं कर्हिचिन्न प्रपद्येत) गड्ढे वा भयंकर वन आदि की रुकावट से जहां पहुंचना अति कठिन हो ऐसे स्वयं न देखे किन्तु ने हुए स्थान को देखने के लिये कदापि न जावे (विण्मूत्रं नोदीक्षेत) अपने अन्य के विष्ठा मूत्र को समझ पूर्वक कदापि न देखे (बाहुभ्यां नदीं न तरेत्) बा द्वारा नदी को व्यसन से न तरे॥

भा०–जिस में पहुंचना कठिन है ऐसे स्थान को जाने में कोई विपत्ति आ-जाना सम्भव है। विष्ठादि अति मलिन वस्तु के देखने से बुद्धि की मलिनता होती और उस से धर्म की हानि होती है। और डूबने वा ग्राहादि का भय होने से प्रयोजन के विना नदी तरना निषिद्ध है ॥ ७७ ॥

अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थिकपालिकाः।
न कार्पास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥७८॥

अ०–दीर्घमायुर्जिजीविषुर्जनः केशान्, भस्म, अस्थि, कपालिकाः, कार्पास्थि, तुषानेतान्यसारवस्तूनि निःसत्त्वानि नाधितिष्ठेत् ॥

भा०–निःसारमृतप्रायवस्तूनामुपरिस्थित्या सङ्गदोषेण स्वदेहेऽसारत्वं मरणहेतुकमाविशति तस्मात्सारस्यैव स्वदेहेन संयोगोऽधिकजीवनस्य हेतुर्विज्ञेयः ॥ ७८ ॥

भाषार्थः–(दीर्घमायुर्जिजीविषुः केशांस्तु नाधितिष्ठेत्) दीर्घकाल तक जीवन की इच्छा रखने वाला पुरुष बालों पर न बैठे (न भस्मास्थिकपालिकाः) राख, हड्डी और खप्परों पर [बिछी हुई गुदड़ियों पर] भी न बैठे (न कार्पास्थि न तुषान्) न कपास के बिनोलों पर और न भूसी पर बैठे ॥

भा०–मृतसमान निस्सार वस्तुओं पर बैठने से सङ्ग दोष के द्वारा मरण वा निस्सार बनाने का हेतु असारपन बैठने वाले के देह में प्रविष्ट होता है। इस कारण अपने शरीर के साथ सार वस्तुओं का संयोग ही अधिक जीवन का हेतु है यह सर्वथा ही सत्य जानो ॥ ७८ ॥

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुल्कशैः।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः॥

[न कृतघ्नैरनुद्युक्तैर्न महापातकान्वितैः।
न दस्युभिर्नाशुचिभिर्नामित्रैश्च कदाचन ॥]

अ०–ग्रामेऽरण्ये तरुच्छायादौ च पतितैश्चाण्डालैः पुल्कशैर्मूर्खैर्गर्वितैरन्त्यैश्चर्मकारादिभिरन्त्यावसायिभिर्निषाद स्त्रीषु चाण्डालाज्जातैश्च सह स्नातको न संवसेत् ॥

भा०–सङ्गदोषेण धर्महानिरधर्मागमश्च जायते तस्मात्त दृशवासनिषेधः। न कृतघ्नैरिति पद्यं कुत्रचिदुपलभ्यते॥

भाषार्थः—ग्राम में वन में वा वृक्षादि की छाया में भी (न पतितैर्न चाण्डालैर्न पुल्कशैश्च संवसेत्) अधिक पापों के कारण जात्यादि से पतितों, चाण्डालों [भंगियों] और निषाद से शूद्र कन्या में उत्पन्न हुए पुल्कस वा पुक्कस [जिन को पाशी वा धानुक कहते हैं] के साथ न वसे न बैठे (न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च) अच्छे वर्णों में कहाते हुए भी मूर्खों तथा बड़े अहंकारियों के साथ निवास न करे और (नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः) धोबी चमार आदि नीचों तथा निषाद की स्त्री में चाण्डाल पुरुष से उत्पन्न हुए अन्त्यावसायी अथवा नीचे मेल रखने वालों के साथ भी स्नातक द्विज निवास न करे ॥

भा०–नीचों के संग का दोष अवश्य लगने से धर्म की हानि और अधर्म प्राप्ति दोनों होती हैं। इस से वैसों के साथ वसने का निषेध किया है। इस आगे एक (न कृतघ्नै०) इत्यादि श्लोक किसी पुस्तक में लिखा मिलता जिस का अर्थः–कृतघ्नों, धर्म में उद्योग न करने वालों, ब्रह्महत्यादि महापाप वालों, डाकुओं, चोरों, अशुद्ध रहने वालों और शत्रुओं का भी संग कभी न करे॥

नशूद्रायमतिंदद्यान्नोच्छिष्टंनहविष्कृतम् । नचास्योपदिशेद्धर्मं नचास्यव्रतमादिशेत्॥

अ०–शूद्राय प्रसङ्गादेवातिशूद्राय [यः शुभमप्यशुभं कृत्वा विपरीतमाचरति] मतिं न दद्यात्त्वयैवं कार्यमेवं कार्यमिति नोपदिशेत्। उच्छिष्टं न दद्यात्, हविष्कृतं न दद्यात्, अस्य धर्मं वैदिकं कर्त्तव्यं नोपदिशेत्, न चास्य व्रतं कर्त्तुमादिशेत् ॥

भा० – चातुर्वर्ण्यातिरिक्तरथकारादीनां वेदोक्तयज्ञानुष्ठानस्याधिकारो मीमांसाशास्त्रकारैः प्रदर्शितः । मनुनापि दशमउक्तम्–"धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः । मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च" इत्यादिप्रमाणदर्शनादिदमेवानुमीयते । ये धर्मं ज्ञातुं कर्त्तुं वाऽभीप्सन्ति न तदर्थो निषेधोऽपितु येषां धर्मविरुद्धकृत्ये दृढोऽचलो व्यवसायस्ते लोकगतानुगतिकतया ब्राह्मणाद्युच्चनामभिर्व्यवह्रियमाणा-अपि विपरीतपरिणामभिया न कदाप्युपदेश्या इत्येवाऽयं दृढाशयः साधु । एवं मत्वैव नीतिज्ञैरुक्तमेतत्–"उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये । पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्द्धनम्" तादृशानां च येनोपायेन स्वकृत्ये ग्लानिः शुभज्ञानेच्छा चाङ्कुरिता स्यात्तादृशोपायस्तु न कदापि प्रतिषिद्धः । अशक्तएव सदा तत्रतत्रानधिकृतइति ॥ ८० ॥

भाषार्थः–(शूद्राय मतिं न दद्यात्) अतिशूद्र अतिनीच को अच्छी सलाह न देवें कि तुम ऐसा ही करो वा बोलो ऐसा नहीं क्योंकि वह अच्छे को भी बुरा बना कर उलटा ही आचरण करता है (उच्छिष्टं न दद्यात्) शूद्र को जूंठा अन्न न देवें (न हविष्कृतम्) यज्ञ का शेष हविष्यान्न भी शूद्र को न देवे [जूंठा अन्न देने पर स्वभाव से दुष्ट पुरुष का कोप करना सम्भव है। यदि वह उच्छिष्टान्न को गुरुभक्ति के तुल्य प्रसन्नता से नहीं चाहता तो भी निष्फल है । और शुद्ध हविष्यान्न शूद्र को देना व्यर्थ वा निष्फल इस कारण है कि उस के अधिक मलिनांशों में मिल के हविष्यान्न भी मलिन हो जायगा । यदि उत्तम द्विज को मिले तो उस के थोड़े मलिनांश का शोधक होगा । अर्थात् गधे को लवण देने के समान होगा चाहे यों कहो कि मलिन घृणित कीचड़ के समुदाय में उत्तम वस्तु को डाल के विगाड़ देना है] (अस्य धर्मं च नोपदिशेत्) इस शूद्र के लिये वेदोक्त यज्ञादि धर्म का भी उपदेश न करे (नचास्य व्रतमादिशेत्) और इस को चान्द्रायणादि व्रतों के करने की भी आज्ञा न देवे ॥

भा०-चारों वर्णों से भिन्न संकर जातियों में वर्त्तमान रथकारादि [बढ़ई आदि] को भी वेदोक्त यज्ञ करने का अधिकार मीमांसाशास्त्रकारों ने दिखाया है। दशवें अध्याय में मनुजी ने भी लिखा है कि " श्रेष्ठ पुरुषों कासा वर्त्ताव करने वाले धर्म के जिज्ञासु धर्म में ही सर्वोपरि रुचि रखने वाले धर्म के किन्हीं अंशों से जानकार शूद्रों को वेद से भिन्न धर्म का उपदेश करने वा धर्म का सेवन करने में कोई दोष नहीं किन्तु अच्छी उत्तम बात है कि अच्छे शूद्र को भी धर्ममार्ग जताया जाय और वह धर्म करे " इत्यादि प्रमाण दीख पड़ने से यही सिद्धान्त ठीक ठहरता है कि जो शूद्र लोग धर्म को जानना और करना चाहते हैं जिन की धर्म में रुचि है उन के लिये यह निषेध नहीं है किन्तु जिन को धर्म से विरुद्ध विपरीत उलटा चलने में ही दृढ़ अचल निश्चय हो रहा है जो वनैले के बच्चे के तुल्य मरण पर्यन्त कितना ही समझाने पर भी अपने उलटे विचार को नहीं छोड़ना चाहते ऐसे लोग चाहे शूद्र हों वा लोकचाल से ब्राह्मणादि कहाते हों उन सभी ब्राह्मणादि उच्चनाम से प्रसिद्धों को भी उलटा परिणाम होने के भय से धर्मादि का उपदेश कदापि नहीं करना चाहिये क्योंकि वे सभी अनधिकारी हैं यही आशय सत्य है। ऐसा मान कर ही नीतिज्ञलोगों ने स्पष्ट कहा है कि "अच्छा उपदेश भी मूर्खों को कोप कराने वाला ही होता है। जैसे कि सांप को दूध पिलाने से उस का विष ही बढ़ेगा अच्छा फल कुछ नहीं हो सकता" वैसे मूर्ख वा अतिनीच शूद्रों को जिस उपाय से अपने उलटे कामों में ग्लानि और शुभ धर्मादि के जानने की इच्छा अङ्कुरित हो वैसा उपाय उन के साथ करना भी निषिद्ध नहीं है। असमर्थ को ही सदा उस २ विषय में वैसा अनधिकार और जो जितना वा जैसा जिस अंश में समर्थ वा योग्य है उस को वैसा अधिकार भी शास्त्रों के सिद्धान्त से अवश्य ही निकलता है ॥ ८० ॥

यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम्।
सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥८१॥

अ०—यः पुरुषोऽस्य शूद्रस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवास्य व्रतमादिशति सोऽसंवृतं विस्तृतं तमस्तमोगुणरूपमज्ञानं नरकं दुःखमयं प्राप्य तेनैव सह मज्जति ॥

भा०—सामान्याचारविषयकशुभमत्युच्छिष्टदानाद्यपेक्षया नियमधर्मोपदेशेऽधिको दोषइति ज्ञापयितुं द्वयोरत्रानुवादः। तयोरेव प्राधान्यात्तयोर्व्याघातोऽधिकहानिकरः। प्रबलप्रधानेन सह सम्मिलितं शुभमप्यशुभत्वमापद्यतएवं शुभप्राबल्येऽशुभमल्पमपि शुभं जायते। यत्र चाशुभमचलत्वमापन्नं सएवात्र शूद्रपदवाच्यस्तस्मिन्नासज्यमानोऽपि धर्मो व्याहन्यतेऽधर्मः सम्भवति प्रकोपादिरूपेण तस्मान्नियमधर्मोपदेशेऽधिको दोषइति सूक्ष्ममीक्षणीयम्। यत्र चोपदेशे धर्मव्याघातो नैव सम्भाव्येत तत्र "न धर्मात्प्रतिषेधनम्" इत्यादिवचांसि चरितार्थानि बोध्यानीति सर्वं सङ्गतम्॥८१॥

भाषार्थः—(यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे) जो पुरुष इस शूद्र को धर्म का उपदेश देता (यश्चैवादिशति व्रतम्) और जो इस को व्रत करने की आज्ञा देता है (सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति) वह तमोगुणरूप विस्तृत अज्ञानान्धकार को प्राप्त होके उसी शूद्र के साथ डूबता अर्थात् उस का अधिक साथ होने से वैसा ही अज्ञानी हो कर संसारसागर में गोते खाता है॥

भा०—शूद्र को सामान्य आचरण सम्बन्धी शुभमति वा उच्छिष्ट देने आदि की अपेक्षा नियम धर्म का उपदेश देने में अधिक दोष है यह जताने के लिये यहां नियम वा धर्म दोनों का ही फिर से अनुवाद करके निन्दार्थवाद कहा है। उन्हीं दो के मुख्य होने से उन का बिगड़ना अधिक हानिकारक है। प्रबल तथा प्रधान अशुभ बुराई के साथ मिल कर शुभ भी अशुभ हो जाता है। इसी प्रकार अच्छे शुभ की प्रबलता में अशुभ भी शुभ हो जाता है। और जहां अशुभ अचल दृढ़ है वही यहां शूद्रपदवाच्य है। उपदेशादि द्वारा उस को सौंपा हुआ धर्म भी नष्ट होता—अधर्म हो जाता है इस से नियम धर्म का उपदेश करने में अधिक दोष है [इस अंश को सूक्ष्मदृष्टि से विचारो शोचो] और जिस को धर्मोपदेश करने में धर्म का नाश होना सम्भव न हो वहां [धर्म के सेवने से शूद्र को रुकावट-निषेध नहीं] दशवें अध्याय आदि में कहे इत्यादि वचनों को अवकाश मिलेगा। वहां के लिये निषेध नहीं इस से सब कथन ठीक निर्विकल्प है॥ ८१॥

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः।
न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो नच स्नायाद्विना ततः॥
केशग्रहान् प्रहारांश्च शिरस्येतान् विवर्जयेत्।
शिरःस्नातश्चतैलेन नाङ्गंकिंचिदपि स्पृशेत्॥

अ०—संहताभ्यां पाणिभ्यामात्मनः स्वस्य शिरो न कण्डूयेत्। उच्छिष्टः संश्चैतच्छिरो न स्पृशेत् नच शिरो वर्जयित्वा स्नायात्। स्वस्यान्यस्य वा शिरसि केशग्रहान् प्रहारांश्चैतान् विवर्जयेत्। तैलेन शिरसा स्नातश्च जनस्तेनैव किंचिदप्यन्यदङ्गं न स्पृशेत्॥

भा०—तस्मान्मेध्यतमस्त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा। इत्यस्मिन्नेव ग्रन्थउक्तम्। सर्वाङ्गापेक्षयात्यन्तमुत्तमं शिरस्तद्विशेषरोगादिकारणमन्तरेण स्वस्थदशायां स्नानादिना शोधनकाले न त्यजेदपित्वन्याङ्गापेक्षया स्वयं शुद्धस्यापि शिरसो नैमित्तिकमालिन्यवारणायाधिका शुद्धिः कार्या। उच्छिष्टहस्तादिस्पर्शोऽपि यत्नेन त्याज्यः। तस्याघातोऽप्यन्याङ्गापेक्षया विशिष्टहानिकरस्तस्मान्न कस्यापि शिरस्याहन्यात्। हस्तद्वयसंयोगेन कण्डूयनासंभवे सहैव हस्तद्वयेन कण्डूयनप्रतिषेध आघातवर्जनार्थएव। अन्याङ्गलग्नं तैलं शिरसि न योजयेदन्याङ्गं स्पृष्ट्वा शिरो न स्पृशेत्। सर्वतउत्तमस्य तादृशमुत्तमत्वं सर्वथैव रक्षणीयमिति॥ ९३॥

भाषार्थः—(संहताभ्यां पाणिभ्यामात्मनः शिरो न कण्डूयेत्) दोनों हाथों से एक साथ अपना शिर न खुजलावे (उच्छिष्टएतन्न स्पृशेत्) जूठे हाथों से

शिर को न छुवे (ततो विना न च स्नायात्) शिर को छोड़ कर स्नानादि शुद्धि न करे किन्तु सब से पहिले उत्तमाङ्ग शिर की शुद्धि करे (केशग्राहान् प्रहारांश्चैतान् शिरसि विवर्जयेत्) अपने वा अन्य के शिर के केश पकड़ के खेंचना वा शिर में हाथ आदि से मारना विशेषकर छोड़देवे (तैलेन शिरःस्नातश्च किंचिदप्यङ्गं न स्पृशेत्) शिर में तैल लगाया हो तो वही तैल अन्य किसी पगादि अङ्ग में न लगावे अर्थात् अन्यत्र लगा तैल शिर में न पहुंचे ॥

भा०—मदरा से भी अत्यन्त पवित्र शिर मानागया है यह इसी ग्रन्थ में कहा है । सब अङ्गों की अपेक्षा से अत्यन्त उत्तम शिर है उसको विशेष रोगादि का भय न होनेपर स्वस्थदशा में स्नानादिद्वारा शुद्धि करने के समय प्रथम शुद्ध किये विना न छोड़े किन्तु अन्य शरीरावयवों की अपेक्षा स्वभाव से ही शुद्ध भी शिरकी नैमित्तिक भीतर बाहर से निकलने लगनेवाली मलिनता के निवारणार्थ अधिक शुद्धि करनी चाहिये अर्थात् उत्तमाङ्ग को उत्तम शुद्ध रखना ही अत्युत्तम है । इसी कारण जूटेहाथ से स्पर्श करना भी सदा विचारपूर्वक त्याज्य है । उस शिर में मारना भी अन्य अङ्गों की अपेक्षा अधिक हानिकारक है शिर जीवन वा चेतनता शक्ति की स्थिति का मूल होने से ही मूंड़ कहाता है इस से किसी के शिर में कुछ न मारे । दोनों हाथ मिलाकर खुजलाना असंभव होने से एकसाथ दोनों हाथों से खुजलाने का निषेध भी पीड़ा न पहुंचने के लिये है । अन्य शरीर में लगा तेल शिर में न लगे अन्यशरीर छूकर शिर को न छुवे यह सब शिर की उत्तम शुद्धि रखने के लिये है । जिससे अच्छी शुद्ध धर्माधर्म का विवेचन करने वाली बुद्धि में कोई बाधा न पहुंचे ॥ ८२ । ७३ ॥

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः ।
सूनाचक्रध्वजवतां वेषेणैव च जीवताम् ॥
दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
दशध्वजसमो वेषो दशवेषसमो नृपः ॥
दश सूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः ।
तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः॥

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्त्तिनः।
स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥
तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ।
नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥
संजीवनं महावीचिं तपनं सम्प्रतापनम्।
संहारं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्त्तिकम् ॥
लोहशङ्कुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम्।
असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥
एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः।
न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्यश्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः
॥ ८४—९१ ॥

अ०—अराजन्यप्रसूतितो—राजन्यः क्षत्रधर्मकर्मयुक्तस्तद्भिन्नात्प्रसूतिरस्य तादृशाद्राज्ञो दानं स्नातको नाददीत। सूनाचक्रध्वजवतां—सूनापशुवधस्थानं तद्येषामस्ति तेषां सूनावतां—प्राणिनो हत्वा मांसविक्रयेण जीवताम्। लोके खटिकइति प्रसिद्धाइति मेधातिथिः, यवनादयोपीत्यन्ये। चक्रवतां तैलिनां शकटवाहनजीविनां चेत्यन्ये। ध्वजवतां मद्यनिर्माणविक्रयणशीलिनां वेषेणैव च जीवतां बहुरूपिणां पण्ययोषितां [अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति] इत्येतदनुसृत्य ये ब्राह्मणब्रह्मचारिसंन्यास्यादीनां वेषं धृत्वा

जीवन्ति वस्तुतस्तु न ये ब्राह्मणादयस्तेषामपि स्नातकः प्रतिग्रहं नाददीत । चक्रं चक्रजन्यमाजन्मिकं पापं दशसूनासममेवमुत्तरेष्व पापाधिक्यं बोध्यम् । यः सौनिकः सूनया सहचरितो दश सूनासहस्राणि वाहयति घातयति तत्तुल्यो निकृष्टप्रकृतित्वात्स्वयमधर्मनिष्ठो जरासन्धवकादितुल्योऽपि दैवात्प्राप्ताधिकारो राजाऽभिमतस्तस्मात्तस्य घोरः प्रतिग्रहो न कदाप्यादेयः । नरकादीनां प्राप्तिप्रदर्शने दातुरादातुर्दानस्य च निकृष्टतायास्तारतम्यानुकूलो निन्दार्थवादो बोध्यः ॥

भा०—नायमर्थवादोऽसंगतोऽपित्वर्थवानेवास्ति । सर्वत्रैव निकृष्टानामधर्मिणां च तारतम्येन नानाप्रकाराः सम्भवन्ति । राजपदेनापि नानाभेदभिन्नाः कस्यापि कियतोऽपि समुदायस्योपरिकृताधिकारिणो ग्राह्याः । यदर्थमेतदुक्तम्—“उद्भासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य,प्राग्जातविस्तृतनिजाधमकर्मवृत्तेः । दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य, नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः ? ” एवंविधा बहवो मध्येमध्ये दैवप्राबल्यात्प्राप्ताऽधिकाराः खलोद्बोधका लोकेऽसङ्करा मता अपि सङ्करा उत्पद्यन्ते ते च यशोलाभाय दानमपि कुर्वन्ति तादृशानां दानं धर्मनिष्ठेन स्नातकेन न कदाप्यादातव्यम् । दानेन तन्मैत्री तत्सङ्गस्तत्कथनानुमोदनं च सर्वं प्रतिग्रहशीलैः क्रियतएव । तथा च सति महतो धर्मस्य व्याघातोऽधर्मेणाच्छादनं च सम्भवमेव । यादृशः सोऽधिकृतः सापेक्षतयाऽधर्मनिष्ठो यादृशं च ततो दानादानं यादृशः सङ्गोऽनुमोदनं च तस्य तादृशान्येव नरकान्यपि

भवन्तीति योज्यम्। एकविंशतिविधानि विशिष्टदुःखहेतू
साधनानि स्थानानि च प्रायेण सम्भवन्ति। तेष्वेकैक
तारतम्येन नानाभेदा यथा देशकालवस्तुभेदेन नानावि
तमस्तत्प्रभूतमस्यामस्ति सा तमिस्रा रात्रिस्तस्याइदं तामि
ततोऽप्यधिकतरतमःप्रधानजातिरन्धतामिस्रपदवाच्या
एवं सर्वाण्येव नरकनामानि शब्दार्थभेदेन भिन्नप्रकारा
बोध्यानि। कुत्रापि देशे काले जातौ वा तामिस्रादित्वादी
प्राधान्यात्प्रयोगप्राचुर्येऽपि व्याप्तिस्तेषामवार्येव। यथा ज
शयेऽप्त्वप्राधान्येऽपि शुष्कमृत्काष्ठादौ जलतत्त्वस्य व
प्तिः संघातहेतुका विपश्चिद्भिस्स्वीक्रियते। तथैव नरका
पि सर्वदेशकालवस्तुष्वपि व्याप्तानि। यथा बालेनाल्पा
दुःखं सोढुं शक्यते तावच्चान्येन दुःखकोटावपि न ग
ते। एवं यत्कस्यापि नरकं सएवेतरस्य स्वर्गः सम्भवति
अतएव योगिनो ज्ञानिनोऽणिमाद्यष्टैश्वर्येष्वासक्तिर्याग
स्त्रे श्वेताश्वतरोपनिषदि चाष्टविधनरकावाप्तिरभिमत
स्नातकस्यापि स्वदशातोऽधःपतने तात्पर्यम्॥ ९१॥

भाषार्थः–(अराजन्यप्रसूतितो राज्ञो न प्रतिगृह्णीयात्) क्षत्रियपन के वै
धर्म कर्म से जो युक्त न हो ऐसे नाममात्र के निकृष्ट राजपुत्र से स्नातक ब्रा
प्रतिग्रह–धनादि का दान कभी न लेवे (सूनाचक्रध्वजवताम्) पशवादि का
करके मांस वेंच कर जीविका करने वालों [जिन को लोग खटिक कहते हैं
मेधातिथि की सम्मति है अन्य लोग यवनादि में विद्यमान सभी मांस विक्र
का ग्रहण करते हैं] चक्र नाम कोल्हू से तिल आदि बीजों को पीडने–पेरने
लों—लाखों बीज शक्तियों को नष्ट करने वाले तेलियों [गाड़ी चला
जीविका करने वालों का भी ग्रहण कोई करते हैं क्योंकि गाड़ी के प
का भी नाम चक्र है गाड़ी के नीचे दब २ कर जीवों की हिंसा अधिक हो
है] तथा मद्य बनाने और बेंचने द्वारा जीविका करने वालों और (वेश्या

जीवताम्) वहुतरूप वना २ कर जीविका करनें वाले-वहुरुपिया वेष्या और जो शास्त्रानुकूल वास्तव में ब्राह्मण , संन्यासी , वा ब्रह्मचारी नहीं हैं किन्तु जीविका—पूजा प्रतिष्ठा आदर सत्कार होने के लिये ब्राह्मणादि का वेष धारण करके जीविका करते वा भिक्षादि मांग कर खाते हैं उन सभी नीच वेषधारियों का दान स्नातक ब्राह्मण कभी न लेवे क्योंकि (दशसूनासमं चक्रम्) जन्मपर्यन्त कोल्हू वा गाड़ी चलाकर जीविका करने वाले को मध्यम प्रकार की दश पशुहत्या के समान पाप होता (दशचक्रसमो ध्वजः) चक्रसे जीविका करने वाले की अपेक्षा मद्य वनाने वेंचने वाले को दश गुणा अधिक हत्या का पाप लगता [इसी कारण लोक में तेली से भी अधिक नीच कलवार माने जाते हैं । परन्तु जिन के कुल में वहुत काल से मद्य का वनाना वेंचना तथा सेवन करना छूट गया हो उन को वैसा नीच नहीं मानना चाहिये । मद्य को पीने वाले भी सौ हत्या वालों की कोटि में पापी गिने जावेंगे] (दशध्वजसमो वेषः) तथा वेष वना कर जीविका करने वाले भांड़ वेष्यादि, मद्य वाले से भी दश गुणे अधिक हजार १००० हत्या के पापी हैं और (दशवेषसमो नृपः) जो धर्म को छोड़ के प्रजा को नानाप्रकार की पीड़ा पहुंचा कर धनादि लूट २ वा जो स्त्री आदि उत्तम वस्तु प्रजा में देखे उसी को छीनकर स्वार्थ सिद्ध करे ऐसा राक्षसी स्वभाव वाला महानीच राजा, वेषधारियों से भी दशगुणा अधिक दशहजार हत्या करने वाले के तुल्य पापी होता है (यः सौनिको दशसूनासहस्राणि वाहयति) जो हत्यारा [कसाई] दशहजार पशुओंका हनन करता है (तेन तुल्यो राजा स्मृतः) उसके तुल्य १०००० दशहजार हत्या का पापी वह राक्षस राजा है इसी कारण (घोरस्तस्य प्रतिग्रहः) उसका दान लेना बड़े भयका देनेवाला है (लुब्धस्योच्छास्त्रवर्त्तिनो राज्ञः) शास्त्र से विरुद्ध चल के अधर्म करने वाले लोभी स्वार्थी राजा का (यः प्रतिगृह्णाति) दान जो ब्राह्मण लेता है (स इमानेकविंशतिं नरकान् पर्यायेण याति) वह इन आगे कहे इक्कीश प्रकारके नरकों नाम दुःख के साधनों को क्रम से प्राप्त होता है (तामिस्रमन्धतामिस्रम्) १—अंधेरी रात्रिके तुल्य अत्यन्त अज्ञानान्धकार का जहां दुःख हो जिस दुःख से वचने का सहारा न दीखे । २—अन्धतामिस्र—अत्यन्त असीम अज्ञानमय वृक्षादि कासा तमोगुण होजहां वचने का कुछ भी उपाय न कर सके (महारौरवरौरवौ) ३—जहां दुःख से अत्यन्त रोना पड़े कोई सुनने वाला न हो ४—जहां रोने की सीमा ही न हो लगातार रोने के कारण मिलते जावें (नरकं कालसूत्रं च) ५—काल नाम मरण आ जाने का सूत्र नाम सिलसिला—लगातार मृत्यु

के कारण उपस्थित होते जांय जिस से अब मरा२ ऐसा भय बराबर बना (महानरकमेव च) ६-महाभयङ्कर दुःख जिस में हो ऐसी विपत्ति (संजीवन) ७-अत्यन्त शिथिल हो जाने पर जब उठना बैठना भी न हो सके कोई रक्षक न हो उस दशा का जीवन (महावीचिम्) ८-बड़ी प्रबल तरङ्गों में डूबने समय वा इसी के तुल्य अन्य दुःख (तपनम्) ९-तपना (संप्रतापनम्) सम्यक् तपना दाल आदि के समान रंधने की दशा में पहुंच जाना (संहारं) ११-मारे जाने का भय (सकाकोलम्) १२-किसी की बलात्कारता से विष कर मरने का भय (कुड्मलम्) १३-बड़े दिनों से परिश्रम किये कर्म का प्राप्त होने का समय आते ही जो विघ्न होने द्वारा इष्ट वियोग का दुःख (तिमूर्त्तिकम्) १४-अनिष्ट दुःखदायी पदार्थों की प्रतिकृति का वार २ दीखना ध्यान में आना (लोहशङ्कुम्) १५-लोहे की बर्छी आदि से छेदे जाने का जब उपस्थित हो (ऋजीषम्) १६-तपाये हुए लोहे पर डाल कर मारे ज के समय जो भय वा दुःख (पन्थानं शाल्मलीं नदीम्) १७-निरन्तर मार्ग चल का दुःख बलात्कार चलने पड़े जहां किसी प्रकार ठहरने का अवसर न मि १८-फसावट का दुःख जिस से निकलने का कोई उपाय न हो, १९-नदी के बी जहां अगाध भयङ्कर जल सब ओर भरा हो वहां बीच में पड़जाना जहां से डू विना निकलने का कोई उपाय न दीखे (असिपत्रवनं चैव) २०—तलवार की धार के तुल्य चारों ओर से लगाये हुए लोहमय वन के बीच राजप्रबन्धा से दौड़ा कर मारे जाने के समय का भय (लोहदारकमेव च) २१—अत्यन्त त पाये लोहमढ़े मार्ग पर राजाज्ञा से चल कर मारे जाने का समय, ये इक्की प्रकार के नरक दुःख हैं (एतद्विदन्तो ब्रह्मवादिनो विद्वांसो ब्राह्मणाः) असत्प्र तिग्रह में वा कुसङ्ग से ऐसे २ नरक दुःख प्राणियों को भोगने पड़ते हैं ऐसा जा नते हुए वेदपाठी वेदतत्त्वज्ञ ब्राह्मण लोग (प्रेत्य श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः) जोकि भवि ष्यत् में विपत्तियों से बच के अपना कल्याण चाहते हैं वे (राज्ञो न प्रतिगृह्ण न्ति) वैसे नीच राजा से दान लेने का अभ्यास नहीं करते वा वार २ दान लें उस के अनुमोदनादि संग से सदा ही बचा करते हैं ॥

भा०-यह विधि वा अर्थवाद असंगत नहीं किन्तु सार्थक ही है। सर्वत्र ही निरा और अधर्मियों के चढ़ते उतरते अनेक प्रकार हो सकते हैं। और राजा कहने से भी कितने ही बड़े किसी समुदाय पर अपना अधिकार वा दवाव रखने वाले

सभी का ग्रहण करना चाहिये। जिस के लिये भर्तृनीति में यह कहा है कि "सब नीच दुष्टों को उभाड़ने सहायता देने, किसी धर्मादि वा लोक लज्जादि की रुकावट को न मानने, पूर्वजन्मादि के से संचित अतिनीच कर्मों की प्रबलता से धर्म विरुद्ध चलने की दृढ़ बुद्धि रखने वाले किसी अच्छे प्रारब्धोदय से सम्पत्ति वा अधिकार को प्राप्त हुए और शुभगुणों से द्वेष रखने वाले ऐसे नीच महानीच पुरुष के निकट कौन सुखी रह सकता है ? अर्थात् कोई नहीं" संसार में बीच २ ऐसे बहुत से दैवयोग से अधिकार को प्राप्त हुए, खलों को चिताने वाले लोक में असंकर वा अच्छे माने जाते हुए भी वस्तुतः संकर—नीच छोटे वा बड़े राजा कहाने वाले उत्पन्न होते रहते हैं [जैसे पूर्वकाल में कंस, जरासन्ध, शिशुपाल, वक आदि हो गये हैं] वे अपनी कीर्त्ति के लिये दान भी करते वा धर्मात्मा विद्वानों को भी दानादि दे के अपना साथी प्रशंसक खुशामदी बनाना चाहते और उद्योग करते हैं। वैसों का दान धर्मनिष्ठ सदसद्विवेकी विद्वान् गृहस्थ को कदापि न लेना चाहिये। दान लेने से उन से मित्रता उन का संग और उन के विचारों का अनुमोदन दान लेने के स्वभाव वाले प्रायः करते ही हैं। ऐसा होने से धर्म को धक्का लगना, महान् धर्म का नाश और अधर्म से धर्म का दब जाना सम्भव ही है। वह अधिकारी-राजा—चौधरी [अफसर] जैसा बड़ा अधर्मी होगा, जैसे न्यूनाधिक समय तक जैसे अच्छे बुरे वस्तुओं का दान उस से लिया जायगा और जैसा उस का न्यूनाधिक सङ्ग तथा अनुमोदन दान लेने वाला करेगा उस को वैसा ही न्यूनाधिक दोष लग कर वैसी ही कक्षा के नरक नामक दुःख भी भोगने पड़ेंगे [कीचड़ आदि का संग करने वाले को कीचड़ लगता, जलाशय में घुसने पर जल लगता, समीप बैठने से शीत लगता, अग्नि के निकट आंच लगती, यों सर्वत्र ही संग का गुण अवश्य लगता है वैसे ही जो पापी दुष्ट का जैसा संग करेगा वैसा पाप दोष उस को अवश्य लगेगा। और उस पाप दोष का फल भी वैसा अवश्य होगा यही नरक दुःखों का अभिप्राय है। सब पापों और दुःखों के भोग का मूल कारण प्रथम कुसङ्ग ही है और किसी प्रकार का लेन देन संग हुए विना हो ही नहीं सकता। चोरों दुष्टों जुआरियों के संग से कैसे २ बड़े अनर्थ होते हैं सो छिपा नहीं] इक्कीश प्रकार के विशेष दुःख के हेतु साधन वा स्थान प्रायः हो सकते हैं जिन के अन्तर्गत सब बड़े २ दुःख आजायंगे उन एक २ में न्यूनाधिक अनेक भेद होंगे। जैसे देश काल वस्तु भेद से अन्धकार अनेक प्रकार का होता

उस के अनुसार तामिस्र नामी दुःख भी अनेक प्रकार का होगा । इसी प्र
सब नरकों को शब्दार्थों के भिन्न २ होने से भिन्न २ प्रकार के जानो । कि
देश काल वा जाति में तामिस्रादिपन के अधिकतर होने से वहां अधिकांश
मिस्रादि का व्यवहार होने पर भी उन का सर्वत्र होना खण्डित नहीं हो सक
जैसे जलाशय में जल की अधिकता रहने पर भी सूखी मिट्टी काष्ठादि
उन २ के परमाणु जुड़े रहने के कारण जलतत्त्व की सर्वत्र व्याप्ति विचारशील
श्य मानते हैं । वही जल भाफ वा धुंआ हो कर जब अग्नि के संयोग से
जाता तब उस वस्तु को जल गया कहते हैं । वैसे ही नरक भी सब देश काल
व्याप्त हैं । जैसे बालक थोड़ा ही दुःख सह सकता है । उतना दुःख अन्य
जन को दुःख ही नहीं जान पड़ता । इस प्रकार जो किसी के लिये नरक
वही अन्य के लिये स्वर्ग हो सकता है । इसी कारण ज्ञानी योगियों के
अणिमादि अष्ट सिद्धियों में फस जाना–योगशास्त्र तथा उपनिषदों में ८ प्रकार
नरक माना है । इसी के अनुसार स्नातक गृहस्थ का अपनी दशा से नीचे
क्रमानुसार गिर जाना ही नरक कहने का प्रयोजन है ॥ ८४–९१ ॥

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च
उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहित
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकालेचापरां चिर
ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः
प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च॥९२–९

अ०–ब्राह्मे मुहूर्त्ते रात्रेः पश्चिमे भागे बुध्येत जागृ
यात् । धर्मार्थौ परस्पराविरोधेन कथं सेवेयैकेनेतरस्य हानि
कथं न स्यादिति चिन्तयेत् । तयोर्विप्रतिषेधे तु धर्मं कथं
प्रधानीकुर्यामिति च ध्यायेत् । धर्मार्थोपार्जनहेतून् काय

क्लेशानप्यनुसन्दध्यात् । कथं नु? स्वल्पीयसा शारीरप्रयासेन महान्तौ धर्मार्थौ निर्वर्त्तयाताम् । कथं वा गरीयान् प्रयासोऽल्पीयसोर्धर्मार्थयोः साधकोऽनर्थको न गरायेत । तथा वेदस्य तत्त्वार्थमीश्वराराधनं ब्रह्मयज्ञादिना कया रीत्या क्रियमाणं सफलं सुफलं च स्यादिति सर्वं बुद्ध्वा शय्यायां प्रसृत आसीनो वा चिन्तयेत् । शय्यातः सर्वथैवालस्यं प्रक्षिप्योत्थायावश्यकं मूत्रपुरीषोत्सर्गादिकं कृत्वा पञ्चमाध्यायोक्तरीत्या [अ० ५ । १३६] कृतशौचः स्नात्वा च समाहित आकुलतां विहाय यतचित्तेन्द्रियक्रियः पूर्वां प्रातःकालीनां सन्ध्यां जपन् संस्तिष्ठेत् । स्वकालेऽस्तकालात्पूर्वमेवारब्धामपरां सायंतनीं सन्ध्यां चिरं सम्यगृक्षविभावनावधि जपन्नासीत । अल्पकालिकां सन्ध्यां न कुर्यादित्याशयः । दीर्घा सन्ध्या येषां तेषां भावो दीर्घसन्ध्यत्वं तादृशकारणादृषयो दीर्घमायुः प्रकृष्टां बुद्धिं भूयिष्ठं यशो लोके महत्त्वपूज्यत्वयोः परेषां ज्ञानं, बृहतीं कीर्त्तिं स्वस्य शुभगुणानां परैः कीर्त्तनं भूयिष्ठं ब्रह्मवर्चसं ब्राह्मं तेजएव कालत्रये चावाप्नुयुरवाप्तुमर्हन्ति ॥

भा० — ब्रह्मचारिप्रकरणे ब्रह्मयज्ञार्थौ विधिरर्थवादश्च भूयानुक्तोऽप्यत्र स्नातकव्रतदार्ढ्यार्थोऽनुवादः । द्वयोराद्ययोर्विध्यनुवादोऽन्तिमपद्ये चार्थवादः । एवं कुर्वाणएव गृहस्थ आधिक्येनानिष्टं हित्वेष्टमवाप्नोति । यद्यपि धर्मार्थयोरखिलो विरोधस्तु केनाप्यपरिहार्यएव तथापि धर्मस्य यथा प्राधान्यं स्यात्तथा सुज्ञेन कार्यमिति "सर्वान् परित्यजेदर्थाः

न्स्वाध्यायस्य विरोधिनः। अ० ४। १७" इत्यादिग्रन्थस्यां कभागेन मध्येमध्ये मुहुर्मुहुः सूचयति ग्रन्थकारः। र्हितं च पूर्वं निपततीति धर्मपदस्य पूर्वनिपातचेष्टि त्रापि तेन विज्ञापितमेतत्। नहि धर्मप्राधान्यमन्तरेण दर्शनज्ञानवैशारद्यं सदसद्विवेकित्वं नचर्षित्वेन विना सन्ध्या केनापि समाहितचेतसा जपादिकुर्वता व्यतीय नच तादृशसन्ध्योपासनब्रह्मयज्ञानुष्ठानमन्तरेण कस्य दीर्घायुष्ट्वादिकं संभवति। तस्माच्छ्रेयोऽभीप्सता गृहि वश्यमेतत्तत्परतया सर्वं ब्राह्ममौहूर्त्तिकं कार्यं साध्यम्।

भाषार्थः—(ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत) रात्रि के चौथे पहर चार छः घड़ी गृहस्थ पुरुष चिन्ता रख कर सदा जागे (धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्) और कर सब से पहिले धर्म और निर्वाहार्थ अन्न धनादि के उपार्जन की चिन्त कि धनादि के उपार्जन करने में ऐसी कौन २ रीति है जिस से धर्म भी बना रहे धर्म का नाश न होने पावे और धनादि भी संचित होता रहे और दो में एक ही काम हो सकता हो वहां धनादि प्राप्ति में बाधा होते भी की मुख्य कर रक्षा किस प्रकार करूं (तन्मूलान् कायक्लेशांश्च) उन धर्म धनादि अर्थ का संचय करने के मूल कारण शरीर के परिश्रमरूप क्लेशों का चिन्तन करे कि थोड़े परिश्रम वा कष्ट से अधिक २ धर्म अर्थ की प्राप्ति कै सके ? और बड़े २ प्रबल परिश्रम वा कष्ट से थोड़े २ धर्म अर्थ की सिद्धि पर परिश्रम की निष्फलता कैसे न गिनी जाय ? तथा (वेदतत्त्वार्थमेव च) ब्रह्मयज्ञ—सन्ध्योपासन द्वारा वेद के तत्त्वसिद्धान्तरूप ईश्वर की आराधना रीति से किया करूं ? जिस की उत्तम सफलता इसी वर्त्तमान शरीर में प्र दीख पड़े। यह सब शय्या पर बैठा वा लेटा हुआ ही प्रथम शोचे (उत्था वश्यकं कृत्वा) तदनन्तर सर्वथा ही आलस छोड़ शय्या से उठ और मलमू त्यागरूप आवश्यक कर्म को करके (कृतशौचः समाहितः) अ० ५ श्लोक में कहे अनुसार मट्टी जल से हाथ आदि की शुद्धि करके सन्ध्योपासन के प्रथम से चित्त को सावधान एकाग्र करे सब इन्द्रियों को भी अपने २ विषयों

और भागने से विचार पूर्वक वश में करे चित्त की चञ्चलता-व्याकुलता को छोड़ जितेन्द्रिय हुआ (पूर्वां सन्ध्यां जपन् तिष्ठेत्) प्रातःकाल की संध्या में जप करता हुआ खड़ा रहे-खड़े होकर सावित्री का जप करे [प्रातःकाल बैठ कर सन्ध्या करने में शीघ्र छोड़ा निद्रारूप तमोगुण प्रबल पड़ना सम्भव है] (स्वकाले चापरां चिरम्) सूर्यास्त समय से कुछ पूर्व ही से आरम्भ की सायंकाल की सन्ध्या में सब तारागण दीख पड़ने समय तक बैठ के सावित्री का जप करे । अर्थात् लेभगई की सन्ध्या शीघ्र करके समाप्त न कर देवे । (दीर्घसन्ध्यत्वादृषयो दीर्घमायुः) सावधानता जितेन्द्रियता के साथ ठीक २ यथोचित दीर्घकाल तक सन्ध्या करने से ही ऋषिलोग दीर्घ आयु को (प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिं च ब्रह्मवर्चसम् एव च) शुद्धबुद्धि, यश अपने महत्त्व पूज्य बड़प्पन का लोगों को ज्ञान और कीर्त्ति नाम अपने शुभ गुणों कहा जाना और ब्राह्मणपन वा ऋषिपन के तेज को प्राप्त हुए तथा होते हैं ॥

भा०-द्वितीयाध्याय ब्रह्मचर्य प्रकरण में ब्रह्मयज्ञ का विधान और आवश्यकता वा फल दिखा चुके हैं तथापि स्नातक गृहस्थ को इस नियम के साथ सन्ध्योपासन करने की आवश्यकता दिखाने के लिये उसी का विशेषता के साथ अनुवाद किया है । पहिले दो श्लोकों में विधि का अनुवाद और तृतीय में विधि अर्थवाद कहा है । ऐसा करता हुआ ही गृहस्थ अधिकता से अनिष्ट को छोड़ इष्ट सुख को प्राप्त हो सकता है । यद्यपि धर्म और अर्थ का सम्पूर्ण विरोध दूर नहीं हो सकता अर्थात् धनादि के लिये कोई भी उपाय ऐसे नहीं हो सकते जिन के साथ अधर्मांश न रहे तो भी जिस प्रकार धर्म की प्रधानता बनी रहे वैसा उपाय करना चाहिये "वेदाध्ययनादि मुख्य धर्म के विरोधी धनादि प्राप्ति के अन्य सभी कामों को छोड़ देवे" मनु जी ने बीच २ में सूचित किये इत्यादि कथन से बार २ धर्म को प्रधान-बड़ा रखने के लिये सूचित किया है । और अतिप्रशस्त धर्मपद का पूर्व प्रयोग करके यहां भी धर्म की प्रधानता मनु जी ने दिखायी है। धर्म की प्रधानता-अधिकता हुए विना ऋषिपन जो ज्ञान की शुद्धि स्वच्छता सत्यासत्य का विवेकरूप है वह प्रकट उज्ज्वल नहीं होता और ऋषिपन के उभड़े विना समाहित चित्त से जपादि करता हुआ दीर्घ काल सन्ध्या में कोई व्यतीत नहीं कर सकता । और ऐसे उत्तम प्रकार के ब्रह्मयज्ञ का अनुष्ठान किये विना दीर्घायु होने आदि की इष्टसिद्धि भी किसी को नहीं हो सकती । इस कारण

अपना कल्याण चाहने वाले गृहस्थ को सावधान हो तत्परता श्रद्धा भ
प्रातः सायंकाल का सब कृत्य अवश्य ही करना चाहिये ॥९२-९४॥

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथावि
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्द्धपञ्चम

अ०—विप्रः स्नातको गृही श्रावणस्य पौर्णमास्यां भा
स्य वा यथाविधि गृह्यसूक्तोक्तविधिनोपाकृत्योपाकर्मा
कर्म कृत्वाऽर्द्धः पञ्चमो येषु तान् सार्द्धचतुरो मासान् यु
स्तत्परो नियमेन छन्दांसि वेदानधीयीत ॥

भा०—अत्र कालात्यन्तसंयोगे द्वितीया । तेन स
तकोऽविच्छिन्नवेदाभ्यासारम्भसूचकं गृह्यमुपाकर्म यथो
विधिना कृत्वा दृढतमं श्रेष्ठतमं च निश्श्रेयस्करतरं वे
भ्यासं परमं धर्मं मत्वा तत्परतया नित्यं सेवेत ॥ ९५ ॥

भाषार्थः—(विप्रः श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वायथाविध्युपाकृत्य) गृहस्थ
श्रावण की वा भाद्रमास की पौर्णमासी के दिन गृह्यसूत्रों में लिखे अनु
उपाकर्म नामक स्मार्त्त कर्म करके (युक्तोऽर्द्धपञ्चमान् मासान् छन्दांस्यधीयी
तत्पर हुआ नियम के साथ साढे चार महिने बराबर वेदों के पढ़ने विचा
अधिक समय लगावे ॥

भा०—साढ़े चार महिने में एक दिन को भी वेदाभ्यास का नियम न
जाय । वेदाभ्यास के वार्षिक नियम की प्रतिज्ञा के सूचक गृह्य उपाकर्म को
धि पूर्वक करके अतिदृढ़ अतिश्रेष्ठ निःश्रेयस्के मुख्य हेतु वेदाध्ययन को पर
म मान कर पूरा २ ठीक २ नित्य सेवन करे ॥ ९५ ॥

पुष्ये तु छन्दसां कृत्वा बहिरुत्सर्जनं द्विज
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि
यथाशास्त्रन्तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहि
विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥

अ०-पुष्ये पौषशुक्लपक्षस्य माघशुक्लपक्षस्य वा प्रतिपदि पूर्वाह्णे यथाशास्त्रं गृह्यसूत्रोक्तप्रकारेण वहिर्ग्रामनगरादिजनसमुदायाद् बाह्यप्रदेशे निःसृत्य छन्दसां वेदाध्ययनस्योत्सर्गाख्यं कर्म कुर्यात् तदनन्तरं पक्षिणीं रात्रिं दिनद्वयमेकां रात्रिं च यद्वा तदेवैकमहर्निशं वेदाध्ययनतो विरमेत्स्नातकः ॥

भा०—यदि श्रावण्यामुपाकर्म कृतं तदा पौषशुक्लप्रतिपदि यद्वा भाद्रपद्यामुपाकृतं चेन्माघशुक्लप्रतिपद्युत्सर्गः कार्यः । दक्षिणायने सौरतेजोह्रासादिन्द्राणी शची प्रज्ञाऽपि बाह्यतमःप्राबल्यान्मन्दा जायते । मन्दायामेव च प्रज्ञायां पूर्वसंचिततमःप्रधानदुर्वासनारूपपापस्योद्बोधनेऽधिकाऽधर्मप्रवृत्तिर्जायते तस्य तिरोभावाय दक्षिणायनकाले नियमनाधिकतया वेदाभ्यासः कार्यः । अर्थादन्याङ्गादीनामप्यध्ययनाध्यापने विहाय वेदस्यैवाध्ययनं कार्यमित्युपाकर्मोत्सर्गयोर्विशिष्टं प्रयोजनमीक्षणीयं विपश्चिद्भिः ॥ ९७ ॥

भाषार्थः-(पुष्ये तु माघशुक्लस्य वा प्राप्ते प्रथमेऽहनि पूर्वाह्णे) पौष महीने वा माघ महीने के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन दोपहर से पूर्व समय (वहिश्छन्दसामुत्सर्जनं कृत्वा) ग्राम वा नगर से बाहर जाकर वेदाध्ययन का उत्सर्ग नामक कर्म करके (एवं यथाशास्त्रं छन्दसां वहिरुत्सर्गं तु कृत्वा) ऐसे गृह्यसूत्रों में लिखे अनुसार वेदाध्ययन का उत्सर्गरूप विधान ग्राम से बाहर करने पश्चात् (पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशं वा विरमेत्) दो दिन और एक रात्रि अथवा उसी एकदिन और एक रात विधिपूर्वक वेदाध्ययन का अनध्याय रक्खे॥

भा०-यदि श्रावण की पौर्णमासी को उपाकर्म [वार्षिक विधिविहित स्वाध्यायारम्भ सूचक माङ्गल्य] किया हो तो पौष की अमावास्या को साढ़े चार मास पूर्ण होंगे इस लिये पौष की शुक्ल प्रतिपदा को प्रातःकाल उत्सर्ग करे और

भाद्रपद की पौर्णमासी को उपाकर्म किया हो तो माघ की शुक्ल प्रति को साढ़े चार मास पूर्ण होने पर उत्सर्ग कर्म करें। दक्षिणायन में सूर्य की की मन्दता होने से सूर्यतत्त्व से सम्बन्ध रखने वाली सूक्ष्म सत्त्वगुण रूप बुद्धि जो सूर्यनामक इन्द्र की शक्ति होने से इन्द्राणी और शची भी कहाती है वेद के कोष निघण्टु में शची नाम प्रज्ञा–बुद्धि का है वह भी बाहरी तमोगु बढ़ने से मन्द हो जाती है। और बुद्धि जो सत्त्वगुण प्रकाशरूप है उस के होने पर ही पूर्वकाल से अन्तःकरण में संचित, तमोगुण मय दुर्वासना [खो यालात) रूप पापों के जागने प्रबल होने से व्यभिचार चोरी आदि की प्रवृत्ति होती और दक्षिणायन में अज्ञान के साथी तमोगुण की वृद्धि होने उत्तरायण की अपेक्षा प्राणियों को रोग और मरण भी अधिक होते हैं यह लोक में स्वयं सिद्ध है। उन सब विघ्नों की शान्ति के लिये वा उपद्रव दबाने के लिये दक्षिणायन के साढ़े चार महीनों में नियम के साथ अधि दाभ्यास करना चाहिये अर्थात् अन्य वेदाङ्गादि का पठनपाठन छोड़ के कर वेद का ही पठनपाठन समझ पूर्वक लगातार साढ़े चार महीने करे उपाकर्म और उत्सर्ग विधि का विशेष प्रयोजन ज्ञानचक्षु से विचारशीलों दीखने योग्य है। क्योंकि अन्धकार बढ़ने पर ही दीपकादि जलाने की आवश्यकता सर्वत्र हुआ करती है॥ ९७॥

अतऊर्ध्वन्तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठे
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठे
नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसंनिधौ।
न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वप
यथोक्तेनैव विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठे
ब्रह्मछन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि १०

अ०—अतोऽर्द्धं पौषादर्द्धं माघाद्वोर्ध्वमनन्तरमुत्तराय कालेऽनागतोपाकर्मावधि शुक्लपक्षेषु नियमेन वेदान् पठे

ठयेच्च सर्वाणि वेदाङ्गानि च कृष्णपक्षेषु सम्यक् पठेदध्याप-येच्च । न स्फुटस्वरवर्णाभिव्यक्तिरहितं वेदं, नच शूद्रज-नसन्निधौ वेदमधीयीत । नापि रात्रेश्चतुर्थे याम उत्थाय ब्रह्माधीत्य परिश्रान्तः सन् पुनः स्वप्यादपित्वन्यशुभकृत्ये लग्नः कालं यापयेत् । युक्तो वेदाध्ययने तत्परो द्विजः स्नातको यथोक्तेन विधिना गायत्र्यादिछन्दोभिर्निर्मितवेदभागं छन्दस्कृतं, ब्रह्म—गायत्र्यादिछन्दोरहितं छन्दस्कृतं चेति प्रकारद्वययुक्तं यजुश्च नित्यं पठेत् ॥

भा०—शुक्लपक्षेषु सर्वदैव प्रकाशोन्नतिकारणाच्चन्द्रकलावर्धनेन मनसश्चन्द्रकार्यस्य दृष्टत्वाच्च सत्त्वगुणाधिक्ये वेदानधीयीत । येनाध्ययनं विशिष्टफलद्योतकं यथास्यात् । कृष्णपक्षे तमोगुणाधिक्ये वेदाङ्गानि वेदार्थावगमसहायकानि भवेयुरिति मत्वा पठेत् । शूद्रजनसन्निधौ दुर्गन्धादिना कोलाहलेन वा मनसो विक्षेपाद्वेदाध्ययनं निष्फलमिव स्यात् । शूद्रा दूरस्थाश्चपि निस्सरणादिना वा वेदाध्ययनं शृणुयुश्चेन्न तत्र कोऽपि दोषः । छन्दस्कृतपदेन गद्यब्राह्मणाद्यपेक्षया पद्यरूपमूलवेदस्य प्राशस्त्यमत्र बोधितम् । अतिजगत्यादिछन्दोपेक्षयापि गायत्र्यादिछन्दसां मूलत्वेन सारत्वेन च प्राधान्यमेवावगन्तव्यम् [व्याकरणादिभाष्याणामिव प्राचीनतरवेदभाष्याणां ब्राह्मणादिग्रन्थानामपि पूर्वकालादेव गौणत्वेन वेदपदव्यपदेश्यत्वमासीदिति जानतैव ग्रन्थकृता स्वाध्यायत्वेन ब्राह्मणादिगद्यनिर्मितानामाम्नानवारणायैवात्र छन्दस्कृतमन्त्रात्मकंमूलवेदस्यैवाध्ययने वेदाध्ययनमिति सूचितम्] ॥ १०० ॥

भाषार्थः—(अत ऊर्ध्वन्तु) आधे पौष वा आधे माघ महिने से आगे उत्तरायण काल में आगामी उपाकर्म के समय पर्यन्त (शुक्लेषु) प्रतिमास के शुक्ल पक्षों में (नियतश्छन्दांसि पठेत्) नियम के साथ वेदों का पठन पाठन (सर्वाणि वेदाङ्गानि च कृष्णपक्षेषु संपठेत्) और व्याकरणादि वेद के सब अङ्गों का पठन पाठन उत्तरायण के शुक्ल पक्षों में सम्यक् किया करे (नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसंनिधौ) और वेद को ऐसा कभी न पढ़े वा पढ़ावे जिस में स्वर और ठीक २ स्पष्ट न सुने जाते हों, न शूद्रों के सहवास में समीप रहता हुआ। (न ब्रह्माधीत्य परिश्रान्तो निशान्ते पुनः स्वपेत्) यदि रात्रि के चौथे प्रहर उठ कर वेद का पाठ करके थक जावे तो समीप वा शीघ्र प्रातःकाल होने दशा में फिर न सोवे किन्तु उस समय अन्य शुभ कार्य सन्ध्योपासनादि में उस समय का सोना अतिबुरा है। (अनापदि युक्तो द्विजः) जिस समय आपत्काल वा किसी प्रकार आवश्यकता परवशता न हो तो वेदाध्ययन तत्पर रहता हुआ स्नातक ब्राह्मण (यथोक्तेनैव विधिना) पूर्व कहे विधान अनुसार ही (नित्यं छन्दस्कृतं ब्रह्मछन्दस्कृतं चैव पठेत्) नित्य २ गायत्री आदि सात छन्दों वाले वेद मन्त्रों को और जिस में छन्दस्कृतनाम पद्य भाग भी मिला और कुछ गद्यसा भी है ऐसे ब्रह्म नाम यजुर्वेद को भी पढ़े। अर्थात् ऋक्, साम और अथर्व नामक गायत्री आदि सात छन्दों में बना मन्त्रभाग केवल छन्दस्कृत कहाता और यजुर्वेद में दोनों प्रकार होने से वह ब्रह्म छन्दस्कृत कहाता है इस लिये स्वाध्याय बुद्धि से मन्त्रभागरूप मूल वेद का ही पुण्य संचयार्थ अभ्यास करे किन्तु वेद के व्याख्यानरूप ब्राह्मण भाग वेद के तुल्य प्रशस्त हैं भी तो भी उन के पढ़ने में वैसा पुण्य नहीं इस कारण वेद के स्थान में ब्राह्मणों का अध्ययनाध्यापन कभी न करे किन्तु वेदाङ्गों में उन ब्राह्मणादि ग्रन्थों को सब से उत्तम मान कर पढ़े पढ़ावे [यहां ग्रन्थकार ने छन्दस्कृत मन्त्रात्मक मूल वेद के अध्ययन विधि में आवश्यकता दिखाने से ब्राह्मणादि के वेदत्व की गौणता जता कर अध्ययनविधि से अलग होना जताया है]॥

भा०—शुक्ल पक्षों में सभी समय प्रकाश की उन्नति होती और चन्द्रमा की कला बढ़ने से चन्द्रमा के कार्य मन के हर्षित होने से सत्त्वगुण रूप प्रसन्नता की अधिकता में वेदों को पढ़े जिस से वेदाध्ययन विशेष फल दिखाने वाला हो। तमोगुण की अधिकता के समय कृष्णपक्ष में वेदार्थ के बोध होने में सहायता देने वाले मान के व्याकरणादि वेदाङ्गों को पढ़ा करे। शूद्र–नीच जनों के समीप

गन्ध वा कोलाहल—हल्ला गुल्ला अधिक होने पर मन के विक्षेप होने वा चञ्चल रहने से वेदाध्ययन निष्फलसा होगा । शुद्ध एकान्त देश में मन को एकाग्र करके वेदाध्ययन करते समय दूर से वा निकलने आदि द्वारा शूद्र लोग वेद को सुन लें तो कोई दोष नहीं । छन्दस्कृतपद से गद्य ब्राह्मणादि की अपेक्षा पद्यरूप मूल वेद की उत्तमता जतायी है । और अतिजगती आदि छन्दों की अपेक्षा भी गायत्र्यादि छन्दों की मूल वा सार होने से प्रधानता ही जानो । ओ३म् पद सब वेदों का मूल वा सार बीजरूप होने से दैवी गायत्री कहाता और सब गायत्रियों से भी अत्यन्त सर्वोपरि उत्तम मानागया है ॥ १०० ॥

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत् ।
अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥

अ०-गुरुशिष्यौ वेदाध्ययनाध्यापने कुर्वाणौ वक्ष्यमाणाननध्यायान् विवर्जयेताम् ॥

भा०—इत आरभ्य सप्तविंशतिपद्यैर्वेदाध्ययनानध्यायाः प्रदर्श्यन्ते । सर्वाण्येव कर्माणि यथा निर्विघ्नानि क्रियमाणानि सुफलीभवन्ति न तथा सविघ्नानीति । वेदाध्ययनं च सर्वापेक्षया परमो धर्मस्तस्य तादृशेनैव फलेन भाव्यम् ॥

भाषार्थः—(अधीयानो विधिपूर्वकं शिष्याणामध्यापनं च कुर्वाणः) वेदोंको पढ़ने वाला और विधिपूर्वक शिष्यों को वेद पढ़ाने वाला अध्यापक गुरु (इमाननध्यायान् नित्यं विवर्जयेत्) इन आगे लिखे जाने वाले अनध्यायों को सदा ही छोड़ते रहें ॥

भा०—यहां से आगे १२७ वें श्लोक तक सत्ताईश श्लोकों से वेद पढ़ने के अनध्यायों का विचार दिखाया गया है । सभी काम निर्विघ्न किये जाने वाले जैसे सुफल होते वैसे विघ्नों सहित किये हुये कदापि अच्छे नहीं होते और वेद का विधिपूर्वक नियम के साथ अभ्यास करना सब धर्मों से बड़ा परमधर्म है उस का फल भी वैसा ही उत्तम होना चाहिये तभी वह परमधर्म जान पड़े ॥ १०१ ॥

कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने ।
एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च सम्प्लवे।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥
एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्निषु।
तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥
निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने।
एतानाकालिकान् विद्यादनध्यायानृतावपि।
प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने।
सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा

अ०-रात्रौ श्रोत्रश्रवणयोग्ये दिवा च धूल्युड्डायके ऽनिले वायौ वाति, विद्युतो विद्योतने गर्जने मेघे च वर्षति सह त्रिषु सत्सु महोल्कानामाधिक्येन पाते च, आकालिकोऽष्टयामावधिकः। यदा होमार्थं प्रज्वलिताग्निकाले विद्युदादीनामुपद्रवान्विद्याज्जानीयात्तदा वर्षास्वेवानध्यायं जानीयान्नान्यदा। अनृतौ शरदादौ तु मेघाच्छन्ननभोदर्शनेऽपि आकालिकमनध्यायं विद्यात्। निर्घातेऽन्तरिक्षध्वनौ भूकम्पे ज्योतिषां चोपसर्जने चन्द्रादीनामन्यैः संनिकर्षे, ऋतावपि वर्षास्वपि। होमार्थं प्रज्वालिताग्निकाले वृष्टिमन्तरेण विद्युतो दीपनशब्दावेव यदा भवतस्तदा तत्कालाच्छेषे रात्रौ दिवा वाऽनध्यायः कार्यो नाकालिकः ॥

भा०—इन्द्रियवैकल्यजनकप्रचण्डवाय्वादिकाले समाहितो वशीकृतेन्द्रियग्रामो वा वेदाध्ययनं नैव कर्त्तुं शक्नोति

तेन नैष्फल्यसम्भवात्तादृशकाले वेदाध्ययनप्रतिषेधः । सन्ध्याकालेऽग्निहोत्रे क्रियमाणे सत्युपद्रवे सन्ध्यामग्निहोत्रं च संक्षेपेण कुर्याद्विशिष्टस्वाध्यायस्य च निषेधो नतु क्रियमाणमग्निहोत्रादिकं मध्ये त्याज्यम्। ग्रहोपसर्गेऽपि चन्द्रादित्यगुणाः पार्थिववस्तुसंबद्धा विपरियन्ति तेनेन्द्रियमनोनिग्रहो दुष्करः । इन्द्रियमनोनिग्रहश्च स्वाध्याये साफल्यायावश्यं प्रधानीकार्यएवेत्यन्तराशयः ॥ १०६ ॥

भाषार्थः-(रात्रौ कर्णश्रवेऽनिले) जिस का प्रवल शब्द कानों में सुन पड़ता हो ऐसा वायु [आंधी] चलते समय रात्रि में (दिवा पांसुसमूहने) दिन में अधिक धूलि उड़ाने वाला वायु चलते समय (अध्यायज्ञा एतौ वर्षास्वनध्यायौ प्रचक्षते) वेदाध्ययन रूप स्वाध्याय के मर्म को जानने वाले विद्वान् महर्षिलोग इन दो अनध्यायों को वर्षा ऋतु में कहते हैं (विद्युत्स्तनितवर्षेषु) जब विद्युत् चमकना, वादल गर्जना और वर्षना ये तीनों एक साथ हों और (महोल्कानां च संप्लवे) जब बड़े २ अनेक उल्कापात तारागण के समान आकाश से टूट२ गिरें (एतेष्वाकालिकमनध्यायं मनुरब्रवीत्) इन सब अवसरों में उपद्रव के समय से फिर अगले दिन वही समय आने पर्यन्त आठ प्रहर वेदाध्ययन का अनध्याय मानना मनु जी ने कहा है (यदा प्रादुष्कृताग्निष्वेतानभ्युदितांस्तु विद्यात्) जब होम करने के लिये अग्नि को प्रज्वलित कर लेने पर वर्षा ऋतु में इन विद्युत् चमकने आदि उपद्रवों को होते जाने (तदा विद्यादनध्यायम्) तव भी अनध्याय करना ठीक जाने (अनृतौ चाभ्रदर्शने) वर्षा ऋतु से भिन्न समय में केवल वद्लों के दब आने पर ही अनध्याय मान लेवे (निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने) अन्तरिक्ष में तीव्र ध्वनि होने, भूकम्प होने और तारों वा ग्रहोंका परस्पर संसर्ग मेल होने समय पर (ऋतावपि) वर्षा ऋतु में भी (एतानाकालिकाननध्यायान् विद्यात्) इन को दिन रात अष्टप्रहर के लिये अनध्याय जाने (प्रादुष्कृतेष्वग्निषुतु) होमार्थ अग्नियों के प्रज्वलित कर लेने पर यदि (विद्युत्स्तनितनिःस्वने) विद्युत् का चमकना और गर्जना ही हो किन्तु वर्षा न हो तो (अनध्यायः सज्योतिः स्यात्) एक दिन भर वा रात्रि भर अनध्याय माना जाय

(यथा शेषे दिवा रात्रौ) जैसे उपद्रव के समय जितना दिन शेष हो वा जितनी रात्रि शेष रही हो उतने काल का अनध्याय मानना चाहिये ॥

भा०–इन्द्रियों वा मन को विकल करने वाले प्रचण्ड वायु चलने आदि के समय मन तथा इन्द्रियों को वशीभूत वा स्वस्थ रख के कोई ठीक २ वेदाध्ययन नहीं कर सकता इस कारण वेदाध्ययन की निष्फलता के सम्भव होने से उस समय में वेदाध्ययन का निषेध किया है। सन्ध्या के समय अग्निहोत्र करते हुए उपद्रव होने पर सन्ध्या वा अग्निहोत्र को संक्षेप से समाप्त कर देवे, किन्तु स्वाध्याय न करे किन्तु प्रारम्भ किये अग्निहोत्रादि को बीच में ही छोड़ने का निषेध नहीं है सो (नैत्यके नास्त्यनध्यायो०) इत्यादि द्वितीयाध्याय में कह चुके हैं। ग्रहों के परस्पर मिलने निकट आने वा क्रम के बदलने से पार्थिव वस्तुओं से सम्बन्ध रखने वाले मनुष्यादि के ग्रहों सम्बन्धी चक्षु मन आदि इन्द्रियों के गुणों का परिवर्त्तन–लौट पौट होता है इस कारण इन्द्रियों वा मन का ठीक स्वस्थ रहना कठिन है और स्वाध्याय की सफलता के लिये जितेन्द्रिय होना अत्यावश्यक है यही आशय जानो। अर्थात् जो २ तत्त्व सूर्यादि लोकों ग्रहों वा नक्षत्रों में हैं वा अन्तरिक्ष में सूक्ष्म स्थूल किन्हीं रूपों में हैं उन सभी के अंश प्रत्येक शरीर में इन्द्रियादि नाना प्रकार के भेदों वाले विद्यमान हैं। आकाशादि में सब उपद्रव तत्त्वों की विषमता से होते हैं उस काल में शरीरों के उन २ मन आदि में भी विषमता आती है जिस को साधारण लोग नहीं जान पाते पर अधिक शुद्ध बुद्धि वाले विशेष अनुभवी विद्वान् जान सकते हैं ॥१०६॥

नित्यानध्याय एव स्याद्ग्रामेषु नगरेषु च।
धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा ॥
अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ।
अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥
उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने।
उच्छिष्टः श्राद्धभुक् चैव मनसापि न चिन्तयेत्॥
प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य दक्षिणाम्॥

त्र्यहं न कीर्त्तयेद् ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥
यावदेकानुद्दिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति ।
विप्रस्य विदुषो देहे तावद् ब्रह्म न कीर्त्तयेत् १११

अ०-विद्यामसमाप्यापि ये व्रतं धर्मानुष्ठानरूपं ब्रह्मचर्यं समाप्य स्नान्ति ते धर्मनैपुण्यकामास्तैः प्राधान्येन ग्रामादिषु वेदाध्ययनं न कार्यं विद्यास्नातानां च तदपेक्षया दोषाल्पत्वम् । कस्मिन्नपि विशेषेण रुद्यमाने,जनसमवाये मेलादौ,उदकेऽनूपादौ, एकमेव पितृब्राह्मणमुद्दिश्य यच्छ्राद्धं तदेकोद्दिष्टं तस्य केतनं निमन्त्रणं प्रतिगृह्य स्वीकृत्य,राज्ञः पुत्रजन्मनि राहोश्च सूतके सूर्यचन्द्रग्रहणे त्र्यहं वेदाध्ययनं त्यजेत् । दिनत्रयेण श्राद्धान्नस्यान्यस्य वा भुक्तस्य रसादिपरिणामः शरीरेण सह परिणतं जायते मलं चाधिक्येन निस्सरति । अल्पस्य सत्त्वं च क्वापि नैव गण्यते ॥

भा०-श्राद्धं पित्र्यं कर्म वेदाध्ययनं च दैवं ते च द्वे कर्मणी अहोरात्रवद्विरुद्धे इति "द्वेसृती अशृणवं०" वेदे मार्गद्वयप्रदर्शनेन सूचिते स्तः । एतावेव श्रौतस्मार्त्तौ मार्गौ तत्र स्मार्त्तऐहलौकिकः श्रौतश्च पारलौकिकः पारमार्थिकश्च । नच यदैकस्य विरोधिनो यावद्गन्धोऽपि तिष्ठति तावत्तद्विरुद्धं क्रियमाणं सफलं भवति । धर्मस्य प्राधान्ये वेदाध्ययनविधिस्तेनैव निःश्रेयसावाप्तिः । अभ्युदयसुखहेतौ पितृयज्ञादौ कर्मणि च चौर्याद्यधर्मापेक्षया धर्मत्वप्राधान्येपि न दैवकर्मापेक्षं प्राधान्यम् । देवपितृदेवासुरादिशब्दद्वयेनैव यत्रयत्र

मार्गादिविभागस्तत्रार्षो मार्गोऽपि दैवेऽन्तर्भवति। एवम
पितृसंबद्धं सर्वमेव कृत्यं दैवापेक्षयाऽवकृष्टमिति मत्वा शु
द्धेनैव शुद्धं कर्म वेदाध्ययनमारब्धव्यम्। राज्ञः सूतके पु
पौत्रादिजन्मोत्सवेऽपि प्रायेण संनिहितसंबद्धानां व्यग्र
याऽस्वास्थ्येन वेदाध्येतुरपि व्यग्रं चेतः सम्भवति। स
च भावाः प्रायशो दिनत्रयेण शाम्यन्ति। राहोः सूतके
र्यचन्द्रग्रहणादावपि ग्रहगुणपरिणामजन्यं वैकल्यं वेदाध्य
यनस्यासम्यक्त्वे हेतुः। रहति त्यजति निवर्त्तयत्याच्छा
यति प्रकाशमिति निर्वचनेन दैवनियमेन सर्वत्र यः सूर्य
न्द्रप्रकाशं बाधते स राहुः प्रकाशबाधायां च तत्सहचारि
प्रज्ञापि बाध्यते तेनेति ध्येयम्॥ १११॥

भाषार्थः–(धर्मनैपुण्यकामानाम्) तीन प्रकार के स्नातक गृहस्थ होते
एक विद्याध्ययन को समाप्त करके समावर्त्तन स्नान करने वाले, द्वितीय ब्रह्मच
र्याश्रम के व्रतरूप नियम धर्मों का ठीक २ पूर्ण सेवन करके स्नान करने वा
और तृतीय विद्या और व्रत दोनों का पूरा २ सेवन करके समावर्त्तन करने वा
उन में द्वितीय कक्षा के स्नातक धर्म की प्रवीणता प्रबलता को चाहने वाले
जाते हैं [इन तीनों में पर २ श्रेष्ठ हैं] उन को (ग्रामेषु नगरेषु च) ग्रामों
नगरों में (च) तथा (सर्वदा पूतिगन्धे च) सब ही समय दुर्गन्ध युक्त स्था
में (नित्यानध्यायएव स्यात्) वेदाध्ययन का नित्य ही अनध्याय मानना चाहि
किन्तु विद्यास्नातक को ग्रामादि में सर्वथा सर्वदा अनध्याय रखना इतना
वश्यक नहीं है (अन्तर्गतशवे ग्रामे) जिस ग्राम में मरे हुए किसी मनुष्य का
शरीर धरा हो (वृषलस्य च सन्निधौ) नीच धर्मकण्टक धर्मविरोधी शूद्रों के सम
(रुद्यमाने) जहां कोई विशेष कर रोता हो (जनस्य च समवाये) और मनु
के संघट्ट मेला आदि में (अनध्यायः) वेद पढ़ने का अनध्याय रक्खे (उदके
ध्यरात्रे च) जल में जहां चारो ओर जल हो बीच में कहीं रेती आदि में
पुल आदि पर, आधी रात के समय (विण्मूत्रस्य विसर्जने) विष्ठा मूत्र का त्या

करके शुद्धि किये विना (उच्छिष्टः श्राद्धभुक् चैव) भोजन करके कुल्ला और हाथ पांव धोये विना तथा श्राद्ध भोजन करने वाला पुरुष (मनसापि न चिन्तयेत्) मन से भी वेद का चिन्तन न करे (विद्वान् द्विजः) विद्वान् विचारशील गृहस्थ ब्राह्मणादि स्नातक (एकोद्दिष्टस्य केतनं प्रतिगृह्य) एक ही पितृ ब्राह्मण का पूजन करना जिसका उद्देश है ऐसे श्राद्ध का निमन्त्रण स्वीकार करके (त्र्यहं ब्रह्म न कीर्त्तयेत्) निमन्त्रण समय से तीन दिन तक वेद न पढे (राज्ञो राहोश्च सूतके) तथा राजा के सूतक नाम पुत्रादि के जन्मोत्सव में और सूर्य चन्द्रादि ग्रहण पड़ने पर तीन दिन वेद का उच्चारण न करे (यावदेकानुदिष्टस्य) जब तक एकानुदिष्टश्राद्धान्न का (गन्धो लेपश्च) गन्ध वा लेप (विदुषो विप्रस्य देहेतिष्ठति) विद्वान् ब्राह्मण के शरीर में रहे (तावद् ब्रह्म न कीर्त्तयेत्) तब तक वेद को न पढ़े । श्राद्ध का वा अन्य भोजन का रसादिरूप परिणाम तीन दिन में शरीर के साथ पूर्ण मेल करलेता है किन्तु शरीर के साथ उस का भेद नहीं रहता । और जो मल बनता सो भी अधिकांश निकल जाता है और यदि किंचित् मलांश रह भी जावे तो वह गणना में नहीं आता ॥

भा०–श्राद्ध–पितृकर्म और वेदाध्ययन दैव कर्म है वे दोनों ही कर्म दिन रात के समान परस्पर विरुद्ध हैं । सो (द्वे सृती अशृणवम्०) दो मार्ग अपने लिये हम मनुष्यों को सुनने जानने मानने चाहिये एक देवों का मार्ग और द्वितीय पितृ मार्ग इन्हीं दो मार्गों में से किसी न किसी मार्ग पर हम को चलने पड़ता है तीसरा कोई मार्ग नहीं है । इन्हीं दोनों को गीतादि में दैव आसुर शब्दों से कहा और योगशास्त्र में इन्हीं को शुक्ल कृष्ण मार्ग माना है और इन्हीं के संसार परमार्थ तथा शुभ अशुभ, धर्म अधर्मादि भी नाम हैं । इस प्रकार वेद के उक्त मन्त्र में दोनों मार्ग मर्मभेद समझाने के लिये स्पष्ट ही दिखा दिये गये हैं । और वेद ने हम को जता दिया है कि " येनेष्टं तेन गम्यताम् " अब हमे अधिकार है चाहें जिस मार्ग से चलें । इन्हीं दो मार्गों का नाम श्रौत और स्मार्त्त है उन में स्मार्त्त संसारी मार्ग और श्रौत पारलौकिक है । और इन परस्पर विरुद्ध मार्गों में से जब तक एक की वासनामात्र गन्ध भी प्रबलता से ठहरा होता है तब तक उस से विरुद्ध मार्ग पर कोई नहीं चल सकता और चले तो दोनों से पतित होता है । धर्म की प्रधान कोटि में वेदाध्ययन वा ब्रह्मयज्ञ–स्वाध्याय–ऋषियज्ञ है उसी से निश्रेयस रूप पारमार्थिक सुख की विशेषप्राप्ति होती है । और

अभ्युदय-सांसारिक सुख की प्रधानता के लिये पितृयज्ञादि द्वितीय कक्षा के वा मार्ग का उपदेश है उस पितृयज्ञादि में चोरी आदि महा अधर्म की ग्रन्थों में धर्म की अधिक प्रधानता और प्रशंसा होने पर भी दैव कर्म की पेक्षा उस की प्रधानता वा प्रशंसा नहीं है। देव पितृ और देव असुर दो २ शब्दों से मार्गों का जहां २ विभाग है वहां आर्ष मार्ग भी दैव के माना जायगा। इस प्रकार यहां शास्त्र में पितृ सम्बन्धी सभी कृत्य दैव की पेक्षा निकृष्ट है। ऐसा मान कर शुद्ध दशा में हो कर ही वेदाध्ययन रूप कर्म का आरम्भ करना चाहिये। राजा के यहां पुत्र पौत्रादि के जन्मोत्सव सूतक में प्रायः समीपस्थ वा सम्बन्धियों में हल चल वा व्यग्रता होने से स्वस्थ रहने पर वेद पढ़ने वाले का चित्त भी व्याकुल रहना सम्भव ही है। सभी प्रायः तीन दिन में शान्त हो जाते हैं। सूर्य चन्द्रादि ग्रहण रूप राहु के में भी सूर्यादि ग्रहों के गुणों का परिणाम लौट पौट होने से हुई विकलता दाध्ययन के ठीक २ अच्छे न होने का हेतु होगी। प्रकाश का आच्छादन निवृत्ति करने वाले वा रोकने वाले का नाम राहु है। इस अर्थ के दैवी नियम से जो सब देशों में [जहां २ उन का प्रकाश होता] सूर्य चन्द्र प्रकाश का बाधक होता वह राहु कहाता है। बाहरी प्रकाश की बाधा पर ही [जो भीतरी बुद्धि प्रकाश का सहायक है] उस के सहयोगी बुद्धि प्रकाश को भी बाधा पहुंचती है ॥१११॥

शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम्
नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च
नीहारे बाणशब्दे च सन्ध्ययोरेव चोभयोः
अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च
अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी
ब्रह्महाष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत्

अ०-प्रौढपादआसनपीठादिषु संलग्नपादः। एकेन वसनादिना जान्वोर्मध्याङ्गस्य च बन्धोऽवसक्थिका ताम्

आमिषं-मांसं, जन्ममरणाशौचवतामन्नाद्यं पक्वं रोटिकादिकं च जग्ध्वा नाधीयीत तेन शुष्कान्नादानं न दोषावहम्। बाणशब्दे युद्धकाले युद्धविद्याशिक्षाप्रसङ्गे वा,बाणो वीणाविशेषइत्यन्ये सुगममन्यत् ॥

भा०-पद्मासनेन स्थित्वा वेदाध्ययनमन्यासनापेक्षया वरम्। आमिषभक्षणं पापान्तर्वर्त्ति हिंसादिदोषसत्त्वात्। भक्षणानन्तरकालस्य च निषेधो न सार्वकालिकः, सन्ध्याद्वये विशिष्टं सावित्रीजपप्राणायामाग्निहोत्रादिकं कर्म कार्यं तत्र विघ्नो न स्यात्। नात्रैकाकिना क्रियमाणं वेदाध्ययनं प्रतिषिद्धमपित्वध्ययनाध्यापने गुरुशिष्यसाध्ये प्रतिषिद्धे। अमावास्यायामेकाकिना गुरुणा विशेषेण वेदाध्ययनं कार्यम्। तस्य हानिरेव गुरोर्हननं नतु प्राणवियोग एवं शिष्येऽपि योज्यम्। पौर्णमास्यामष्टम्यां च चन्द्रिकासाम्येन सत्त्वगुणाधिक्ये सुखानुशयित्वेनाधीतो वेदो विस्मृतः स्यादित्यादि कारणमन्वेष्यम् ॥ ११४ ॥

भाषार्थः-(शयानः प्रौढपादश्च) सोता हुआ पीढ़ी आदि आसन पर पग जमा कर बैठा (अवसक्थिकां चैव कृत्वा) एक ही वस्त्रादि से घोंटू और मदरा को बांध लपेट कर बैठा (आमिषं सूतकान्नाद्यमेव च जग्ध्वा) मांस तथा जन्म मरणादि से आशौच जिन के हो उन का पकाया रोटी आदि अन्न खा कर (नाधीयीत) वेद का अध्ययन न करे किन्तु सूतक वाले से सूखा अन्न लेना दोष का हेतु नहीं है [यह बात अन्न के साथ आद्य पद लगा कर जतायी है] (नीहारे बाणशब्दे च) जहां तुषार गिरता हो, तथा युद्ध के समय वा युद्ध शिक्षा [कवायद] के स्थान में जहां बाण आदि शस्त्रों का शब्द होता हो [कोई लोग बाण शब्द से वीणा विशेष का अर्थ करते हैं। इस दशा में (वेणुशब्दे च) पाठ होना अच्छा प्रतीत होता है] (उभयोः सन्ध्ययोरेव च) दोनों समय सायं प्रातःकाल

की सन्ध्याओं में (अमावास्याचतुर्दश्योः) अमावास्या और दोनों चतुर्दशी (पौर्ण-मास्यष्टकासु च) पौर्णमासी और दोनों अष्टमी इन सब समयों में वेद का पठन पाठन गुरु शिष्य न करें (अमावास्या गुरुं हन्ति) अमावास्या गुरु को हानिकारक (शिष्यं चतुर्दशी हन्ति) चतुर्दशी शिष्य के लिये अनिष्ट तथा (अष्टकापौर्णमास्यौ) अष्टमी और पौर्णमासी पढ़े पढ़ाये वेद को विस्मरण करने वाली हैं (तस्मात्ताः परिवर्जयेत्) इस कारण वेदाध्ययन में उन तिथियों को अवश्य छोड़ देवे ॥

भा०-अन्य प्रकार बैठ वा लेट कर वेद के पढ़ने की अपेक्षा पद्मासन से बैठ कर वेदाध्ययन करना उत्तम है। मांसभक्षण पाप के अन्तर्गत है हिंसादि से युक्त होने से, मांस वा सूतकान्न खा के अनन्तर शीघ्र ही वेद पढ़ने का निषेध है किन्तु खाने के पश्चात् कभी न पढ़े सो नहीं है। दोनों सन्ध्याओं के समय वेदाध्ययन का निषेध इस लिये है कि सावित्री का जप, प्राणायाम और उस समय में कर्त्तव्य अग्निहोत्रादि कर्म करे उन में विघ्न न हो। यदि कोई सब बुरे कामों में लगा हो तो उस की अपेक्षा गुरु शिष्य प्रणाली से वेद का पाठ भी अच्छा है। गुरु वा शिष्य अकेला बैठ कर भी वेद पाठ न करे यह निषेध यहां नहीं है किन्तु पठन पाठन दोनों का निषेध है। अमावास्या के दिन गुरु को अकेले बैठ कर तथा चतुर्दशी के दिन शिष्य को एकान्त में बैठ कर वेद का विशेष अभ्यास एकाग्र चित्त से करना चाहिये इत्यादि से होने वाले फल की हानि ही गुरु शिष्य की हानि है किन्तु हनन का अर्थ यहां प्राणवियोग होना नहीं है। अष्टमी पौर्णमासियों में चन्द्र कलाओं की समता से होने वाली सत्त्व की वृद्धि जो सुख की ओर झुकाती है इत्यादि कारण वेदाध्ययन का विस्मरण होना वा अन्यथा होजाना सम्भव है। इसी प्रकार यहां न कहे अर्थवाद के कारण भी खोजने शोचने योग्य हैं ॥ ११४ ॥

पांसुवर्षेदिग्दाहे गोमायुविरुतेतथा ।
श्वखरोष्ट्रेचरुवति पङ्क्तौचनपठेद्द्विजः ॥
नाधीयीतश्मशानान्ते ग्रामान्तेगोव्रजेऽपिवा ।
वसित्वामैथुनंवासः श्राद्धिकंप्रतिगृह्यच ॥

प्राणिवा यदि वाऽप्राणि यत्किंचिच्छ्राद्धिकं भवेत् । तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः ॥ चौरैरुपप्लुते ग्रामे संभ्रमे चाग्निकारिते । आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ॥ उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम् । अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥ नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम् । न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः ॥ न विवादे न कलहे न सेनायां न सङ्गरे । न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न शुक्तके ॥ अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम् । रुधिरे च स्रुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते ॥ १२२ ॥

अ०—दिशां दाहेऽदृष्टग्रामादिज्वलनोपद्रवसत्त्वे, मैथुनकालिकं वासोऽपिधाय, श्राद्धिकं किमपि दानमन्नं वासो गवादिकं प्राणिदानं वा गृहीत्वाऽनध्यायः कार्यः। उपप्लुत-आपद्ग्रस्ते, अद्भुतेष्वाश्चर्यजनककार्येषु विस्मयोत्पादकेषु। उपाकर्मण्युत्सर्गे च त्रिरात्रोऽनध्यायः। आग्रहायण्या उपरिष्टात्कृष्णपक्षस्य चतस्रोऽष्टम्योऽष्टकापदवाच्याः। ऋतुसमाप्तिकालिकसर्वास्वेव रात्रिषु नाहस्स्वनध्यायः। इरिणस्थऊषरभूमिस्थः, सङ्गरे संग्रामे, शुक्तके पर्युषितविकृतान्ना-

दने । शिष्टातिथेराज्ञामनादाय च न वेदमधीयीतेति
ज्यम् । सुगममन्यत् ॥

भा०-सर्वत्रैवापवित्रतयेन्द्रियवैकल्येन लोभक्रोधकामा-
दिप्राबल्येन वा वेदाध्ययनं न सम्यक्सुफलं स्यादिति प्रति-
षेधः। उत्सर्गे विरमेत्पक्षिणीं रात्रिमिति यदुक्तं तत्पक्षान्त-
धर्मनैपुण्यकामानामिति वात्र सर्वत्र योज्यम्। अतिथ्याज्ञा-
नादानेऽपमानमतिथेः स्यादतिथियज्ञेवाविघ्नइति ॥१

भाषार्थः-(पांसुवर्षे दिशां दाहे) जब धूलि वर्षती हो, अदृष्ट परोक्ष ग्राम
में अग्नि लगने से किसी दिशा में अधिक दाह हो (गोमायुविरुते तथा श्वख-
रोष्ट्रे च रुवति) शृगाल-स्यार, कुत्ता, गधा और ऊंट जब रोते चिल्लाते हों
(पङ्क्तौ च द्विजो न पठेत्) ब्राह्मणादि गृहस्थ, अनेक लोगों की पांति
स्वाध्याय बुद्धि से वेदाध्ययन न करे किन्तु मङ्गलार्थ किन्हीं मन्त्रों के बोलने
निषेध करना इस में इष्ट नहीं है । (श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि
श्मशान-मरघट के समीप ग्राम के समीप और गोशाला में भी (मैथुनं वासो
वसित्वा) मैथुन करने समय के वस्त्र पहन कर (श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च) श्रा-
सम्बन्धी अन्न वा धनादि का दान लेकर भी (नाधीयीत) वेद को न पढ़े (प्रा-
वा यदि वाऽप्राणि) गौ आदि प्राणी वा अन्न धनादि जड़वस्तु(यत्किञ्चिच्छ्रा-
भवेत्) जो कुछ वस्तु श्राद्ध सम्बन्धी हो (तदालभ्याप्यनध्यायः) उस को
कार करके भी वेद का अनध्याय अवश्य करना चाहिये क्योंकि (हि)
कारण (पाण्यास्यो द्विजः स्मृतः) ब्राह्मण का हाथ भी मुख ही के तुल्य माना
है । अर्थात् मुख से श्राद्ध भोजन करने के समान ही हाथ से दान लेने में
को अपवित्र वा संसारी पितृ मार्ग की ओर झुका मान लेवे क्योंकि मन
दान लेना स्वीकार न होने पर हाथ से लिया जाना सम्भव नहीं और जब
में लोभ प्रविष्ट हुआ तो शरीर के भीतर कल्मष आगया इस कारण दान ले-
दैवपथ वेदाध्ययन न करे (चौरैरुपप्लुते ग्रामे) जिस ग्राम में चोर डाकू आ-
आपत् आगयी हो (संभ्रमे चाग्निकारिते) जहां अग्नि लग जाने से हल्ला
गया हो (सर्वाद्भुतेषु च) और विस्मय-आश्चर्य के हेतु सब ही उपद्रवों

समय (आकालिकमनध्यायं विद्यात्) दिन रात-आठ प्रहर का अनध्याय जाने (उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम्) उपाकर्म और उत्सर्ग समाप्त किये पश्चात् तीन दिन रात अनध्याय मानना मुख्य वा प्रधान पक्ष है और उत्सर्ग में जो एक दिन रात का अनध्याय कह चुके हैं वह इस की अपेक्षा गौण है (अष्टकासु त्वहोरात्रम्) मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष से लेके माघ वा फाल्गुन तक प्रत्येक मास की कृष्णाष्टमियों का नाम पारस्कर गृह्यसूत्रादि में अष्टका कहा है उन में विशेष कर वेद को न पढ़े और इस की अपेक्षा पूर्व कहा सब अष्टमियों का अनध्याय सामान्य है वा जितने काल अष्टमी रहे उस में पूर्व का अनध्याय और नवमी आजाने पर भी इन अष्टकाओं में अनध्याय जताना ग्रन्थकार का अभीष्ट जानो (ऋत्वन्तासु च रात्रिषु) छः ऋतुओं के अन्तिम एक २ दिन रात्रि अनध्याय करे (अश्वमारूढो नाधीयीत न वृक्षं नच हस्तिनम्) घोड़ा वृक्ष और हाथी पर चढ़ा हुआ वेदाध्ययन न करे (न नावं न खरं नोष्ट्रम्) नौका, गधा और ऊंट पर चढ़ा भी वेद न पढ़े [यहां खर कहने से अर्द्ध खर-खिच्चर का भी निषेध जानो] (नेरिणस्थो न यानगः) न ऊपरभूमि में और न गाड़ी पर चढ़ के कहीं जाता हुआ (न विवादे न कलहे न सेनायां न सङ्गरे) विवाद, कलह, सेना और युद्ध जहां हों वहां भी वेद न पढ़े (न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न शुक्तके) तत्काल भोजन किये पश्चात्, अजीर्ण रोग के समय, वमन करने पीछे और वासी अन्न खा कर ३ । ४ घण्टे तक वेद न पढ़े (अतिथिं चाननुज्ञाप्य) कोई श्रेष्ठ अतिथि ठहरा हो तो उस से आज्ञा लिये विना (मारुते वाति वा भृशम्) तेज वायु चलते समय (रुधिरे च स्रुते गात्रात्) जब शरीर से रुधिर निकल गया हो (शस्त्रेण च परिक्षते) और किसी लाठी आदि शस्त्र का घाव लग जाने के समय वेद न पढ़े । यहां सर्वत्र ही विधिपूर्वक वेद पढ़ने का निषेध जानो किन्तु प्रयोजनार्थ किसी मन्त्र के बोलने का निषेध नहीं है ॥

भा०-ऐसी उक्त दशाओं में वेद का विधिपूर्वक पढ़ना कदापि सुफल नहीं हो सकता । कहीं अपवित्र होने से कहीं इन्द्रियों की चञ्चलता से और कहीं काम क्रोध लोभादि की प्रबलता से वेदाध्ययन रूप उत्तम धर्म कार्य ठीक सफल होना सम्भव नहीं है इस कारण निषेध किया जानो । उत्सर्ग में पक्षिणी रात्रि का जो अनध्याय कह चुके हैं वह पक्षान्तर वा किन्हीं का मतान्तर है । अथवा यहां सर्वत्र (धर्मनैपुण्यकामानाम्) की अनुवृत्ति करनी चाहिये । अतिथि की

आज्ञा लिये विना उस का अपमान–अनादर हो वा अतिथिपूजन में विघ्न हो इस कारण विना आज्ञा मांगे पढने का निषेध किया है ॥ १२२ ॥

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन ।
वेदस्याधीत्य वाप्यन्त मारण्यकमधीत्य च ॥
ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः ।
सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥
एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम् ।
क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते ॥१२

अ०–सामवेदो यत्र गीयेत तत्रर्ग्यजुषी कदापि नाधीयीत । कमपि वेदमध्ययनेन समाप्यारण्यकाभिधं कमपि ग्रन्थमधीत्य च तस्मिन्नहनि वेदान्तरं नाधीयीत । देवा एव देवताः प्राधान्येनास्य तादृशऋग्वेदः, मनुष्याएव देवताः प्राधान्येन वाच्यार्था यस्य तादृशो यजुर्वेदः, पितर एव प्राधान्येन देवता वाच्यार्था यस्येति तादृशः सामवेदः स्मृतोऽभिमतो ब्रह्मर्षिभिस्तस्मात्पितृदेवताकत्वात्तस्य तृतीयवेदस्याशुचिर्ध्वनिरस्ति । एवं च मत्वा विज्ञेन सामध्वनिकाल ऋग्यजुषी नाध्येतव्ये । एतदुक्तप्रकारेण वेदगूढाशयं विदन्तस्त्रयीनिष्कर्षं वेदत्रयस्य सारभूतं प्रणवव्याहृतिसावित्र्यात्मकं निस्सृतं विद्वांसो जानानाश्च पूर्वमन्वहं सप्रणवव्याहृतिकां सावित्रीमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते । तथैव चान्यैरितरैरप्यध्येतव्यमित्याशयः ॥

भा०–वेदत्रये देवत्रयस्य यथासंख्यं प्राधान्यमवगन्तव्यम् । देवतास्वग्निवाच्यब्रह्मणः प्राधान्यं तस्यैवेन्द्रादिना

भिरपि प्राधान्येनर्ग्वेदे वर्णनम्। मनुष्याणां च प्राणवा-युवाश्रितजीवनप्रधानत्वान्मनुष्येषु वायोरेव प्राधान्यं तस्यै-वेषेत्वेत्यादिना यजुषि प्राधान्येन वर्णनम्। रात्रावेवाधि-क्येन कामासक्तिर्वर्धते तदैव चोदेति चन्द्रः, चन्द्रमा म-नसो जातइति वेदे मनश्चन्द्रमसोश्च कार्यकारणसम्बन्धः स्फुटएव प्रदर्शितः। मनसएव च काम उत्पद्यते तस्मादेव च तस्य मनसिजइति नामास्ति। एवं च रात्रिश्चन्द्रमाः का-मासक्तिश्चेति सहयोगिनोऽपानाश्रितस्य मृत्योः सदैव स-हायाः। इमएव मनुष्याद्यायूंषि सर्वभावांश्च विशेषेणाददाना यन्ति तस्मादादित्यपदवाच्याः। यमाहुश्चन्द्रमाइति वेदे च-न्द्रमसएवापरं नाम सोमइति स्फुटमुक्तम्। आयन्तु नः पि-तरः सोम्यासइति च वेदे पितृणां सोमसम्बन्धित्वं बहुत्रैव प्रदर्श्यते। अन्यदेवापेक्षया सोमस्य चन्द्रमसः पितृणां च जलेन विशिष्टः सम्बन्धः। यथा पृथिव्याद्यपेक्षया मालि-न्यसंसर्गेण जलमेवाधिकमपवित्रं सम्पद्यते तथैव देवम-नुष्यापेक्षयाधिक्येन पितृणामशुद्ध्या सम्बन्धो बोध्यः। जले मालिन्यादानशक्तिश्च स्वाभाविकी तस्मादेव वस्त्र-शरीरादिलग्नं मलं प्रक्षालनावसरे जलेनैवाधिक्येनादीयते तेनोदकमधिकं मलिनं जायते पृथिवीमलं खादत्यग्निः क्षिपति। एवं च सौम्यपितृभिरशुद्धेर्विशिष्टः सम्बन्धइति सूक्ष्ममीक्षणीयम्। अन्यमहायज्ञापेक्षया पितृयज्ञे श्राद्धे शौ-चमाधिक्येनाशुद्धिभयादेवापेक्षितम्। नैवात्र पितरः केचि-देकदेश्यभिमता आदीयन्तेऽपितु देवत्वमनुष्यत्वादिवत् पि-

तरोऽपि सार्वदेशिकाः सार्वकालिकाएव ग्राह्याः । साम
च सोमस्य प्राधान्यं मन्त्रेष्वेव दृश्यते । अन्यदेवतापेक्ष
तत्र पवमानसोमएवाधिकतरमन्त्राणां वाच्यार्थो देवति
अग्न्यादिपदैरपि तृतीयकोटिस्थस्याग्न्यादेरेव वर्णनं सा
वेदे साधु मन्तव्यम् । यथा लोके कोऽपि जनो विषया
त्किसम्बद्धवार्त्ताः कुर्वन् शृण्वन् वा कृत्वा श्रुत्वा वा
दश्चेतसः स्वास्थ्याभावात्प्रकरणान्तरवार्त्ताः कर्त्तुमनुभ
सम्यग्बोद्धुं चाशक्तस्तथैवात्र पितृसम्बद्धो विचारः पा
देवाद्यपेक्षयावकृष्टः प्रकरणान्तरं च तस्य समाप्तौ कि
त्कालं समाहितो भूत्वाऽन्यवेदाध्ययनं कार्यम् । लोके
नानाविषयकं गानं सहैव क्रियमाणं यथा हानिकरमरो
व्यर्थमशोभनं च तथैवात्रापि बोध्यम् । यथा संप्रति
तृभाषां वदन्तस्तदर्थानप्यनायासेन जानन्ति । तथैव पुर
वेदानपि वाचाधीयाना महर्षयः सम्यग् बुध्यन्तेस्म त
र्थमेवाधिक्येन प्राधान्येन वा सामध्वनावृग्यजुषयोरध्य
यनप्रतिषेधः । ये च न किमपि बुध्यन्ते तदर्थं च प्रति
धो व्यर्थकल्पएव । नचात्र सामाध्ययने शारीरिकमाशौ
चमपितु मानसं किंचिद्वाचिकं चाशौचमपेक्षणीयम् । प्रणा
महाव्याहृतिपूर्विकां तत्सवितुरिति वेदत्रयसारभूतां सावि
त्रीं पूर्वं समाहितेनाधीत्य पश्चात्तद् व्याख्यानरूपस्य वेद
ब्रह्मयज्ञानुष्ठानमत्याऽध्ययनं कार्यं येन स्वप्रयोजनमपि क
र्यारम्भे प्रतिज्ञातं जायते ॥ १२५ ॥

भावार्थः–(सामध्वनावृग्यजुषी कदाचन नाधीयीत) सामवेद का जहां
होता हो वा स्वयं सामवेद का अध्ययन करके तत्काल ही ऋग्वेद यजुर्वेद

कदापि अध्ययन न करे (वेदस्य वाप्यन्तमधीत्य) किसी वेद को अन्त तक पढ़ के (आरण्यकमधीत्य च) और ऐतरेयादि आरण्यक ग्रन्थों को पढ़ कर उसी दिन अन्य वेद का अध्ययन न करे [किसी वेद को पढ़ के शिथिलबुद्धि हुआ तथा आरण्यक ग्रन्थों के अध्ययन से उस विषय की ओर झुकी बुद्धि वाला वेद को रुचि पूर्वक वा वेदाशय को समझता हुआ नहीं पढ़ सकेगा इस कारण निषेध किया है] (ऋग्वेदो देवदैवत्यः) सर्वत्र व्याप्त अग्नि आदि देवता ही जिस के मुख्य वाच्यार्थ हैं अर्थात् सर्वदेशी अग्न्यादि दिव्य देवताओं का ही जिस में वर्णन है ऐसा ऋग्वेद है (यजुर्वेदस्तु मानुषः) और जिस में मुख्य कर मनुष्यों का वर्णन है–मनुष्य सम्बन्धी भाव जिस के मन्त्रों में प्रायः देवता हैं ऐसा यजुर्वेद है। तथा (सामवेदः पित्र्यः स्मृतः) मुख्य कर पितर ही देवता नाम वाच्यार्थ जिस के हैं अर्थात् जिस में पितृपदार्थ का मुख्य वर्णन है ऐसा सामवेद पूर्वज ब्रह्मर्षि महर्षि तत्त्ववेत्ता वेदमर्मज्ञों ने माना जाना वा निश्चित किया है (तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः) इस पितृदेवता वाला होने के कारण उस सामवेद की ध्वनि–शब्द वा घोष ऋग्यजु की अपेक्षा अपवित्र है (एतद्विदन्तः) इस उक्त प्रकार से वेद के सूक्ष्म मूल गूढ़ाशय को जानते और (त्रयीनिष्कर्षं विद्वांसः) तीनों वेद से निकाले सारांशरूप प्रणव, तीन महाव्याहृति तथा [तत्सवितु०] इस मन्त्र के आशय को जानते हुए दीर्घदर्शी वेदपारग महात्मा लोग (अन्वहं पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते) प्रतिदिन उस प्रणव व्याहृति सहित सावित्री मन्त्र को सावधानता के साथ प्रथम पढ़ के पश्चात् वेद को पढ़ते हैं। अर्थात् सब वेद का मूल वा सार सर्वोत्तम प्रणव को सब से पहिले, तदनन्तर उस का व्याख्यान व्याहृति और उस का भी व्याख्यान सावित्री तदनन्तर उस का भी व्याख्यान तीनों वेद हैं इस से वेद पढ़ने का यही क्रम ठीक है इसी प्रकार सब मनुष्यों आस्तिकों आर्यों को सदा वेद पढ़ना चाहिये ॥

भा०–तीन वेदों में तीन देवता यथासंख्य से प्रधान जानने चाहिये। सब देवताओं में अग्नि नामक देवता ब्रह्म नाम सब से बड़ा है। उसी अग्नि का इन्द्रादि नामों से मुख्य कर ऋग्वेद में वर्णन है। और वह प्रसिद्ध अग्नि एक देशी लेना इष्ट नहीं है किन्तु सर्वत्र व्याप्त अनेक नाम रूपों वाले शुद्ध अग्नि का व्याख्यान जानो असीम अग्निपन में ईश्वर वा परमेश्वर का ग्रहण होगा वह अग्नियों का भी अग्नि है। मनुष्यों का जीवन प्राणरूप वायु के आधार पर

ठहरा है इस कारण मनुष्यों के मनुष्यपन वा प्राणियों के प्राणिपन की स्थि
में वायु मुख्य है। उसी वायु देवता का (इषेत्वा०) इत्यादि यजुर्वेद में प्र
नता से वर्णन है [क्योंकि इष्-ऊर्ज् नामक अन्न जल के ही आधीन प्राण
रूप जीवन की स्थिति हो रही है। चाहे यों कहो कि नाम रूपान्तर को प्रा
हुए वायु के ही नाम इष्, ऊर्ज् हैं तो वायु से ही प्राण वायु की स्थिति है,
कि विरुद्धांश की प्रबलता में किसी की स्थिति रह भी नहीं सकती] रात्रि
ही अधिक कर कामभोग की ओर झुकावट बढ़ती है और रात्रि में ही चन्द्रमा
उदय होता है। (चन्द्रमा मनसो जातः) चन्द्रमा मन से हुआ इस प्रकार वे
चन्द्र और मन का कार्य कारण सम्बन्ध स्पष्ट ही दिखाया गया है। और
से ही काम उत्पन्न होता इसी कारण कामदेव का नाम संस्कृत में मनसिज
इस प्रकार रात्रि, चन्द्रमा और कामासक्ति परस्पर सम्बन्ध रखते हुए अग्नि
सम्बन्ध रखने वाले मृत्यु के सहयोगी वा सदा ही सहायक हैं। येही सब
नुष्यादि प्राणियों की आयुओं का और अन्य सब भावों की विद्यमानता का
ही आदान करते लेते हुए चले जा रहे हैं। इस से ये रात्रि आदि मुख्य
आदित्य कहाते हैं। और वेद में यह भी स्पष्ट कहा है कि "जिस सोम
चन्द्रमा भी कहते हैं"। तथा वेद के अनेक स्थलों में पितरों को सोम्य कह
सोमतत्त्व के साथ पितृपन का मुख्य सम्बन्ध दिखाया है। और अन्य अग्न्यादि
देवताओं की अपेक्षा सोम, चन्द्रमा और पितरों का जलतत्त्व के साथ वि
सम्बन्ध भी सिद्ध है। जैसे पृथिवी आदि की अपेक्षा मलिनता के संयोग-मेल
जल ही अधिक वा शीघ्र मलिन हो जाता है। वैसे ही देव और मनुष्यों [
और पृथिवी के विकारों] की अपेक्षा जल तत्त्व सम्बन्धी पितरों का अशुद्धि
साथ अधिक सम्बन्ध जानो। जल में मलिनता को पकड़ने की स्वाभाविक
क्ति है इसी से वस्त्र वा शरीरादि में लगे मल को धोने के समय अधिकांश
ही अपने में ले लेता है इसी से जल अधिक मलिन हो जाता है। पृथिवी म
को खाकर अपने रूप में बना लेती और अग्नि अन्धकारादि मल को इधर उ
फेंकता है किन्तु स्वयं मलस्वरूप ये दोनों नहीं बनते। अन्धकारादिरूप मल को
इधर उधर फेंकने से ही वेद में अग्नि का नाम अज है। इसी कारण क्षेपणा
[अजगतिक्षेपणयोः] धातु है। इस प्रकार सोमतत्त्वसम्बन्धी पितरों के साथ अशुद्धि
का अधिक मेल है यह सूक्ष्म विचार से शोच लेना चाहिये। अन्य महायज्ञों की
अपेक्षा पितृयज्ञ नामक श्राद्ध में अशुद्धि का अधिक भय होने से ही शुद्धि का

की अधिक आवश्यकता मानवधर्मशास्त्रादि में दिखायी वा मानी गयी है। यहां पितृपदवाच्य कोई वस्तु एकदेशी लोगों के माने हुए लिये जाने इष्ट नहीं हैं। किन्तु देवत्व मनुष्यत्वादि के तुल्य पितर भी सर्वदेश काल और वस्तु सम्बन्धी लेने इष्ट हैं। सामवेद के मन्त्रों में ही अन्य देवताओं की अपेक्षा पवमान सोम देवता की प्रधानता दीखती है। और अग्न्यादि पदों से भी तृतीय कोटि सम्बन्धी अग्नि आदि का वर्णन सामवेद में ठीक मानना चाहिये [पढ़ने वाले ध्यान रक्खें कि यहां मनु जी ने तीनों वेद का मुख्य सारांश विषय अतिसंक्षेप में कह दिया है। जिस से सामवेद का वर्णनीय विषय संक्षेप से पितृ वा आदित्य हुआ] जैसे लोक में कोई पुरुष विषयासक्ति सम्बन्धी बातें करता वा सुनता हुआ अथवा सुन कर के चित्त के स्वस्थ न होने से तत्काल ही प्रकरणान्तर की बातें कर सुन वा जान नहीं सकता यदि करे जाने भी तो ठीक अच्छी सफलता न होगी। वैसे ही यहां पितृ सम्बन्धी विचार और पाठ करना देवकर्मादि की अपेक्षा निकृष्ट और प्रकरणान्तर है उस प्रथम काम को करलेने पर कुछ काल ठहर सावधान होके अन्य वेद का अध्ययन करना चाहिये। लोक में भी अनेक भिन्न २ विषयों का गान वा भाषण एक काल में किया हुआ जैसे हानिकारक, अरुचिकर, व्यर्थ और कुशोभित होता है वैसे यहां भी जानो। जैसे वर्त्तमान समय में अपनी २ मातृभाषा को बोलते हुए उसके अर्थ को भी सहज में ही सब जानते हैं। वैसे ही पूर्वकाल में वेद का पाठ करने वाले ऋषि लोग पाठ करते समय वेदाशय को समझते जानते थे। उन्हीं के लिये अधिकांश वा प्रधानता से सामवेद की ध्वनि होते समय ऋग्यजु के पढ़ने का निषेध है। और जो वेद का अर्थ कुछ भी नहीं जानते समझते उन के लिये निषेध व्यर्थसा ही है किन्तु सर्वथा व्यर्थ नहीं है। और यहां सामवेद के पढ़ने में शरीर सम्बन्धी कोई अशुद्धि नहीं जानना किन्तु मानस और कुछ वाचिक अशुद्धि अन्य वेद की अपेक्षा से है। लोकापेक्षा से तो सामवेद का अध्ययन भी अतिपवित्र ही माना जायगा। ओ३म्-कार और तीन महाव्याहृतियों सहित [तत्सवितु०] इस तीनों वेदों के सार वा मूलरूप सावित्री मन्त्र को सावधानता के साथ प्रथम पढ़ के पीछे इन्हीं के व्याख्यान—भाष्यरूप वेद का ब्रह्मयज्ञानुष्ठानबुद्धि से मनुष्य को पाठ करना चाहिये। जिस से कार्य के आरम्भ में अपने प्रयोजन की भी प्रतिज्ञा हो जाती है कि मैं यह करता वा चाहता हूं ॥ १२५॥

पशुमण्डूकमार्जार श्वसर्पनकुलाखुभिः।
अन्तरागमनेविद्या दनध्यायमहर्निशम्॥
द्वावेववर्जयेन्नित्य मनध्यायौप्रयत्नतः।
स्वाध्यायभूमिंचाशुद्धा मात्मानंचाशुचिंद्विज

अ०—अध्यापकाध्येत्रोरन्तरा मध्यतः पश्वादीनाम् गमने निस्सरणे चाहर्निशमनध्यायं जानीयात्। स्वाध्यायभूमिमशुद्धां स्वस्याशुचित्वं वा द्वावेव सर्वानध्यायेषु प्रधानौ स्वाध्यायस्य सम्यक्त्वबाधकौ हेतू मन्तव्यौ॥

भा०—पश्वादयो मनुष्याद् बिभ्यति न सहसा मध्ये आयान्ति यदा चायान्ति निस्सरन्ति च तदा मनुष्यतो केनापि कामादिप्राबल्येनाभिभूतोऽनुमातव्यस्तदा चात्मनोऽशुद्धता व्यग्रतैव चानध्यायस्य कारणमवसेयम्। यदि केनापि भीतोऽन्यत्र मार्गमनुपलभमानः पश्वादिराचार्यान्तेवासिनोर्मध्यतो निस्सरेत्तदा नैवादृशोऽनध्यायो मन्तव्योऽपितु पश्वादिनिकृष्टयोनिजदूषितवाय्वादिसङ्गेनाशुद्धाभ्यां तदानीमपि सम्यक्स्वास्थ्यावध्यनध्यायः कार्यइति सर्वस्मिन्नेवात्रानध्यायप्रकरणे सर्वानध्यायकारणेषु स्थानस्य स्वमनोवाक्कायानां चाकुलत्ववैषम्यादिरूपं च मालिन्यं प्रधानं तथासति यदि कुत्रापि कर्णश्रवाद्यनध्यायकारणोपस्थितावप्यनध्यायोचितं ग्लान्यादिरूपमशुचित्वं स्वस्य स्थानस्य वा नोपलभ्येत तदा विज्ञेन शास्त्रसाराशयमवगच्छताऽनध्यायो न मन्तव्यः कार्यो वा। यदा च क्वापि

स्वाध्यायहेतुषु सत्स्वप्यनुक्तकारणैः स्वाध्यायकारणाभासैर्वा चेतोविक्षेपकं वैषम्यमुपलभ्येत तदाप्यनध्यायः कार्यइति ग्रन्थकृदन्तराशयोऽवलोकनीयः ॥ १२७ ॥

भावार्थः-(पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः) गौ बैल आदि पशु, मेंडुका, बिल्ली—बिलाड़, कुत्ता, सांप, न्योला और सूवों के (अन्तरागमने) पढने पढाने वाले गुरु शिष्यों के बीच से निकल जाने पर (अहर्निशमनध्यायं विद्यात्) दिन रात का अनध्याय जाने (द्विजः) ब्राह्मणादि द्विज (स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धाम्) वेदाध्ययन के लिये अशुद्धस्थान (आत्मानं चाशुचिम्) और अपनी मानस वाचिक शारीरिक अपवित्रता इन (द्वावेवानध्यायौ प्रयत्नतो नित्यं वर्जयेत्) दो ही प्रकार के अनध्यायों को प्रयत्न से नित्य त्यागता रहे ॥

भा०—यहां अन्तिम श्लोक से सब अनध्याय प्रकरण का मुख्य सारांश संक्षेप में कह दिया है। पशु आदि स्वयं ही मनुष्य से डरा करते हैं इसी कारण सहसा मनुष्यों के बीच में होकर निकलना नहीं चाहते। और जब आवें वा निकलें तो मनुष्य का तेज किसी कालादि की प्रबलता से वा अदृष्ट संचित पाप के उद्बुद्ध होने से दब गया मानना चाहिये। इस दशा में मनुष्य की मानस व्यग्रता विक्षिप्तता रूप अशुद्धि ही अनध्याय का कारण जानो। और यदि किसी से डरा हुआ अन्य और जाने निकलने का मार्ग न मिलने पर पश्वादि, गुरु शिष्य के बीच से निकल जावे तो वैसा अनध्याय मानना आवश्यक नहीं है। किन्तु पश्वादि निकृष्ट योनियों के वायु आदि के लगने से अशुद्ध हुए गुरु शिष्य को उस समय भी सम्यक् चित्त स्वस्थ होने तक अनध्याय करना मानना चाहिये। इस अनध्याय प्रकरण के सब कारणों में स्थान की मलिनता और अपने मन वाणी शरीर की व्याकुलता विषमतारूप मलिनता ही प्रधान कारण है। ऐसा होने पर यदि कहीं कान में अधिक शब्द सुन पड़ने आदि अनध्याय के कारणों की उपस्थिति होने पर भी अनध्याय करने योग्य ग्लानि आदि रूप अपनी वा स्थान की अपवित्रता प्रतीत न हो तो शास्त्र का सार जानते हुए विद्वान् को अनध्याय न मानना वा न करना चाहिये। और जब कहीं स्वाध्याय करने के कारणों के होने पर भी न कहे कारणों से वा स्वाध्याय के कारणाभासों से चित्त का विक्षेप करने वाली विषमता प्रतीत हो तो भी अनध्याय करना चाहिये यह ग्रन्थकार का भीतरी अभिप्राय जानो ॥ १२७ ॥

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः॥

[षष्ठ्यष्टम्यावमावास्यामुभयत्र चतुर्दशीम्।
वर्जयेत्पौर्णमासीं च तैले मांसे भगे क्षुरे॥]

अ०-अमावास्यादिसर्वास्वेव तिथिषु सर्वदा ऋतुका लेऽपि स्नातको द्विजो ब्रह्मचारी भवेत्स्त्रीसंयोगं न कुर्यात्

भा०-पर्ववर्जं व्रजेच्चैनामिति तृतीय उक्तोऽप्ययमर्थो विशेषेण स्नातकस्येदं व्रतमिति ज्ञापनार्थं पुनर्वचनम्। न स्नातकादन्यस्यामावास्यादिषु संप्रयोगे सामान्यो दोषः षष्ठ्यष्टम्याविति पद्यं क्वचिदुपलभ्यते। रामचन्द्रेण व्याख्यातं च तैलादीनि च सुरतस्यैव साधनानीति न कोऽपि विशेषोऽवगम्यते॥ १२८॥

भावार्थः-(अमावास्यामष्टमीं च) अमावस दोनों अष्टमी (पौर्णमासीं चतुर्दशीम्) पौर्णमासी और दोनों चतुर्दशी इन छः तिथियों में (ऋतावपि स्नातको द्विजो नित्यं ब्रह्मचारी भवेत्) ऋतुकाल के अनुसार भार्यागमन उचित हो परभी स्नातक ब्राह्मणादि पुरुष नित्य नाम सदा ही ब्रह्मचारी रहे स्त्री का स्पर्श भूल कर भी न करे॥

भा०-पूर्व तृतीयाध्याय में कह चुके हैं कि "पर्वतिथियों को छोड़ कर शेष काल में भार्यागमन करे" इस से अमावास्यादि का निषेध आजाने पर भी विशेष कर स्नातक को यह व्रत-नियम ही अपने लिये मानना चाहिये। यह जताने के लिये यहां फिर कहा गया है। इस कारण विधिपूर्वक समावर्त्तन करने वालों को सामान्य दोष है। अर्थात् उन के अन्य अधिक दोषों में भी मिल जायगा तथापि उक्त तिथियों में ब्रह्मचारी न रहने की अपेक्षा अन्यों के लिये भी ब्रह्मचर्य रखना उत्तम ही है। (षष्ठ्यष्टम्यौ०) यह श्लोक कहीं अधिक मिलता है और सब से पिछले भाष्यकार रामचन्द्र ने इस पर भाष्य

किया है । श्लोक का अर्थ यह है कि–"दो षष्ठी, दो अष्टमी, अमावास्या, दो चतुर्दशी और पौर्णमासी इन तिथियों में–तैल मर्दन, मांसभक्षण, वाल वनवाना और स्त्रीसंयोग न करे"। सो तैलादि कामासक्ति के ही उपयोगी शृङ्गार वा साधन हैं इससे कोई प्रकार की विशेषता इस पद्य की नहीं जान पड़ती ॥१२८॥

नस्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरोनमहानिशि ।
नवासोभिःसहाजस्रं नाविज्ञातेजलाशये ॥१२९॥

अ० महानिश्यर्द्धरात्रे, वासोभिः सह बहुवासांसि धृत्वा, अजस्रं बहुकालं पुनःपुनर्वैकस्मिन् दिने स्नानं नाचरेत् ॥

भा०–एतासु दशासु स्नानमाचरतो रोगादिना शरीरबाधाभयं देहबाधनं च धर्म्यकर्मानुष्ठानव्याघातकम्। सति च कारणविशेष आस्वपि दशासु स्नानमप्रतिषिद्धमेव ज्ञेयम् ॥१२९॥

भाषार्थः–(भुक्त्वा स्नानं नाचरेत्) भोजन करके तत्काल ही स्नान न करे (नातुरो न महानिशि) न रोगदशा में न आधी रात के समय (न वासोभिः सहाजस्रम्) न वहुत वस्त्र पहन के न एक दिन में कई वार और (नाविज्ञाते जलाशये) न अज्ञात जलाशय में कभी स्नान करे ॥

इन उक्त दशाओं में स्नान करने से रोगादि द्वारा शरीर का पीडित होना सम्भव है । और शरीर के पीडित होने पर धर्मानुकूल वेदाध्ययनादि कर्मों में विघ्न होगा । और किसी कारण उक्त समयों में स्नान करना उचित वा आवश्यक हो तो विशेष वा अपवादरूप कर्त्तव्य का यहां वा कहीं भी निषेध नहीं है ॥१२९॥

देवतानांगुरोराज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा ।
नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणोदीक्षितस्यच १३०

अ०–देवतानां यज्ञशालादिदेवस्थानानां देवयज्ञरतद्विजानां वा बभ्रुणः पिङ्गलस्य कस्यापि, दीक्षितस्य यज्ञं कुर्वतः ॥

भा०—एषां छायायाः प्रतिकृतेश्चापि विजानतोल्ल-

ङ्घनं निरादरश्च न कदापि कार्यः किमुत साक्षात्, महता मनादरे धर्मस्यैव स्वसुखहेतोरनादरोऽवगन्तव्यः ॥ १३० ॥

भावार्थः-(देवतानां गुरोराज्ञः) मुख्य कर देवयज्ञ में तत्पर हुए पुरुषों का यज्ञशालादि देवस्थान-पूजा उपासना के स्थानों (स्नातकाचार्ययोस्तथा) स्नातक और आचार्य (बभ्रुणो दीक्षितस्य च) कोई पिङ्गल जीव और यज्ञ प्रतिष्ठा पाये दीक्षित पुरुष के (कामतश्छायां नाक्रामेत्) समझ पूर्वक प्रतिबिम्ब [तस्वीर] का भी अनादर तिरस्कार उल्लङ्घन न करे ॥

भा०-जब कि इन मान्य देव आदि के प्रतिबिम्ब का भी तिरस्कार त्याज्य है तो समझ पूर्वक किसी महान् पुरुष का साक्षात् अनादर करना तो अति बुरा है। महान् धर्मनिष्ठ पुरुषों के अनादर से अपने सुखहेतु धर्म वा विद्या का अनादर होता जानो ॥ १३० ॥

मध्यन्दिनेऽर्द्धरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम्।
सन्ध्ययोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ॥१३१॥

अ०-सामिषं समांसं च श्राद्धं भुक्त्वा चतुष्पथं न सेवेत॥

भा०-सन्धिकालेषु सृष्टौ केचिद्भावाः परिवर्त्तन्ते मांसभक्षणं चाधर्मजनकमेव तेनापि भावपरिवृत्तौ चतुष्पथे सेव्यमाने च तत्र वायोः प्राबल्यात्कोऽप्युपद्रवः सम्भवति॥

भावार्थः-(मध्यंदिनेऽर्द्धरात्रे च) ठीक दोपहर के समय तथा आधीरात के समय (सामिषं श्राद्धं च भुक्त्वा) मांस सहित श्राद्धान्न का भोजन करके (उभयोः सन्ध्ययोश्चैव) और सायंप्रातः दोनों सन्ध्या के समय भी (चतुष्पथं न सेवेत) चौराहे वा चौक पर न ठहरे वा निवास न करे ॥

भा०-दोपहर आदि प्रधान सन्धियों के समय अवान्तर प्रलयों के समान सृष्टि के पदार्थों की दशा का परिवर्त्तन सदा ही हुआ करता है । और मांसभक्षण के अधर्म जनक होने से ही भक्षक की दशा बदलती है वैसे समय चौराहे का सेवन करने से वहां वायु की प्रबलता होने से मनुष्य को कोई रोगादि उपद्रव होना सम्भव है ॥१३१॥

उद्वर्त्तनमपस्नानं विण्मूत्रेरक्तमेवच ।
श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तुकामतः॥

अ०—उद्वर्त्तनद्रव्यं, स्नानोदकं, सर्वाण्येतानि कामतो नाधितिष्ठेत् ॥

भा०—अपवित्रस्पर्शेन मनोग्लानौ धर्महानिः सम्भवति॥

भाषार्थः–(उद्वर्त्तनमपस्नानम्) उबटन करने से छूटे मलिन आटा आदि, स्नान किये मलिन जल (विण्मूत्रे रक्तमेव च) विष्ठा, मूत्र, लोहू (श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि) कफ, थूक और वमन किये अन्नादि पर (कामतो नाधितिष्ठेत्) समझपूर्वक न बैठे वा इन सब को न छुवे ॥

भा०—अपवित्र अशुद्ध वस्तुओं का स्पर्श करने से मन में ग्लानि होने पर शुद्धचित्तरूप धर्मनिष्ठा की हानि होना सम्भव है ॥१३२॥

वैरिणंनोपसेवेत सहायंचैववैरिणः ।
अधार्मिकंतस्करंच परस्यैवचयोषितम् ॥
नहीदृशमनायुष्यं लोकेकिञ्चनविद्यते ।
यादृशंपुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥

भा०—शत्रोः सहायोऽपि स्वशत्रुरेव स चावसरमवाप्य पीडयेत्। अधर्म्यादिसङ्गेन मलमूत्रादेरिव दुःखफलं स्फुटमेव बहवस्तु परदारोपसेविनः प्रत्यक्षं लोके हन्यन्ते दारस्वामिभिरन्येषां चोपस्थितमेव प्राणभयम् । ब्रह्मचर्यविघाताधिक्यादपि तेषामल्पायुष्ट्वसम्भवः ॥ १३४ ॥

भाषार्थः–(वैरिणं वैरिणः सहायं चैव) अपने शत्रु और शत्रु के सहायक (अधार्मिकं तस्करं च) अधर्मी हिंसकादि तथा चोर (परस्यैव च योषितम्) और अन्य की स्त्री वा वेश्या का (नोपसेवेत) सङ्ग वा सहवास न करे (पुरुषस्येह यादृशं परदारोपसेवनम्) इस जगत् में मनुष्य के लिये जैसा परस्त्रीगमन प्राणघा-

तक है (लोके नहि किञ्चनमीदृशमनायुष्यं विद्यते) संसार में ऐसा अन्य
भी दुष्कर्म शीघ्र आयु का नाशक नहीं है ॥

भा०-शत्रु का सहायक भी शत्रु ही होता वह अवसर पा कर पीड़ित
करेगा। अधर्मी आदि के सङ्ग से मल मूत्रादि के समान कुसङ्ग के दुर्गुण
ना स्पष्ट ही है। परस्त्रीगामी व्यभिचारी लोग जिस की स्त्री से व्यभि
करते हैं उस के पति आदि द्वारा अनेक तो प्रत्यक्ष ही मार डाले जाते और
बचते भी हैं उन के प्राणों का भय सदा उपस्थित रहता है। और अपान
सम्बन्धी जैसा २ व्यभिचार बढ़ता है वैसा ही प्राण का जीवनरूप बल वा
घटता जाता है यही मरण का स्वरूप है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य के अधिक
होने से ही मनुष्य प्रायः अल्पायु होते हैं ॥१३४॥

क्षत्रियंचैवसर्पंच ब्राह्मणंचबहुश्रुतम् ।
नावमन्येतवैभूष्णुः कृशानपिकदाचन ॥
एतत्त्रयंहिपुरुषं निर्दहेदवमानितम् ।
तस्मादेतत्त्रयंनित्यं नावमन्येतबुद्धिमान् १३

अ०-वेदादिबहुशास्त्रार्थाभिज्ञं ब्राह्मणं, क्षत्रियादिं
स्वजीवनस्य स्थितिमभीप्सुर्जनो नावमन्येत ॥

भा०-सांसारिकदशायां यउच्चकोटिस्थास्तएव क्षत्रि
दयस्तेजस्वित्वस्वभावा अवमानं न सहन्तेऽतएवावा
न्तुर्विनाशं चिन्तयन्ति तस्मान्नावमन्तव्याः। परमार्थप
गच्छन्तस्तु ब्राह्मणाः सहन्तएव सोढव्यं च तैः। क्षत्रिय
दिभिरवमानं न सोढव्यमिति ग्रन्थकृदाशयो नास्ति। तै
सोढव्यमयमेव विधिरन्यैश्च सहेरन् नवा सहेरन् दशाद्वये
न तेषामवमानं कार्यमित्येवात्र विधिवाक्यम् ॥ १३६ ॥

भाषार्थः-(क्षत्रियं चैव सर्पं च) क्षत्रिय-शारीरिक बल वा तेज वाले तथा सांप वा दुष्ट प्रकृति वाले पुरुष (ब्राह्मणं च बहुश्रुतम्) बहुत वेदादिशास्त्रों के जानने वाले ब्रह्मवर्चस तेजधारी ब्राह्मण (कृशानपि भूष्णुः कदाचन नावमन्येत वै) इन देखने में दुर्बलों का भी अपनी विद्यमानता वा जीवन चाहने वाला पुरुष कदापि अपमान तिरस्कार न करे (अवमानितमेतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेत्) अपमान किये हुए ये तीनों ही अपमान करने वाले पुरुष को जला देवें यह सम्भव है (तस्माद् बुद्धिमानेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत) तिस से बुद्धिमान् पुरुष इन तीनों का नित्य-कभी अपमान न करे ॥

भा०—संसारी दशा में जो उच्चकोटि में पहुंचे हों वे ही यहां ब्राह्मण क्षत्रिय पदों से लेने इष्ट हैं कि धर्म में अधिक तत्पर होने से जो स्वाभाविक तेजस्वी होते वे अपमान को नहीं सहते। उन में अन्य एषणाओं की अपेक्षा लोकैषणा अधिक रह जाती है । प्रकाश में अन्धकार को निवृत्त वा नष्ट करने के समान प्रबल धर्म में ही अधर्म को भस्म करने की शक्ति है । सो धर्मात्माओं में रहता हुआ धर्म अधर्मियों में ठहरे अधर्म को भस्म कर देता है । इस प्रकार स्वभाव से ही ब्राह्मणादि अधर्मी को न सहते हुए उस के विनाश का चिन्तन करते हैं इस से उन का अपमान न करे । और परमार्थ मार्ग में चलने वाले ब्राह्मण तो अपमान को भी सहलेते हैं और उन को सहना भी चाहिये तभी उस मार्ग में चल सकेंगे । क्षत्रियादि अपमान को न सहें यह ग्रन्थकार का अभीष्ट नहीं है । उन के लिये तो शास्त्र में सहने की ही आज्ञा होगी पर वे सहें वा न सहें दोनों ही दशा में अन्यों को उन का अपमान कदापि नहीं करना चाहिये यही विधान है ॥१३६॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनांमन्येतदुर्लभाम्

अ०-स्नातको गृही कदाचिन्निष्फलेप्युद्योगे मन्दभाग्योहमशक्तोहमुपार्जयितुमित्यात्मानं नावमन्येतापित्वामृत्योः श्रियमन्विच्छेदेनांदुर्लभां न न्येमत ॥

भा०-स्वस्यातिथ्यादीनां स्त्रीपुत्रादिभृत्यानां च निर्वाहाय गृहस्थेनान्नधने प्राप्तुमेष्टव्ये । तदर्थं धर्मानुकूलं

यतमानेन धनाद्यप्राप्तौ दुःखितेनोद्योगो न त्याज्यः । य
उद्योगेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ॥ १३७ ॥

भावार्थः-(पूर्वाभिरसमृद्धिभिरात्मानं नावमन्येत) पूर्व समय से उद्योग क
रने पर धनादि ऐश्वर्य प्राप्त न हों तो भी मेरे भाग्य में ही धनादि नहीं,
दीन असमर्थ हूं ऐसे निर्धन दरिद्र दशा से अपना अपमान न करे (आमृत्यो
श्रियमन्विच्छेत्) किन्तु मरण पर्यन्त लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिये खोज
उद्योग करता रहे कि धर्मानुकूल धनादि पदार्थ कैसे प्राप्त हों (एनां दुर्लभां
मन्येत) लक्ष्मी धनैश्वर्य की प्राप्ति को दुर्लभ न माने ॥

भा०—अपने शरीर, अतिथि आदि और स्त्री पुत्र सेवकादि का पालन
षणादि उचित निर्वाह करने के लिये गृहस्थ को अन्न धनादि प्राप्त करने
इच्छा करनी चाहिये । उस के लिये धर्मानुकूल प्रयत्न करने पर भी धनादि
न हों तो भी दुःखित हो कर उद्योग न त्यागे क्योंकि उद्योग से ही संसार
रमार्थ के सब कार्य सिद्ध होते हैं केवल चाहनामात्र से नहीं ॥१३७॥

सत्यंब्रूयात्प्रियंब्रूया न्नब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियंचनानृतंब्रूया देषधर्मःसनातनः ॥
भद्रंभद्रमितिब्रूयाद् भद्रमित्येववावदेत् ।
शुष्कवैरंविवादंच नकुर्यात्केनचित्सह॥ १३८

अ०---सत्यत्वप्रियत्वगुणद्वयविशिष्टं वाक्यं ब्रूयात्
अप्रियं सत्यमसत्यं प्रियमित्येकगुणं वचो न ब्रूयादेष
वेदमूलकत्वात्सनातनो धर्मइति । यत्प्रियं तदसत्यं य
सत्यं तदप्रियं यत्र स्याद् गुणद्वयं चैकत्रासंभवं दृश्येत त
भद्रभद्रमिति ब्रूयात्परिणामे यस्य कल्याणमेव फलं तदे
वदेत् पक्षान्तरे च भद्रमित्येव वा वदेत् । यत्रार्द्धमधिकं
भद्रं तद् वदेन्नत्वभद्राधिकम् । यद्वाऽन्यस्यानुमोदने य
भद्रं पश्येत्तदा भद्रं भद्रमित्येव वा वदेद्यादृशकथनेन शु

वैरं विवादं वा केनापि सह स्यान्नतादृशं प्रियं सत्यं वा धर्ममिच्छता वक्तव्यम् । यतः सत्यं हि तद्भूतहितं यदेव ॥

भा०—सत्यं प्रियं च, अप्रियं सत्यं, प्रियं चासत्यमिति त्रयः पक्षास्तत्र धर्ममिच्छता सर्वत्रैव परिणामेऽनिष्टापेक्षयाऽधिकेष्टसिद्धिरवलोकनीया । यदाधिक्येन परिणामे सुखकरं तदेव वक्तव्यं यद्वा सर्वार्थसाधकं तदंशे मौनमवलम्बनीयम् । नचाग्रहेण सत्यमेव प्रियमेव वा वक्तव्यमपितु यदन्यस्य हितकरं तदेव सत्यं प्रियंचावसेयम् ॥१३९॥

भाषार्थः-(सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्) सत्य बोले और प्रिय बोले जिस में सत्यता और कोमलता दोनों हों ऐसा वाक्य सर्वत्र बोले (अप्रियं सत्यं न ब्रूयात्) ऐसा सत्य न कहे जो अप्रिय हो (प्रियं चानृतं न ब्रूयात्) और ऐसा प्रिय वा कोमल भी न कहे जो मिथ्या हो (एष धर्मः सनातनः) वेदमूलक होने से यही सनातन धर्म है । जो प्रिय हो वह असत्य और जो सत्य हो वह अप्रिय हो तो (भद्रंभद्रमिति ब्रूयात्) कल्याण ही कल्याण जिस का फल वा परिणाम हो वैसा कहे (भद्रमित्येव वा वदेत्) यदि सर्वथा अच्छा परिणाम किसी का न दीखे तो जिस में आधा वा अधिक-प्रवल हित हो वैसा कहे । अथवा अन्य का अनुमोदन कर देने में ही जहां परिणाम में हित दीखे वहां अच्छा २ हां २ हूं २ वा अच्छा हां आदि कहे अर्थात् (शुष्कवैरं विवादं च केनचित्सह न कुर्यात्) सत्य वा प्रिय बोल कर किसी के साथ सूखा निष्प्रयोजन वैर वा विवाद न करे । अर्थात् किसी का विशेष हित वा प्रयोजन सिद्ध होता हो तो सत्य कहने द्वारा होने वाले वैर विवाद से भी न डरे वा हटे । इस से धर्म चाहने वाला सर्वदा परोपकार को ही सत्य माने ॥

भा०-सत्य प्रिय, अप्रिय सत्य और प्रिय असत्य ये उत्तम मध्यम निकृष्ट तीन पक्ष वा कक्षा हैं । उन में धर्म चाहने वाले को सर्वत्र ही परिणाम में अनिष्ट की अपेक्षा अधिक इष्टसिद्धि देखनी चाहिये । जिस का परिणाम जैसा अच्छा होगा वह वैसा ही धर्म होगा । जो परिणाम में अधिक सुखकारी है उसी को कहे अथवा सर्वार्थ साधक मौन को उस अंश में धारण करे किन्तु सत्य वा प्रिय का

परिणाम शोचे विना आग्रह से न कहे और जिस में अन्य का हित हो उ
को सत्य और प्रिय माने ॥ १३९ ॥

नातिकल्यंनातिसायं नातिमध्यन्दिनेस्थिते।
नाज्ञातेनसमंगच्छेन् नैकोनवृषलैःसह ॥
हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान्वयोधिक
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्चनाक्षिपेत्
नस्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टो विप्रोगोब्राह्मणानल
नचाऽपिपश्येदशुचिः स्वस्थोज्योतिर्गणान्दि
स्पृष्ट्वैतानशुचिर्नित्य मद्भिःप्राणानुपस्पृशेत्
गात्राणिचैवसर्वाणि नाभिंपाणितलेनतु ॥
अनातुरःस्वानिखानि नस्पृशेदनिमित्ततः।
रोमाणिचरहस्यानि सर्वाण्येवविवर्जयेत् ॥१४

अ०—अतिकल्यमतिप्रभाते, अज्ञातेन सह, एकः, वृ
लैर्धर्मविरोधिभिश्च सह न क्वापि कदापि गच्छेत्। हीना
ङ्गान् चक्षुरादिहीनानतिरिक्ताङ्गान् षडङ्गुलिकादींश्च ना
पेत्। उच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणाग्नीन् पाणिना न स्पृ
त्। अशुचिः स्वस्थश्च सन् दिवि ज्योतिर्गणान्नचापि प
त्। अनातुरः कण्डूयनादिरोगेण विना प्रक्षालनादिनि
त्तमन्तरेण च स्वानि खानि न स्पृशेत्। रहस्यानि रोमाणि
स्पर्शं विवर्जयेत्। अशुचिना गवादिस्पर्शकर्मणि क्रियमाणे
इन्द्रियस्पर्शएव प्रायश्चित्तं कार्यम् ॥

भा०—गमनमत्र विशिष्टतया विदेशाय प्रस्थानं बहुकालावधि विज्ञेयं नतु नैत्यकं वाटिकादिषु शुद्धवायुसेवनार्थं भ्रमणम् । प्रातःसायंगमन उपासना व्याहन्येत । आक्षेपेणान्येषां दुःखं स्याद् दुःखहेतुरेवाधर्मः । गवादिस्पर्श-उपलक्षणार्थः । उच्छिष्टः स्पर्शादिरूपे कस्मिन्नपि कार्ये न लगेत् । शौचं विस्मृत्य स्वस्थेनापि न भाव्यमपितु शौचावधि तन्मनसा सापेक्षेण स्थातव्यम् । यदि शौचं विस्मृत्य कार्यान्तरे प्रवर्त्तेत तदा पुनः शौचं कृत्वा शुद्धोदकेनेन्द्रियस्पर्शं यथाविधि कुर्यात् । प्राणपदेनात्र चक्षुरादीन्द्रियाणां ग्रहणम् ॥१४४॥

भाषार्थः—(नातिकल्यं नातिसायम्) अतिप्रातःकाल—उषःकाल से पूर्व, सन्ध्याकाल में अधिक अन्धकार हो जाने पर (नातिमध्यन्दिने स्थिते) ठीक दोपहर के समय (नाज्ञातेन समम्) किसी अजान मनुष्यादि के साथ (नैको न वृषलैः सह) अकेला और धर्महीन धर्मविरोधी नीच शूद्रादि के साथ मार्ग में कभी (न गच्छेत्) न चले (हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्) चक्षु आदि अङ्गहीनों, छः अङ्गुली वाले आदि अधिकाङ्गों (विद्याहीनान्वयोऽधिकान्) अपने से अधिकायु वाले विद्याहीनों (रूपद्रव्यविहीनांश्च) जिन का रूप देखने में अच्छा न हो जिन के समीप द्रव्य न हो ऐसे दरिद्रों (जातिहीनांश्च) और वर्णसंकरादि को काणा, कुवडा, मूर्ख, काला, टिढमुहा, दरिद्री, दुरङ्गा आदि शब्द बोलकर (नाक्षिपेत्) न चिडावे (उच्छिष्टो विप्रः) भोजन वा मलमूत्र त्याग करने पर शुद्धि किये विना ब्राह्मणादि द्विज (गोब्राह्मणानलान्) चक्षुरादि इन्द्रियों ब्राह्मण और अग्नि को (पाणिना न स्पृशेत्) हाथ से न छुवे (अशुचिः स्वस्थो दिवि ज्योतिर्गणान् न चापि पश्येत्) और अपवित्र दशा में स्वस्थ बैठा हुआ आकाश में तारे चन्द्रमादि को न देखे (अशुचिरेतान् स्पृष्ट्वा) अपवित्र दशा में इन्द्रियादि का स्पर्श करले तो (नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत्) जब २ स्पर्शकरे तब २ शुद्ध जल से इन्द्रियों का स्पर्श रूप प्रायश्चित्त करे (गात्राणि चैव सर्वाणि) तथा शरीर के हाथ पांव आदि अवयवों को भी जलस्पर्श द्वारा शुद्ध करे (नाभिं पाणित-

लेनतु) और सीधे हाथ के तले से नाभि का स्पर्श करे (अनातुरोऽनिमित्ततः) खुजली आदि बाधा पीड़ा के विना तथा धोने आदि प्रयोजन के विना (खानि रहस्यानि रोमाणि च) सब इन्द्रियछिद्रों और उपस्थ सम्बन्धी गुप्त रोमों [बालों] का (न स्पृशेत्) स्पर्श न करे किन्तु (सर्वाण्येव विवर्जयेत्) स्पर्श करने में सभी का त्याग रक्खे ॥

भा०–गमन का निषेध विशेष कर कहीं विदेश को वा दूर तक जाने का जिस में काल अधिक लगे किन्तु शुद्धवायुसेवन के लिये किसी बाग आदि में वा विशेष कार्य सिद्धि के लिये इधर उधर कहीं समीप जाने का निषेध नहीं प्रातः सायं कहीं को चलने से सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म में विघ्न और चौरादि का भय है । ठीक दोपहर का मार्ग निषेध भी अधिकांश वसन्त ग्रीष्म ऋतु का जानो । अज्ञात के साथ वा अकेला चलने में भय–कष्ट तथा नीच के साथ कुसङ्ग दोष है । हीनाङ्गादि को आक्षेप करने से उन को दुःख पहुंचेगा और किसी को दुःख पहुंचाना भी अधर्म ही है । इन्द्रियादि का झूठें छूना उपलक्षणार्थ है अर्थात् अपवित्र हुआ किसी के स्पर्शादि किसी कार्य में न लगे । शुद्धि करना भूल कर स्वस्थ भी न हो बैठे किन्तु जब तक हाथ पांव धोके कुल्ला आदि न करले तब तक उसी की ओर चित्त रक्खे । यदि शुद्धि करना भूल कर अन्य कार्य में लग जावे तो फिर शुद्धि कर शुद्ध जल से इन्द्रियस्पर्श विधिपूर्वक सब इन्द्रियों की शुद्धि रूप प्रायश्चित्त करे ॥ १४४ ॥

मङ्गलाचारयुक्तःस्यात् प्रयतात्माजितेन्द्रियः ।
जपेच्चजुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥
मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यंचप्रयतात्मनाम् ।
जपतांजुह्वतांचैव विनिपातोनविद्यते ॥१४६॥

अ०–अभीष्टप्रयोजनसिद्धये नित्यं नैरालस्यत्वेन शौचजितेन्द्रियत्वजपहोमरूपब्रह्मयज्ञदेवयज्ञादावाचारे तत्परः स्नातको विप्रः स्यात् । यत एवमाचरतां गृहिणां वि

पातो विपरीतोऽनिष्टकर इष्टबाधकः कोऽप्युपद्रवो न विद्यते॥

भा०—आयुर्नैरोग्यं धनादिकं च गृहस्थानामाधिक्ये-नाभीष्टानि मङ्गलानि तेषां मालिन्यालस्यादयो दोषा बाधकाः शौचादयश्चायुरादीनां स्थापकाइति मत्वा मङ्गलमिच्छता तथैवोद्योगः कार्यइति ॥१४६॥

भावार्थः—(मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्) अभीष्ट प्रयोजन रूप मङ्गल की सिद्धि के लिये निम्नलिखित उत्तम आचरण में युक्त रहे (प्रयतात्मा जितेन्द्रियः) सब प्रकार नित्य शुद्धि करे इन्द्रियों को वशीभूत करे इस के साथ (अतन्द्रितो नित्यं जपेच्चाग्निं जुहुयाच्चैव) नित्य निरालस रहता हुआ ब्रह्मयज्ञरूप सन्ध्योपासन श्रद्धा भक्ति से वेद मन्त्रों का जप पाठ और नित्य अग्निहोत्र रूप देवयज्ञ करे (मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम्) शरीरान्तःकरण की वाह्याभ्यन्तर शुद्धि रखने पूर्वक (जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते) ठीक २ सन्ध्या अग्निहोत्र नियमानुकूल मङ्गलाचरण करते हुओं पर विपरीत अनिष्ट विपत्ति अकाल मृत्यु आदि नहीं आतीं ॥

भा०—ठीक समय तक जीवन बना रहना, नीरोगता और निर्वाहार्थ धनादि की प्राप्ति गृहस्थों के लिये अधिक कर अभीष्ट मङ्गल हैं। उन के बाधक नाशक मलिनता और आलस्यादि दोष हैं और शौचादि आचार आयु आदि के स्थापक हैं ऐसा निश्चित मान कर मङ्गल चाहते हुए को वैसा ही उद्योग करना चाहिये। जिन घरों के प्रधान पुरुष शुद्धि जितेन्द्रियतादि पूर्वक ठीक २ नियमानुसार श्रद्धा भक्ति के साथ ब्रह्मयज्ञ देवयज्ञ का नित्य सेवन करते हैं। निश्चय जानो कि उन घरों में अकाल मृत्यु वा भयङ्कर विपत्ति कदापि न आवेंगी॥१४६

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तंह्यस्याहुःपरंधर्म मुपधर्मोऽन्यउच्यते॥
वेदाभ्यासेनसततं शौचेनतपसैवच।
अद्रोहेणचभूतानां जातिंस्मरतिपौर्विकीम्॥

पौर्विकींसंस्मरन्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसतेपुनः ।
ब्रह्माभ्यासेनचाजस्र मनन्तंसुखमश्नुते ॥
सावित्रान्शान्तिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसुनित्यशः
पितॄंश्चैवाष्टकास्वर्चे न्नित्यमन्वष्टकासु च ॥

अ०-अतन्द्रितस्त्यक्तालस्यो गृहस्थो यथाकालं सा मादिनियतकाले नित्यं वेदमेवाभ्यसेन्नान्यं कमपि नि न्धम्। यद्वा वेदमभ्यस्येदेवाऽयाभ्यासे कामचारः । सएव स्य परो धर्मोऽन्यश्चोपधर्म उच्यते तत्त्वविद्भिः । सतत विरतवेदाभ्यासेन सहैव शौचतपआदिनियमेनाहिंसादि मेन चाविरतं सेव्यमानेन पूर्वजन्मानुभूतं वृत्तमल्पं म बहुतरं वा स्मरति । पौर्विकीं जातिं च संस्मरन् वेदमे तत्परतयाऽभ्यस्यति । तेन च कर्मणाऽग्रेऽग्रेऽनन्तं निश्रेयस सुखमेवाश्नुते । सावित्रान् सवितृदेवताकान् शान्तिसूक्तसा ध्यांश्च होमान् पर्वस्वमावास्यापौर्णमास्योर्नित्यं कुर्यात् हेमन्तशिशिरयोः कृष्णाष्टमीषु तत्सन्निहितास्वन्वष्टका नवमीषु च विशेषेण पितृयज्ञं कुर्यात् । एतच्च कर्म नैत्यक वेदाभ्यासेन सहैव गृहस्थेन कार्यम् ॥

भा०-पूर्वोक्तेष्टसिद्ध्यर्थं निर्दिष्टकर्मसु जपरूपब्रह्मयज्ञ स्य सर्वापेक्षया प्राधान्यं द्वितीयकक्षायां च दर्शेष्ट्यादिरूप देवयज्ञस्येति प्रदर्शितमत्र शौचादीनि त्वनयोरेवाङ्गानीति बोध्यम् । अहिंसादियमैः शौचादिनियमैश्च सह सेव्यमानो वेदाभ्यासरूपो ब्रह्मयज्ञो मोक्षपर्यन्तानन्तस्यापि सुखस्य प्रा

पकः किमुत संसारसुखं ततोऽतिरिच्येत ? । यदा कोऽपि यमनियमैः सहैव वेदाभ्यासं करोति तत्र यदि मध्ये विशिष्टा दृढता रुचिस्तदेव कर्त्तुमाधिक्येनोत्साहश्च वर्धेत तदानीं जानीयात्पूर्वजन्मसु वेदाभ्यासेन यत्सुखमिष्टसाधनं चानुभूतं मया तस्यैव सूक्ष्मतयावस्थितः संस्कारो जागरणोन्मुख-इव सन् मामेतदेव कारयितुं प्रोत्साहयति । यत्कार्यं बृहत्त्वमापन्नं प्रत्यक्षीभवति तदादौ सूक्ष्ममेवाङ्कुरितं जायते स्मरणस्य पूर्वरूपमपि स्मरणमेव ज्ञेयम् । तस्माद्वेदाभ्यासएव साङ्गोपाङ्गः क्रियमाणः सर्वाभीष्टसाधकोऽवसेयः ॥ १५० ॥

भाषार्थः-(अतन्द्रितो यथाकालं वेदमेव नित्यमभ्यसेत्) गृहस्थ पुरुष निरालस हो-आलस्य छोड़ कर ठीक समय पर नित्य वेद का ही अभ्यास करे किन्तु अन्य किसी ग्रन्थ का नहीं अथवा वेद का अभ्यास अवश्य करे अन्य का अभ्यास करे वा न करे (अस्य तं हि परं धर्ममाहुः) इस गृहस्थ का वेदाभ्यास ही परम धर्म पूर्वज तत्त्वदर्शी महर्षियों ने कहा है (अन्य उपधर्मउच्यते) और इस से भिन्न अग्निहोत्र देवयज्ञादि सभी द्वितीय कक्षा का धर्म कहा गया है (सततं वेदाभ्यासेन) ऋषियज्ञरूप निरन्तर वेदाभ्यास करने (शौचेन तपसैव च) बाहर भीतर शुद्धि, शुद्ध भक्ष्याहार और तप करने (भूतानामद्रोहेण च) तथा प्राणियों के साथ सर्वथा द्रोह त्यागरूप अहिंसादि यमों के सेवन से (पौर्विकीं जातिं स्मरति) पूर्व जन्म का स्मरण होता है (पौर्विकीं जातिं संस्मरन्) पूर्व जन्मों का स्मरण करता हुआ (पुनर्ब्रह्मैवाभ्यसते) फिर आगे २ अधिक २ वेद का ही अभ्यास करता है (ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते) पीछे उस निरन्तर किये वेदाभ्यास से अनन्त मोक्ष सुख भोगता है । (पर्वसु सावित्रान् शान्तिहोमांश्च नित्यशः कुर्यात्) अमावास्या पौर्णमासी नामक पर्वतिथियों में सवितृ देवता वाले मन्त्रों सूक्तों से और शान्ति सूक्तों से नित्य नाम प्रत्येक पर्व में होम करे (अष्टकास्वन्वष्टकासु च नित्यं पितॄंश्चैवार्चेत्) हेमन्त और शिशिर ऋतुओं के कृष्णपक्ष की अष्टमियों और उनके समीप की नवमी तिथियों में विशेष कर पितृपनयुक्त ब्राह्मणों का पूजन रूप पितृयज्ञ विशेषकर करे ॥

भा०-पूर्वोक्त पूर्णायु आदि रूप इष्ट सिद्धि के लिये दिखाये गये मङ्गल कर्मों में जपयज्ञ रूप ब्रह्मयज्ञ की प्रधानता उत्तमता सब की अपेक्षा श्रे है और द्वितीय कक्षा में दर्शेष्टि आदिरूप देवयज्ञ की उत्तमता है यह यहां दिखायी गयी है। और शौचादि कर्म इन्हीं के अङ्ग वा साधन हैं। हिंसादि यम और शौचादि नियमों के साथ सेवन किया ब्रह्मयज्ञरूप वेदा जब अनन्त मोक्षपर्यन्त सुखों का हेतु है तो छोटा संसार सुख उस से मिलना कठिन है ? । जब कोई यम नियमों के सहित जपयज्ञरूप वेदाभ्यास करता उस के करते २ यदि बीच में विशेष दृढ़ता विशेष रुचि और उसी को के लिये अधिकता से उत्साह बढ़े तब जान ले कि पूर्वजन्मों में जप यज्ञ वेदाभ्यास द्वारा जिस इष्ट सिद्धिरूप सुख का अनुभव मैं कर चुका हूं सूक्ष्म अवस्थित उसी का संस्कार जागना चाहता हुआ मुझ को यह कर्त्तव्य कर लिये उत्साह देता है यही पूर्वजन्म के स्मरण का चिह्न है। जो कार्य बढ़ मैं प्रत्यक्ष होता वह प्रथम सूक्ष्म रूप से ही अङ्कुरित अवश्य होता है और रण का पूर्वरूप भी स्मरण ही जानो इस से साङ्गोपाङ्ग किये वेदाभ्यास को सब अभीष्टों का साधक जानो ॥ १५० ॥

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।
उच्छिष्टान्ननिषेकंच दूरादेवसमाचरेत्॥
मैत्रंप्रसाधनंस्नानं दन्तधावनमञ्जनम्।
पूर्वाह्णएवकुर्वीत देवतानांचपूजनम्॥
दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्चद्विजोत्तमान्।
ईश्वरंचैवरक्षार्थं गुरूनेवचपर्वसु॥
अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनंस्वकम्।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतःपृष्ठतोऽन्वियात्॥

अ०-मूत्रोच्चारं पादप्रक्षालनमुच्छिष्टान्नपरित्यागं चा वसथान्निवासस्थानाद्यज्ञालयाद्वा दूरादेव कुर्यात्। मैत्रं पु

रीषोत्सर्गं, प्रसाधनं केशादीनामुञ्छनं तैलपातनादि च स्नानं दन्तधावनमञ्जनं चक्षुषोर्दैवतानामग्न्यादिवेदोक्तानामग्निहोत्रादिदेवयज्ञविधिना पूजनं सर्वमेतत्पूर्वाह्णएव कुर्वीत। दैवतानि देवयज्ञा अग्निष्टोमादयो यत्र प्रतिदिनं याज्ञिकैः क्रियन्ते तानि देवयजनस्थानानि, धार्मिकान् द्विजोत्तमान्-धर्ममर्मज्ञान् ब्राह्मणान्, ईश्वरं राजानं पर्वस्वमावास्यादिषु पित्रादिगुरूनेव पितृत्वेनाभिपूजयितुमभिगच्छेत्। द्रष्टुं समागन्तुं च सर्वाण्यभिमुखं यायात्। विद्यावयोवृद्धाः पुरुषा यदि स्वसन्निधावागच्छेयुस्तदोत्थायाभिवादयेत्स्वकमासनं च तेभ्यो दद्यात्। बद्धाञ्जलिस्तदभिमुखं तिष्ठेत्। गच्छतश्च तान् पृष्ठतोऽनुगच्छेत् ॥

भा०—दिनस्य पूर्वभागः परभागापेक्षया प्रकाशप्राबल्याद्दैवस्तत्र शुभकाले शुभानि कर्माणि पराह्णापेक्षया सम्यक् साधूनि सम्पद्यन्ते। यज्ञालयादिशुभकृत्यस्थानधार्मिकादीनां नित्यमवलोकनेन समागमेन वा नवा नवाः शुद्धा धर्मवर्धकाः संस्कारा उपचीयन्ते तस्मात्तादृशं कर्म प्रातरेव प्रतिदिनं कार्यम्। वृद्धाभिवादनादिनापि धर्म्यसंस्कारसंचयः स्फुटएवानुभवसाध्यः ॥१५४॥

भाषार्थः—(आवसथाद्दूरान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्) अपने वसने रहने बैठने लेटने के स्थान से वा यज्ञस्थान से दूर—अलग जाकर मूत्र—प्रस्राव करे, दूर जाकर ही पगधोना आदि करे (उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत्) और बची हुई अन्न की जूठन भी निवासस्थान से दूर ही सदा फेंका करे किन्तु समीप में दुर्गन्ध कीचड़ और मलिनता करना धर्म से विरुद्ध है (मैत्रं प्रसाधनं स्नानम्) मलत्याग दिशा जाना, वालों में तेलडालना और काढ़ना, स्नान करना

(दन्तधावनमञ्जनम्) दातौन कुल्ला और आंखों में अञ्जन सुरमा लगाना ये काम तथा (देवतानां च पूजनम्) वेदोक्त अग्न्यादि देवताओं का अग्नि आदि कर्म द्वारा पूजन अर्थात् घर आदि के तत्त्वों की शुद्धि (पूर्वाह्णएव कुर्वीत) दोपहर से पूर्व ही करे (दैवतानि धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान्) अग्नि नामक देवयज्ञादि उत्तम धर्मकार्य जहां प्रतिदिन होते हों वहां, धर्मात्मा विद्वान् ब्राह्मणों के समीप (ईश्वरं चैव रक्षार्थम्) अपनी रक्षा के लिये राजा के समीप (गुरूनेव च पर्वसु) और अमावास्या पौर्णमासी आदि पर्वतिथियों में पिता आदि मान्य गुरुलोगों के समीप देव वा पितर मानकर पूजन के लिये (अभिगच्छेत्) सम्मुख प्रातःकाल दो पहर से पूर्व जाया करे (वृद्धांश्चाभिवादयेत्) विद्या वृद्ध वा धन अवस्था प्रभुतादि में वृद्ध नाम बडे कोई लोग अपने निकट आवें तो उन को उठकर अभिवादन-प्रणाम-नमस्कार करे (स्वकमासनं चैव दद्यात्) अपना आसन-चौकी-कुर्सी आदि भी उन को बैठने के लिये देवे (कृताञ्जलिरुपासीत) हाथ जोड़कर उन वड़ों के समीप में खड़ा रहे वा बैठे (गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात्) और यदि वे मान्य गुरु लोग अपनी इच्छा वा कार्यवश कहीं को उठकर चलें तो उन के पीठ पीछे सदा चला करे किन्तु आगे कदापि न चले ॥

भा०—दिन का पहिला भाग परभाग की अपेक्षा प्रकाश की प्रवलता होने से दैवकोटि में है। उस शुभ समय में शौचादि अच्छे कर्म करना उत्तम होता है। यज्ञशालादि धर्मसम्बन्धी कर्म होने के स्थान और धर्मात्मा आदि पुरुषों का नित्य प्रातःकाल अवलोकन करने वा उन के समीप जाने तथा मिलने से चित्त में धर्म को बढ़ाने वाले नये २ शुद्ध संस्कारों का संचय होता है इस से ऐसे काम प्रातः काल ही नित्य करने चाहिये। और बड़ों को अभिवादन करने आदि द्वारा धर्मानुकूल शुद्ध संस्कारों [खयालातों] का संचय हृदय में होता यह भी प्रत्येक पुरुष को शोचने से स्पष्ट ज्ञात हो सकेगा ॥ १५४ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितंसम्यङ् निबद्धंस्वेषुकर्मसु ।
धर्ममूलंनिषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥
आचाराल्लभतेह्यायु राचारादीप्सिताःप्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्य माचारोहन्त्यलक्षणम् ॥

दुराचारोहिपुरुषो लोकेभवतिनिन्दितः ।
दुःखभागीचसततं व्याधितोऽल्पायुरेवच ॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यःसदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतंवर्षाणिजीवतिः १५८

अ०-मानसवाचिककायिकानि सद्भिराचरितानि समुचितानि वेदाध्ययनादिस्वस्वकर्मसम्बद्धानि श्रुतिस्मृतिसूक्तान्यन्तःकरणशुद्धिरूपशुभधर्मस्य मूलानि संचयहेतूनि च कर्माणि ब्राह्मणादिर्गृहस्थोऽनलसः सन् सेवेत । अलक्षणमङ्गहीनत्वादिदुश्चिह्नजन्यं दोषं दरिद्रतां वाचारो हन्ति । सर्वलक्षणहीनः--सुरूपशिखा[illegible]वचःप्रयोगशुभाकृत्यादिशुभसूचकचिह्नरहितोऽपि, अन्यत्सर्वं सुगमम् ॥

भा०-धर्मस्य बाह्यशुभाचरणसाध्यत्वमत्र प्राधान्येन प्रदर्श्यते । नतु केवलान्तर्विचारसाध्या धर्मस्थितिरिति मन्तव्यम् । यथा प्रक्षालनादिकर्मणैव वसनादीनां शुद्धिस्तथैवात्र शोधकानि शुभकर्माण्यनुष्ठेयानि । आचारएवायुषः स्थापको दुराचाराः सद्यो म्रियन्ते । आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ । स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशइति सुश्रुतस्य शारीरे सम्यगुक्तम् । सर्वोऽत्र प्रशंसार्थवादो निन्दार्थवादश्च विचारेण सत्यएव प्रतीयते ॥१५८॥

भाषार्थः-(श्रुतिस्मृत्युदितं स्वेषु कर्मसु सम्यङ् निबद्धम्) वेद और धर्मशास्त्र में कहे, अपने २ वेदाध्ययनादि कर्मों से सम्यक् संबन्ध रखने वाले [ब्राह्मणादि का वेदाध्ययनादि कर्म, अच्छे ठीक २ शौचादि आचरण किये विना अच्छा कभी नहीं हो सकता] (धर्ममूलं सदाचारम्) अन्तःकरण की शुद्धिरूप शुभ धर्म के मूल तथा

धर्म को संचित करने वाले, ऐसे श्रेष्ठ लोगों ने स्वीकार किये शारीरिक वा और मानस उचित शुभाचरणरूप कर्मों को (अतन्द्रितो निषेवेत्) ब्राह्मण गृहस्थ पुरुष निरालस हुआ सेवन करे (आचारादायुर्हि लभते) अच्छे आचरणों से पूर्ण आयुपर्यन्त जीवित रहता है [जैसे मलिन वस्त्र को मैल शीघ्र ला देता और शुद्ध वस्त्र अधिक दिन चलता है वैसे शौचादि शुद्धाचरणी को पूर्ण आयु प्राप्त होता है (आचारादीप्सिताः प्रजाः) अच्छे आचरणों के अच्छे अनुकूल पुत्रादि होते हैं] [सब ही पदार्थ शुद्ध कारण से शुद्ध और मलिन से मलिन उत्पन्न होते अर्थात् कारण के अनुसार ही कार्य में गुण आते शुद्ध संस्कारी सन्तानों का होना सभी चाहते हैं] (आचारादक्षय्यं धनम्) आचरणों से ही चिरस्थायी नष्ट न होने वाले अधिक धन को प्राप्त होता (आचरोऽलक्षणं हन्ति) शुभाचरण ही अङ्गहीन होने आदि बुरे चिह्न से वाले दोष को वा दरिद्रता को नष्ट कर देता है वह शुद्धाचरणी एकाक्ष होने दोष से लोक में दूषित नहीं कहा जाता (दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः) दुराचारी पुरुष लोक में सुरूपवान् होने पर भी निन्दित हो जाता (दुःखभागी च सततम्) तथा निरन्तर दुःख भोगने वाला (व्याधितोऽल्पायुरेव) वह रोगी और अल्प आयु वाला होता है तथा (सर्वलक्षणहीनोऽपि यो नरः सदाचारवान्) अच्छा रूप और अच्छी बनावट [सुडौल] आदि शुभ चिह्नों से रहित भी जो पुरुष श्रेष्ठ आचरण करने वाला होता (श्रद्दधानोऽनसूयश्च) धर्म में तथा धर्मात्माओं में श्रद्धा भक्ति रखने वाला और किसी की निन्दा वा चुगली नहीं करता वह (शतं वर्षाणि जीवति) पूर्ण सौ वर्ष तक जीवित रहता है

भा०-बाहरी शुभाचरणों से धर्म की प्रधानस्थिति अन्तःकरण में होती मुख्यांश यहां दिखाया है। केवल भीतरी विचार वा ज्ञान से ही धर्म की स्थिति नहीं होती यह ठीक मानना चाहिये । जैसे फींचने पछारने आदि कर्म से वस्त्रों की शुद्धि होती वैसे ही अन्तःकरण के शोधक कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये । अच्छा आचरण ही आयु का स्थापक है और दुराचारी लोग प्रायः ही लोक में शीघ्र मरते हैं । सुश्रुत के शारीरस्थान में लिखा है कि "गर्भाधान के दिनों में स्त्रीपुरुषों के जैसे आहार आचार और शुभ वा अशुभ जैसी चेष्टा होती है वैसे ही उन के सन्तान भी होते हैं„ इस से आचार की छाया सन्तान पर अवश्य पड़ती है । यहां कही आचार की सब प्रशंसा और दुराचार की निन्दा विचार पूर्वक शोचने से सत्य ही प्रतीत होती है ॥ १५८ ॥

यद्यत्परवशंकर्म तत्तद्यत्नेनवर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशंतुस्यात् तत्तत्सेवेतयत्नतः ॥
सर्वंपरवशंदुःखं सर्वमात्मवशंसुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥
यत्कर्मकुर्वतोऽस्यस्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः
तत्प्रयत्नेनकुर्वीत विपरीतंतुवर्जयेत् ॥१६१॥

अ०-वृत्तिप्रयोजनाय दृष्टार्थं यद्यत्कर्म पराधीनं तत्तत्प्रात्यहिकविचारोद्योगेन वर्जयेत् । येन स्वभोजनाच्छादिकमन्याधीनं न स्यात् । स्वाधीनमेव जीविकाद्यर्थं कर्म कुर्यात् । यदि च क्वचित्कस्यचिद्विज्ञस्य वशे स्थित्यैवात्मनः परितोषः स्यात्स्वस्य कल्याणं तथैवेक्षेत तदा तदेव कुर्यादन्यद्वर्जयेत् ॥

भा०-प्राणयात्रानिर्वाहाय दृष्टार्थे कर्मण्येव पराधीने दुःखे च सति धर्म्यकर्मानुष्ठानोत्साहो व्याहन्येत। नहि तदानीं धृत्युत्साहपुरस्सराणि सम्यक्कर्माणि निष्पद्यन्ते । तस्मात्तदेव परवशं याचनावैतनिकत्वादिकर्म हेयं नान्यद्वेदाध्ययनादि शुभोपदेशग्रहणादि च गुर्वाद्यन्याधीनमपीति । यावद्यादृशं च स्वान्तन्त्र्यं यस्य परिणामे सुखावहं तादृशमेव तेन स्वीकार्यमधिकं स्वाच्छन्द्यमपि बहुत्र दोषकरं लोके लक्ष्यते । मनुष्यापेक्षया तिरश्चां पश्वादीनामज्ञानसंबद्धमधिकं पारतन्त्र्यमेवाधिकदुःखस्य कारणम् । यत्रयत्र यादृशं ज्ञानाधिक्यं स तादृशएव सुखी भवतीश्वरे च ज्ञानं स्वातन्त्र्यं च काष्ठां प्राप्तं तस्मादेव तस्मिन्निरतिशयानन्दः । आत्म-

नस्तुष्टिरेवचेति यदुक्तं द्वितीयाध्याये तेनास्यान्तिमपद्य सम्बन्धः । स्वाधीनं पराधीनं वा कर्म सन्तोषजनकं तं सर्वं धर्मानुकूलं बोध्यम् ॥ १६१ ॥

भाषार्थः—(यद्यत्परवशं कर्म) जीविका होने के लिये संसार में प्रत्यक्ष जनादि मिलनाही जिसका फल हो ऐसा जो २ कर्म पराधीन करना पड़ता (तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्) उस २ काम को प्रतिदिन शोच विचार द्वारा हुए से छोड़ देवे जिससे अपने भोजन वस्त्र का निर्वाह अन्य के आधीन न रहे द्यदात्मवशन्तु स्यात्तत्सेवेत यत्नतः) और जीविकादि के लिये जो २ अपने धीन काम हो उस २ को विशेष विचार के साथ सेवन करे (परवशं सर्वं दु पराधीन रहना सब वा अधिकांश दुःखरूप और (आत्मवशं सर्वं सुखम्) धीन होना सब वा अधिकांश सुख है (एतत्समासेन सुखदुःखयोर्लक्षणं वि त्) मनुष्य संक्षेप से इसी को सुख दुःख का लक्षण जानलेवे (यत्कर्म कुर्वतो न्तरात्मनः परितोषः स्यात्) जिस कर्म को करते हुए इस गृहस्थ के आत्म मन में सन्तोष-प्रसन्नता वा उत्साह हो (तत्प्रयत्नेन कुर्वीत) उस कर्म को ल साथ करे (विपरीतन्तु वर्जयेत्) और उससे विरुद्ध असन्तोष, ग्लानि, लज्जा, भय के उत्पादक कर्म को त्यागदेवे। यह सन्देह की दशा में धर्माधर्म की परीक्षा लिये कसौटी है । अथवा जहां किसी विद्वान् महात्मा के आधीन रहनेसे ही को सन्तोष हो वा पराधीन रहने में ही अपना कल्याण जहां किसी को तब वैसाही करे अन्य को छोड़देवे ॥

भा०—अपने प्राण पोषणार्थ प्रत्यक्ष फलवाले पराधीन कर्म में ही होने पर धर्मानुकूल कर्म के सेवन के उत्साह में वाधा पड़ेगी इससे वहीं धीनता बुरी है क्योंकि पराधीनता में धीरज वा उत्साह पूर्वक धर्मकार्य हीं होते। इससे उसी पराधीन भिक्षावृत्ति वा वैतनिकादि जीविका को छोड़ स्वाधीन जीविका करने का उपाय निकाले । और गुरु आदि के आधीन ध्ययनादि वा शुभशिक्षा ग्रहणादि पराधीन कर्म त्याज्य नहीं हैं । जिसको और जितनी स्वतन्त्रता परिणाम में सुखदायी हो उसको उतनी वैसीही धीनता स्वीकार करनी चाहिये । अधिक स्वतन्त्रता भी बहुत स्थलों में दो रानेवाली लोक में दीखती है । मनुष्य की अपेक्षा तिर्यग्योनि पश्वादि में ज्ञान के साथ अधिक परतन्त्रता ही उनके अधिक दुःख का कारण है ।

में जैसी २ ज्ञानकी अधिकता है वह वैसाही स्वाधीन सुखी होता है। और ज्ञान तथा स्वाधीनता ईश्वर में असीम है इसी से उसमें आनन्द और सुख भी असीम है। द्वितीयाध्याय में आत्मा की तुष्टि को जो धर्म का लक्षण कहचुके हैं उसी के साथ इस अन्तिम श्लोक का सम्बन्ध है। इससे स्वाधीन वा पराधीन जो कर्म सन्तोषजनक परिणाम में सुखकारी हो उसी को धर्म्मानुकूल जानो ॥ १६१ ॥

आचार्यंचप्रवक्तारं पितरंमातरंगुरुम् ।
नहिंस्याद्ब्राह्मणान्गाश्च सर्वांश्चैवतपस्विनः
नास्तिक्यंवेदनिन्दांच देवतानांचकुत्सनम् ।
द्वेषंदम्भंचमानंच क्रोधंतैक्ष्ण्यंचवर्जयेत् ॥
परस्यदण्डंनोद्यच्छेत् क्रुद्धोनैवनिपातयेत् ।
अन्यत्रपुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थंताडयेत्तुतौ॥

[ब्राह्मणायावगूर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया ।
शतंवर्षाणितामिस्रे नरकेपरिवर्त्तते ॥
ताडयित्वातृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम् ।
एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषुजायते ॥
अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः ।
दुःखंसुमहदाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञतयानरः ॥
शोणितंयावतःपांसून् संगृह्णातिमहीतलात् ।
तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोद्यते ॥१६८॥

नकदाचिद्द्विजेतस्माद् विद्वानवगुरेदपि ।
नताडयेत्तृणेनापि नगात्रात्स्रावयेदसृक् ॥

अधार्मिकोनरोयोहि यस्यचाप्यनृतंधनम् ।
हिंसारतश्चयोनित्यं नेहासौसुखमेधते ॥१

अ०---न हिंस्यादिति किञ्चिदप्याचार्यादिभिः सह
नाचरेत् । नास्तिक्यं परोक्षवादखण्डनं, देवतानां--देव
शीलानां, तैक्ष्ण्यं क्रूरत्वम् । शिष्ट्यर्थं शिक्षार्थम् । अव
हस्तं शस्त्रं वा हन्तुमुत्थाप्य,तामिस्रेऽन्धकारमये परिव
परिभ्रमति । संरम्भात्क्रोधावेशात्,यावतः पांसून् त्रसरे
न्,शोणितोत्पादकोऽन्यैः श्वश्रृगालादिभिरद्यते । अनृतं
थ्याभाषणेनैव जीवनोपायः, हिंसारतः शरीरेण हिंसनशी

भा०--आचार्यादिभिः कायिकवाचिकमानसप्रतिकू
चरणस्य सर्वथैव प्रतिषेधो धर्मावहः। नास्तिक्यादीनि
प्रत्यक्षमेवाधर्महेतूनि सन्ति । ब्राह्मणायावगूर्यैवेत्यादि
पद्यचतुष्टयेन प्रायेण हिंसारतस्य सर्वथा सर्वदा सज्जन
डनपरस्य निन्दार्थवादो विशिष्टदोषप्रदर्शनार्थः। एतच्च पद्य
चतुष्टयमेकादशाध्यायस्थावगुरणादिदोषजन्यपापप्रायश्चि
त्तेन विरोधावलोकनाच्चिन्त्यमिति विचारपक्षे स्थाप्य
तदिदमग्रिमपद्यस्थप्रतिपादनमेव पक्षद्वयेऽपि साधुतरं
ज्ञेयम् । यन्नित्यं कायेन मनसा वाचा च यो जनो हिं
रतोऽसाविहैव सुखं यदा नाप्नोति तदा कथमसौ परत्र सु
माप्तुमर्हति। अन्यापेक्षया यो यादृशमाधिक्येन वैदिकं
मनुतिष्ठति प्रचारयति च स तादृशएव शास्त्रानुकूलो
ह्मणस्तस्य पीडनताडनहिंसनादिना धर्मस्यैवाधिको वि
तस्तस्मादेवापराद्धुर्दोषाधिक्येनानिष्टावाप्तिरप्यधिका
द्यैवेति सर्वमवदातम् ॥ १७० ॥

ादिपदेनात्र सर्वे सदाचारिणः शौचधर्मपरायणाः शूद्रा
वगन्तव्याः सत्यभाषणप्रशंसया मिथ्याभाषणनिन्दया च
वैदिकसत्यभाषिणः शरणागतशूद्रस्य च प्राशस्त्यप्रबोध-
पुरस्सरं भोज्यान्नत्वमुच्यते गुणैरेव सर्वउत्तमा निकृष्टा-
ावगुणैर्जायन्ते । सत्यं दानं क्षमा शौचमानृशंस्यं तपो
णा । विद्यन्ते यत्र राजेन्द्र स ब्राह्मणइति स्मृतः । इति
हाभारते वनपर्वणि । तस्माच्छूद्रस्य तादृशस्य शरणागत-
त्वेन सत्यभाषणादिधर्मपरायणस्य पक्वान्नं भोज्यम् ॥२५६॥

भाषार्थः-(आर्द्धिकः कुलमित्रं च) खेती गोरक्षा वा वाणिज्य दुकान आदि
विका सम्बन्धी काम में आधे भाग का साझी, परम्परा से कुल के साथ
सका मित्रभाव चला आता हो (गोपालो दासनापितौ) गोपाल नाम अहीर दा-
नाम सेवक-कहार और नाई (एते शूद्रेषु भोज्यान्नाः) शूद्रों में से इन पांचों का छुआ
ाया अन्न भोजन करने योग्य होता है (यश्चात्मानं निवेदयेत्) और जो शूद्र शुद्ध-
से स्वयं आकर अपने शरणागत हुआ हो अर्थात् जिस ने अपना तन मन सभी
सी के अर्पण कर दिया हो ऐसे सहयोगी शूद्र का भी बनाया पकाया स्पर्श
या अन्न ब्राह्मणादि को खा लेना चाहिये (यादृशोऽस्य भवेदात्मा) इस शूद्र
जैसा आत्मा नाम अन्तःकरण हो-जो २ भाव उस के मन में संकल्पमात्र गुप्त
हो (यादृशं च चिकीर्षितम्) शरणागत होने में जो इस का अभीष्ट प्रयोजन
ध्य हो और (यथा चोपचरेदेनम्) और वह जिस प्रकार सेवा कर सकता हो
थात्मानं निवेदयेत्) उसी प्रकार अपने को स्वामी के समक्ष अर्पण करे (यो-
था सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते) जो शूद्रादि पुरुष अपने अन्तःकरण में
अन्य कुछ रहने पर भी वाणी से और कुछ मिथ्या ही वचन सज्जन लोगों में
हता है (स आत्मापहारकः स्तेनो लोके पापकृत्तमः) वह आत्मा का अपहरण करने
पने को निकृष्ट दशा में ले जाने वाला चोर लोक में अत्यन्त पापी माना-
ता है अर्थात् समझ पूर्वक स्वार्थ के लिये मिथ्याबोलने वाला ही सर्वोपरि
पी है । पहिला पापी पापकृत्-उस से बड़ा पापी पापकृत्तर और उस से भी
बड़ा पापी पापकृत्तम माना जाता है (वाचि सर्वेऽर्था नियताः) वाणी में सब

प्रयोजन नियत हैं अर्थात् सब इष्ट प्रयोजन और वस्तु उस २ वाचक शब्द से सम्बन्ध रखने वाली वाणी के व्यापार से सिद्ध होते हैं। मैं भूखा हूं-मैं प्यासा हूं। इत्यादि सब शब्दोच्चारण से ही सुन के जाना जाता वा निश्चय किया जाता है (वाङ्मूला वाग्विनिस्सृताः) सर्वथा सत्यस्वरूप वेद वाणी ही सब का मूल है "वेद के शब्दों से ही सर्गारम्भ में द्युलोक भूलोकादि बनाये गये" यह पूर्व कह चुके हैं। इसी कारण मूल बीज से अङ्कुरों के समान वाणी से सब निकले हैं (यस्तु तां वाचं स्तेनयेत्) जो निवेदन करनेवाला शूद्रादि पुरुष उस ऐसी वाणी को चुरावे आत्मा से विरुद्ध बोले (स नरः सर्वस्तेयकृत्) वह पुरुष सब प्रकार की चोरी करने वाला माना जायगा। जैसे कि मछली खाने वाला सब मांस खाने वाला होता है वैसे अन्तःकरण से विरुद्ध मिथ्या भाषण करने से वाणी को चुराने वाला भी सब प्रकार की चोरी करने वाला माना जायगा अर्थात् मिथ्या भाषण सब अधर्मों का मूल है॥

भा०-इसी अध्याय में पूर्व कह चुके हैं कि-"शूद्र का पकाया अन्न न खावे" यह सामान्य कथन है। और कच्चा अन्न तो शूद्र से भी नीच का लेना कह आये हैं क्योंकि कच्चे अन्न के साथ शूद्र में रहने वाले अपवित्रतादि दोष कम आसकने सम्भव हैं। परन्तु यहां सङ्केत आदि शूद्रों का पकाया अन्न भोजन कर लेना चाहिये यह विधान किया है। क्योंकि आर्द्धिक आपेसाथी आदि शूद्रों के कोई २ दोष ब्राह्मणादि के साथ विशेष सङ्ग से छूटते नष्ट होते और उन में पवित्राचरणादि गुण भी कुछ आते हैं तथा वैसे ही ब्राह्मणादि के कोई गुण सङ्ग से नष्ट होते हैं इस प्रकार सङ्गजन्य गुण दोषों से दोनों में अधिक समता आजाती है। इस से उस सङ्गी ब्राह्मणादि को उन २ अपने सहायी विशेष मेली शूद्रों का पकाया अन्न खा लेना चाहिये किन्तु सब शूद्रों का अन्न को नहीं खाना चाहिये। गोपाल नाम आभीर-अहीर गोरक्षा वैश्य का काम करने वाला होने से कर्म से वैश्य वा वैश्य के तुल्य है। यद्यपि गोपाल नाम अहीर वर्णसंकरों में गिनाया गया है तथापि बीज की उत्तमता से द्विजादि वस जाति में अवश्य होता है। इस कारण कुल मैत्री आदि सत्सङ्ग न होने पर भी उस का पकाया अन्न भोजन करने योग्य होता ही है। पर उन का सदा पवित्राचरणी होना अत्यावश्यक है कि जिन का अन्न ब्राह्मणादि खावें। इस से यह भी सिद्ध है कि इन गिनाये हुओं में कोई भ्रष्टाचारी मद्य मांसादि

म्लेच्छसङ्गी हों तो उन का अन्न न खावे और इन से भिन्न भी शुद्धाचारी सत् शूद्र का पकाया अन्न खा सकते हैं। यद्यपि रोटी पूरी दोनों ही पकाया अन्न है तथापि यहां भोज्यपद से घृत में पकाया विशेष कर भोज्य इस से मानाजायगा कि रोटी आदि की अपेक्षा घृतपक्क अधिक कोमल होता और कोमल ही भोज्य कहाता है। पूरी आदि की अपेक्षा रोटी आदि भक्ष्य मानाजायगा। और जो यथार्थरूप से अपने हृदय के सब भीतरी अभिप्राय को प्रकाशित कर देता वह सत्यभाषण की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ कर्म से उत्तम कोटिस्थ ब्राह्मणपन को प्राप्त हुआ भोज्य है अन्न जिस का ऐसा होता है। आर्द्धिकादि, सत्सङ्गशूद्र, गोपाल-वैश्य के तुल्य होने से और शरणागत आनेवाले सत्यभाषी निवेदक शूद्र की उत्तमता जताने पूर्वक अन्न खाना कहा गया है सो यदि उस में सत्यभाषण की प्रशंसा और मिथ्याभाषण की निन्दा विद्यमान हो। गुणों से ही सब कोई उत्तम होते और अवगुणों से ही निकृष्ट होते हैं। महाभारत वनपर्व में लिखा है कि "सत्यभाषण, दानशीलता, क्षमा, शौच, कटुभाषण का त्याग, तपनाम शीतोष्णादि का सहन, बुराई से घृणा ये सब जिस में विद्यमान हों वह ब्राह्मण कहाता है। इस से वैसे शूद्र का पकाया अन्न भोजन करने योग्य है ॥ २५६ ॥

महर्षिपितृदेवानां--गत्वानृण्यंयथाविधि ॥
पुत्रेसर्वंसमासज्य--वसेन्माध्यस्थमाश्रितः ॥
एकाकीचिन्तयेन्नित्यं--विविक्तेहितमात्मनः ।
एकाकीचिन्तयानोहि--परंश्रेयोऽधिगच्छति॥
एषोदितागृहस्थस्य--वृत्तिर्विप्रस्यशाश्वती ।
स्नातकव्रतकल्पश्च--सत्ववृद्धिकरःशुभः ॥
अनेनविप्रोवृत्तेन--वर्त्तयन्वेदशास्त्रवित् ।
व्यपेतकल्मषोनित्यं--ब्रह्मलोकेमहीयते॥२६०॥

इतिश्रीमानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥

अ०–ब्रह्मयज्ञस्वाध्यायेन महर्षिऋणं, देवयज्ञेन देवा पितृयज्ञेन च पितॄणां चापाकृत्य शास्त्रविहितानुकूलमनस्को भूत्वा पुत्रे सर्वं गृहप्रबन्धाधिकारं समासज्य नियोज्य मा ध्यस्थं कामक्रोधलोभादीनां मध्यदशामाश्रितः कामाद्यास क्तिं विहाय निर्ममो निरहङ्कारो वसेत् । विविक्तएकान्त देशएकाकी स्थित्वा नित्यमात्मनः स्वस्य हितं चिन्तयेत्-य यतएकाकी चिन्तयानः परं श्रेयोऽधिगच्छत्याप्नोति । गृ हस्थस्य विप्रस्यैषा शाश्वती वृत्तिरुदिता । च पुनः सत्त्व वृद्धिकरः शुभः स्नातकव्रतकल्पोऽप्युदितः । वेदशास्त्रवि विप्रो मेधावी गृहस्थोऽनेन वृत्तेन पूर्वोक्तेन वर्त्तयन्व्यवह रन्नित्यं व्यपेतकल्मषो नित्यं त्यक्तदुराचरणो ब्रह्मलोक ब्रह्मैव लोकोऽवलोकनीयस्तस्मिन् महीयते निर्बाधो निरा मयस्तिष्ठति ॥

भा०–एतदध्यायोक्तसर्वविषयस्यात्र पद्यचतुष्टयेनोपसं हारः प्रदर्श्यते । ऋणरूपं बन्धनं चात्र हार्दं विज्ञेयम् । तदे हार्दं बन्धनं हृदयग्रन्थिपदेनाप्युच्यते–"भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" तस्य चर्णत्रयस्यास्मिन् शास्त्रे वेदा नुगामिनि यादृशः स्पष्टोऽपाकरणप्रकार उच्यते न तादृशो न्यत्र दृश्यते । तत्र विशेषेण द्वितीयाध्याये ब्रह्मचर्येण सा कमिन्द्रियग्रामं वशीकृत्वा स्वाध्यायाभ्यासो जपयज्ञः सन्ध्यो पासनं गुरुशुश्रूषणादिकमखिलं कृत्यमृषिऋणापाकरणा योक्तम् । उद्वहेत द्विजो भार्यामित्यादिकथनेन तृतीयाध्याये विवाहभार्य्यागमनपितृयज्ञादिकृत्यस्य साङ्गोपाङ्गवर्णनं पि

तृणापाकरणार्थम् । चतुर्थाध्याये च विप्रवृत्तिनियमाः स्नातकव्रतरूपा आचारनियमाश्च दानादानादिरूपा हस्तक्रियायासाध्या देवयज्ञाङ्गभूता देवर्णापाकरणार्था वर्णिताः। एवं चाध्यायत्रयोक्तं सर्वमपि कर्म यः सम्यक्सेवते स ऋणत्रयमपाकरोत्येव सएवानृणो भूत्वा यथा मुक्तो भवति न तथाऽन्यः । एवमृणत्रयापाकरणेन दृढीकृतपरमार्थसाधनः परमपुरुषार्थसिद्धेर्वैशारद्यमपेक्षमाण एकान्तस्थितिशीलो ध्यानपरः स्यात् । एवं कुर्वाणएव गृहस्थो ब्राह्मणो निःश्रेयसप्राप्त्यधिकारी भवति नान्यथा । विप्रपदस्य यौगिकार्थेन क्षत्रियादिगृहिणामप्युपादानं सम्भवति तथापि प्रकर्षगत्या मेधावित्वं यत्र दृश्यते विद्यते वा तत्रैव विशेषेण विप्रत्वम् । अतः क्षत्रियादेरपि निःश्रेयसावाप्तिर्विप्रत्वाविर्भावकालएव सम्भाव्या ॥२६०॥

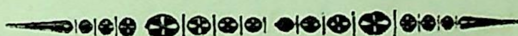
भावार्थः–(महर्षिपितृदेवानां यथाविध्यानृण्यं गत्वा) वेदाध्ययनरूप स्वाध्याय से ऋषिऋण को, अग्निहोत्रादि देवयज्ञ से देव ऋण को और पितृयज्ञ तथा धर्मानुकूल विवाह कर सन्तानोत्पत्ति से पितृ ऋण को चुकाकर शास्त्र में विधान किये अनुसार उऋण हो कर (पुत्रे सर्वं समासज्य) घर के प्रबन्ध का सब अधिकार पुत्र को सौंप कर (माध्यस्थमाश्रितो वसेत्) काम क्रोध लोभादि की मध्य दशा का आश्रय ले के अर्थात् कामादि में आसक्ति नाम चित्त की फसावट को छुड़ा के ममता और अहङ्कार को छोड़ के मध्यस्थ दशा में रहे अर्थात् हानि लाभ, मानापमानादि के बीच में रहता हुआ समय व्यतीत करे (विविक्तएकाकी नित्यमात्मनो हितं चिन्तयेत्) शुद्ध एकान्तस्थान में अकेला बैठ २ कर नित्य अपना हित-चिन्तन किया करे अर्थात् मैं अकेला उत्पन्न हुआ अकेला ही मरूंगा बीच में अनेक स्त्री पुत्रादि का सम्बन्ध हो गया पर साथ कोई नहीं चलेगा अपने २ किये शुभाशुभ कर्म का सभी को फल भोगना है

इत्यादि प्रकार एकान्त में चित्त को एकाग्र कर के शोचा करे क्योंकि (एक की चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति) अकेला बैठ २ चिन्तन करता हुआ ही धीरे २ बन्धनरूप सङ्ग छूटने से परम कल्याण को प्राप्त होता है (गृहस्थ विप्रस्यैषा शाश्वती वृत्तिरुदिता) गृहस्थ बुद्धिमान् ब्राह्मण की यह सनातन शिलोञ्छ, अयाचित दान लेनादि वृत्ति नाम-जीविका कही गयी (सत्त्ववृद्धिकरः शुभः स्नातकव्रतकल्पश्च) सत्त्ववृद्धि करने अर्थात् शुद्धसत्त्वगुणमय बुद्धि को बढ़ाने वाले स्नातक के व्रत नाम आचरण भी कहे (वेदशास्त्रविद् विप्रोऽनेन वृत्तेन वर्त्तयन्) वेदरूप अतिपवित्र शास्त्र को जानने वाला विद्याशील ब्राह्मण इस पूर्व कहे प्रकार आचार विचार व्यवहार करता अर्थात् इन तीनों अध्याय में कहे अनुसार उन २ कामों को करता हुआ (नित्यं व्यपेतकल्मषो ब्रह्मलोके महीयते) नित्य दुराचरणों को छोड़ने वाला अवलोकन करने योग्य ब्रह्म परमात्मा में आनन्द से रहता है ॥

भा०-इस अध्याय में कहे सब विषय का इन चार श्लोकों से उपसंहार दिखाया है और ऋणरूप बन्धन हृदय सम्बन्धी जानो वही हृदय ग्रन्थि भी कहाता है „ हृदय की गांठ छूट जाती सब शंसय छिन्न हो जाते तभी मुक्ति होती है " इस वेदानुकूल धर्मशास्त्र में उस तीन प्रकार के ऋण को चुकाने की जैसी स्पष्ट रीति कही है वैसी अन्यत्र नहीं दीखती । उन में से विशेष कर द्वितीयाध्याय में ब्रह्मचर्याश्रम के साथ इन्द्रियों को वशीभूत कर के वेद का अभ्यास जपयज्ञ, सन्ध्योपासन और गुरुशुश्रूषादि सब कृत्य ऋषि ऋण को चुकाने के लिये कहा । ब्रह्मचर्य पूरा कर सुलक्षण स्त्री से विवाह करे इत्यादि कथन से तृतीयाध्याय में विवाह, ऋतुकालाभिगमन और पितृयज्ञ, वैश्वदेव, अतिथियज्ञ तथा श्राद्धादि कृत्य का साङ्गोपाङ्ग वर्णन पितृयज्ञ की पूर्त्यर्थ है अर्थात् स्त्री सम्बन्ध सन्तानोत्पत्ति, वैश्वदेव अतिथिपूजनादि भी पितृयज्ञ के अवान्तर भेद हैं । इसी कारण पुत्रोत्पत्ति होते ही शास्त्रकारों ने पितृऋण का चुक जाना माना है । और चतुर्थाध्याय में जीविका के नियम स्नातक के व्रतरूप आचार के नियम तथा दान देने लेनेरूप हस्तक्रियासाध्य देवयज्ञ के अङ्गरूप देवऋण चुकाने के लिये कहे गये हैं । इस प्रकार तीनों अध्याय में कहे सभी कर्म का जो ठीक २ सेवन करता है वह तीनों ऋण से छूटता ही है वही उऋण हो कर जैसा मुक्त होता है वैसा अन्य नहीं । ऐसे तीनो ऋण चुकाने पूर्वक दृढ़ किये हैं परमा-

र्थ के साधन जिसने ऐसा हुआ परम पुरुषार्थ नाम मोक्ष की सिद्धि वा शुद्धता प्रबलता चाहता हुआ एकान्त में स्थितिशील ध्यान में तत्पर रहे। गृहस्थ ब्राह्मण ऐसा करता हुआ ही निश्रेयस सुख पाने का अधिकारी होता अन्यथा नहीं। विप्रशब्द के यौगिकार्थ से क्षत्रियादि गृहस्थों का भी ग्रहण होना सम्भव है तो भी प्रधान मेधावी होना जहां दीखता वा विद्यमान है विशेष कर वहीं विप्रपन जानो। इस से क्षत्रियादि कहाने वाले को भी विप्रत्व के आविर्भाव काल में ही परम कल्याणरूप मुक्ति हो सकती है ॥ २६० ॥

इति भीमसेनशर्म्मनिर्मितमानवधर्ममीमांसाभाष्ये स्नातक व्रतवर्णनो नाम चतुर्थाध्यायः समाप्तः ॥



अथ पञ्चमाध्यायारम्भः ॥

त्वैतान्यथोधर्मान्-स्नातकस्ययथोदितान्।
दमूचुर्महात्मान-मनलप्रभवंभृगुम् ॥
वंयथोक्तंविप्राणां-स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।
थंमृत्युःप्रभवति-वेदशास्त्रविदांप्रभो ! ॥२॥

अ०-चतुर्थाध्याये यथोक्तान् स्नातकस्यैतान् धर्मान् श्रुत्वाऽनलप्रभवमग्निवंशं ब्रह्मत्वप्रधानं ब्राह्मणं महात्मानं महत्यात्मा बुद्धिरस्य तादृशं भृगुमृषयइदं वक्ष्यमाणं वचनमूचुः। हे प्रभो ज्ञातुं शक्त भृगो एवमुक्तप्रकारेण यथोक्तं स्वधर्ममनुतिष्ठतां वेदशास्त्रविदां विप्राणां मारणाय मृत्युः कथं केन कारणेन प्रभवति ? ॥

भा०-अत्रानलप्रभवमिति महात्मत्वे हेतुगर्भविशेषणम्। आग्नेयो वै ब्राह्मणइति वेदानुसारिब्राह्मणग्रन्थेषूपलभ्यते। यथा सूर्यवंशाश्चन्द्रवंशाश्च क्षत्रिया एवमग्निवंशा ब्राह्मणा भवन्ति। तेजस्विनः क्षत्रियाः सूर्यवंशिनो मृदवस्तु चन्द्रवंशिनः सूर्यचन्द्रतत्त्वे च तयोरुत्पत्तौ विशेषतया कारणभूते भवतएवं सूक्ष्ममग्नितत्त्वं येषामुत्पत्तौ कारणं ते ब्राह्मणा अग्निप्रभवा अग्निवंशाइत्युच्यन्ते। यत्राग्निः कारणं तत्रैव ज्ञानाधिक्यं ज्ञानाधिक्यमेव च ब्राह्मणत्वम्। अनलप्रभवविशेषणं चात्र भृगुनाम्नो राजर्ष्यादेर्वारणार्थम्।

स्वधर्मानुष्ठानं वेदज्ञानं चात्र मध्यकक्षास्थमेवापेक्षितं चोत्तमकक्षास्थम् ॥ २ ॥

भाषार्थः-(यथोक्तान्स्नातकस्यैतान्धर्मान् श्रुत्वा) पूर्व चतुर्थाध्याय के अनुसार स्नातक गृहस्थ के इन नियमों धर्मों को सुन कर (अनलप्रभवं महात्मानं भृगुम्) अग्निवंश नाम ब्राह्मणपन को प्रधानता से धारण करने वाले, बुद्धि से युक्त ब्रह्म तेजधारी भृगुजी से (ऋषयइदमूचुः) ऋषियों ने यह प्रमाण वचन कहा कि हे (प्रभो) धर्म का मर्म जानने में समर्थ भृगुजी ! (यथोक्तं स्वधर्ममनुतिष्ठतां वेदशास्त्रविदां विप्राणाम्) ऐसे आप के कहे अनुसार अपने २ धर्म का सेवन करने और वेदरूप शास्त्र के जानने वाले विद्वान् ब्राह्मणादि को (कथं मृत्युः प्रभवति) किस प्रकार मृत्यु घेर लेता वा दबा लेता

भा०-यहां अनलप्रभव कहना महात्मा होने में हेतुरूप विशेषण है। वेदानुगामी ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है कि ब्राह्मण आग्नेय नाम अग्नि तत्त्व प्रधान है। जैसे सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रिय होते हैं इसी प्रकार अग्नि वंशी ब्राह्मण कहाते हैं। तेजस्वी क्षत्रियों का नाम पूर्वकाल से सूर्यवंशी और शान्तिशील क्षत्रियों का नाम चन्द्रवंशी सार्थक माना गया था। क्षत्रियों में तेजस्वी की विशेष प्रशंसा होने से सूर्यवंशी उत्तम क्षत्रिय कहाते हैं। उन २ की उत्पत्ति में सूर्य और चन्द्र तत्त्व प्रधानता से कारण होते इस से वे २ सूर्यवंशी चन्द्रवंशी कहाते इसी प्रकार सूक्ष्म-शुद्ध अग्नि तत्त्व जिन की उत्पत्ति में पिता माता के तपस्वी होने आदि के कारण विशेषता से कारण होता वे ब्राह्मण अनलप्रभव वा अग्निवंशी कहाते हैं। और जहां शुद्ध अग्नि तत्त्व कारण है वहीं ज्ञान वा बुद्धि की अधिकता होती और ज्ञान की अधिकता ही मुख्य ब्राह्मणपन का स्वरूप है। क्योंकि सूक्ष्म शुद्ध अग्नि तत्त्व का ही कार्य ज्ञान है और यहां अनलप्रभव भृगु का विशेषण किसी राजर्षि क्षत्रिय भृगु की व्यावृत्ति के लिये है। अपने २ धर्म का सेवन और वेद का ज्ञान यहां मध्य कक्षा का लेना अपेक्षित है किन्तु उत्तम कक्षा का नहीं ॥ २ ॥

सतानुवाचधर्मात्मा-महर्षीन्मानवोभृगुः
श्रूयतांयेनदोषेण-मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥

अनभ्यासेनवेदाना–माचारस्यचवर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च--मृत्युर्विप्रान्जिघांसति४

अ०–स मनोः सुतो धर्मात्मा भृगुस्तान् महर्षीनिदमुवाच येन दोषेण विप्रान्मृत्युर्जिघांसति स युष्माभिः श्रूयताम् । वेदानामविरतानभ्यासेन सदाचारस्य च वर्जनादालस्याश्रयाद् भक्ष्यान्नदोषाच्च विप्रान् मृत्युर्मध्ये जिघांसति ॥

भा०–धर्मात्मत्वसदाचरणादिशीलानां यादृशेनायुषा भाव्यं तादृशाभावे कारणचतुष्टमत्रोच्यते । उत्पत्तिधर्मकमनित्यमिति कृत्वा सत्यपि वेदाभ्यासादौ कर्मणि मृत्युरागच्छत्येव । तदा च मृत्युभयापगमात्स्वयमेवान्ते जर्जरीभूतं कलेवरं जिहासन्ति विप्रा न तदानीं मृत्युर्जिघांसतीति वक्तुं युज्यते । नियमेन श्रद्धया निष्कारणो वेदाभ्यासो वेदार्थागमश्च सर्वापेक्षया विशेषेणायुषः स्थापकः । वेदाभ्यासेन वाचिका मानसाश्च मृत्योः सहकारिणो सूक्ष्मा दोषाः प्रहीयन्ते। एवमाचारनिरालस्यत्वसात्त्विकाहारा अपि मृत्योर्बाधका आयुषः स्थापकाश्च । यथा सद्मवसनादीनां सुरक्षणं शुद्धिकरणं च तेषामायुषो वर्धकमेवं वेदाभ्यासादिकमपि सयुक्तिकमेवायुषो वर्धकम् ॥४॥

भाषार्थः–(स मानवो धर्मात्मा भृगुः) उन मनुजी के पुत्र धर्मात्मा भृगुजी ने (तान्महर्षीनुवाच) उन श्रोता महर्षि लोगों से कहा कि (येन दोषेण विप्रान् मृत्युर्जिघांसति) जिस दोष से धर्मनिष्ठ स्नातक ब्राह्मणों को मृत्यु मार डालना चाहता है (श्रूयताम्) उसको तुम लोग सुनो (वेदानामनभ्यासेनाचारस्य च वर्जनात्) निरन्तर नियमानुसार वेद का अभ्यास न करने और सदाचार का सेवन छोड़ देने वा ठीक न करने से (आलस्यादन्नदोषाच्च) आलस्य

के आधीन निरुत्साह पड़े रहने और भक्ष्यान्न के दोष अर्थात् अभक्ष्य इन चार दोषों से (विप्रान्मृत्युर्जिघांसति) ब्राह्मणों को मृत्यु बीच में मारना चाहता है ॥

भा०–धर्मात्मताशील और सदाचारशील पुरुषों का जैसा वा जितना आयु होना चाहिये वैसा आयु न होने में यहां चार कारण कहे हैं। उत्पत्ति धर्म वाले सब पदार्थ अनित्य होते हैं इस न्यायनियम के अनुसार वेदाभ्यासादि ठीक होने पर भी मृत्यु एक दिन आता ही है। परन्तु उस दशा में मृत्यु भय छूटजाने पर जीर्ण हुए मलिन अनित्य शरीर को स्वयमेव छोड़ना चाहे उस समय में मृत्यु मारडालना चाहता है ऐसा नहीं कह सकते। नित्य साथ श्रद्धा से किया निष्कारण वेदाभ्यास और वेदार्थ का बोध सब को अधिक आयु का स्थापक–रक्षक है क्योंकि वेदाभ्यास से मृत्यु के सहायक मानस और वाचिक दोष छूटजाते हैं इसी के अनुसार सदाचार का सेवन, आलस्य का त्याग और शुद्ध सत्त्वगुणी भोजन भी मृत्यु के बाधक और आयु के स्थापक हैं। जैसे घर वा वस्त्रादि को शुद्ध करना अच्छा रखना उन २ के अधिक ठहरने का अधिक हेतु होता ऐसे ही वेदाभ्यासादि द्वारा शरीर का ठीक युक्ति पूर्वक आयु का रक्षक वर्धक है ॥ ४ ॥

लशुनंगृञ्जनंचैव पलाण्डुंकवकानिच ।
अभक्ष्याणिद्विजाती ना–ममेध्यप्रभवाणिच ।
लोहितान्वृक्षनिर्यासान्–व्रश्चनप्रभवांस्तथा
शेलुं गव्यंचपेयूषं–प्रयत्नेनविवर्जयेत् ॥
वृथाकृसरसंयावं–पायसापूपमेवच ।
अनुपाकृतमांसानि–देवान्नानिहवींषिच ॥
अनिर्दशायागोःक्षीर–मौष्ट्रमैकशफंतथा ।
आविकंसन्धिनीक्षीरं–विवत्सायाश्चगोःपयः

[क्षीराणियान्यभक्ष्याणि-तद्विकाराशनेबुधः ।
सप्तरात्रव्रतंकुर्यात्-प्रयत्नेनसमाहितः ॥]

आरण्यानांचसर्वेषां--मृगाणांमाहिषंविना ।
स्त्रीक्षीरंचैववर्ज्यानि--सर्वशुक्तानिचैवहि ॥
दधिभक्ष्यंचशुक्तेषु--सर्वंचदधिसम्भवम् ।
यानिचैवाभिषूयन्ते--पुष्पमूलफलैःशुभैः ॥१०॥

अ०—लशुनादीनि प्रसिद्धानि, कवकं छत्राकं छत्राकारेण वर्षासु प्रायेण भूमौ जायमानं, अमेध्यप्रभवाणि विष्ठामूत्रादिसंसर्गेणोत्पद्यमानानि कन्दमूलादीनि द्विजातीनामभक्ष्याणि । लोहितान् रक्तवर्णान्वृक्षनिर्यासान् अश्चनप्रभवानलोहितानपि वृक्षनिर्यासान्वृक्षेभ्यो निर्गतान् शेलु श्लेष्मातकफलं, गव्यं पेयूषं यत्क्षीरं शृतं सत्पिण्डीभवति तत्पेयूषपदवाच्यं तच्च दशाहानन्तरमपि कथंचित्स्यात्तदापि वर्ज्यम् । यद्वा नवप्रसूताया गोः क्षीरं दशाहावधि सामान्येन त्याज्यं विशेषतस्तु पेयूषमिति तथा च सति दशाहानन्तरं गोः क्षीरं पेयं सम्पद्यतइति विवेकः । तिलतण्डुलमुद्गमाषसंसर्गेण पक्वः कृसरः । घृतक्षीरगुडगोधूमचूर्णमिश्रीकरणेन पक्वः संयावः, पायसोऽपूपश्च प्रसिद्धएतान्वृथा पक्वान् वैश्वदेवोद्देशराहित्येन स्वोदरपूरणायैव संपादितान्, रुधिरजत्वादनुपाकृतानि मलिनान्यसंस्कृतान्यशुद्धानि च तानि मांसानि [नच क्वापि मांसानि शुद्धानि भवन्ति किन्तु सर्वाण्येवाशुद्धानि तस्मादनुपाकृतविशेषणं तस्य हेयत्वे हे-

तुभूतमत्रमन्तव्यम् । हिंसादोषेण वर्ज्यत्वन्त्वग्रे वक्ष्यति] वान्नानि होमार्थमुद्दिष्टान्यन्नान्यपिष्टानि पक्वानि च हवींषि धर्मविघातादभक्ष्याणि । अनिर्दशाया गोरुष्ट्रस्त्रिया एकशफाया वडवागर्दभ्यादेरवीनां सन्धिन्या गर्भवत्या विवत्साया मृतवत्सायाश्च गोः पयो वर्जयेत्। महिष्याः क्षीरं वर्जयित्वा सर्वेषामारण्यानां मृगपशूनां क्षीरं स्त्रिया मानुष्याः सर्वशुक्तान्यम्लीभूतानि विकृतानि च वस्तूनि भक्षणे वर्ज्यानि। विकृतशुक्तेषु सर्वं दधिसम्भवं केवलं दधि च भक्ष्यम् शुभैर्निर्दोषैः सात्त्विकैर्मेध्यप्रभवैः पुष्पमूलफलैश्च यान्यभिषूयन्ते तादृशपुष्पमूलफलांशप्रधानमिश्रणेन यानि सम्पाद्यन्ते तान्यपि धृतानि वस्तूनि भक्ष्याणि ॥

भा०-इतः पूर्वमन्नदोषादपि सद्यो मध्ये वा मृत्युः प्रभवतीत्युक्तम् । वेदाभ्याससदाचारानुष्ठानालस्यत्यागादिकृत्यन्तु द्वितीयादिषु सर्वत्रोक्तं वक्ष्यति च विशेषतस्तु चतुर्थे वेदाभ्याससदाचरणयोः कर्त्तव्यत्वमुक्तम् । तदेव कृत्यं श्रद्धावीर्यसमाधिप्रज्ञापूर्वकमधिमात्रतीव्रसंवेगेन क्रियमाणं हि जन्मन्येव मृत्योर्बाधकं सम्पद्यते । अन्नानि च दूषितानि मृत्योरन्तरागमनहेतून्यत्र विशेषेण परिगण्यन्ते। अन्नपदेन च योगार्थत्वात्सर्वमेव खाद्यं पेयं लेह्यं चूष्यं च सामान्येन गृह्यते । सर्वाण्येव लशुनादीन्यभक्ष्येषु परिगणितानि कानिचिद्राजसानि कानिचित्तामसानि कानिचिच्चोभयविधानीति । सात्त्विकानि तु सर्वाण्येवान्नानि भक्ष्याणि, यथा लशुनादीनि राजसानि कवकान्यमेध्यप्रभवाणि च ताम-

सानि रजस्तमसी वर्धयन्ति तेन च सर्वथैव धर्महानिर्मृत्योः प्राबल्यं चाहरहर्जायते । तस्माद्धर्ममभीप्सुरन्यधर्म्यकृत्याचरणेन सहैवाभक्ष्यमपि सर्वं वर्जयेदेव । केचिल्लशुनादि वस्तूनां निरन्तरं भक्षका अपि जरावस्थावधि जीवन्तो दृश्यन्ते तदर्थं चेदमवसेयम्—न केवलोक्तदोषएव मृत्योः कारणमपि तु यत्रतत्रोच्यमानानि बहूनि कारणान्येकैकमृत्यवादीनां भवन्ति तत्राल्पेषु कारणेषु सत्स्वपि केषुचित्प्रबलेषु जीवनरक्षणहेतुषु घुणाक्षरन्यायेनापि जायमानेषु यथासम्भवं जीवनं रक्ष्यतएव तैः। नच केपि लशुनादिभक्षकाजितेन्द्रियाः सम्भवन्त्यतएव नच केपि शतं वर्षाण्यपि जीवन्तो दृश्यन्ते। ग्रन्थकारस्य तु नायमाशयो यत्षष्टिः सप्ततिर्वा वर्षाणि ये यथाकथंचिद्यौवनादेव जीर्णाः सन्तो जीवन्ति तेषां मृत्युर्न प्रभवतीति । अपितु ये कारणचतुष्टयं यन्मृत्युसहयोगिकमुक्तं ततो विरुद्धं वेदाभ्यासादिकं साङ्गोपाङ्गं दीर्घकालावधि नैरन्तर्येण सत्कारेण श्रद्धया चानुतिष्ठन्ति तेषां शताद्वर्षेभ्योऽप्यधिकं द्विशतं त्रिशतं वा वर्षाण्यायुः सम्भवति तावत्कालं विशिष्टविघ्नाभावे मृत्युस्तान्नाक्रामति । विशिष्टदुराचरणैर्ये वाल्ये यौवने वा म्रियन्ते तदपेक्षया ये पञ्चाशद्वर्षाण्यपि जीवन्ति तेषामपि कथंचिच्छुभाचरणान्यनुमेयान्येव । केचिदन्यदुराचरणानि प्रबलानि मृत्युसहकारीणि हित्वा केवलान्यभक्ष्यभक्षणानि कुर्वन्ति तेपि कियत्कालं जीवन्तु न तेन शास्त्रे दोषः ॥ १० ॥

भाषार्थः—(लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च) लहसुन गाजर प्याज, वर्षा ऋतु में प्रायः छाता के समान भूमि में उगने वाले कठफूल (अमेध्य-

प्रभवाणि च) और मल मूत्रादि की अधिकता में उत्पन्न होने वाले कन्द मू
शाक आलू गोभी मूली आदि सभी वस्तु (द्विजातीनामभक्ष्याणि) द्विजाति
नाम ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों को अभक्ष्य हैं खाने योग्य नहीं हैं (लोहितान्वृक्षनि
र्यासान्) वृक्षों से स्वयं निकले लाल गोंद (तथा व्रश्चनप्रभवान्) और वृक्षों
को गोदने से निकले अन्य रङ्ग के भी गोंदों को (शेलुं गव्यं च पेयूषम्) लसो
ड़ा—लसेरा के फलों और गौ के दूध का फटा वा गिजरी को [जो दूध औट
ने पर फट कर कुछ जमजाता और कुछ पानी सा हो जाता है उस को पेयू
कहते हैं] (प्रयत्नेन विवर्जयेत्) विचारपूर्वक छोड़ देवे (वृथा कृसरसंया
पायसापूपमेव च) तिल, चावल, दाल की खिचड़ी, घी, दूध, मीठा और गेहूं
आटा मिला कर बनाया—शीरा वा दूधलप्सी, खीर और पुआ वा मालपुए
इन सब को वैश्वदेवादि होम का उद्देश छोड़ कर केवल अपना पेट भरने के लि
ये किसी ने बनाया हो तो ये सब अभक्ष्य हैं (अनुपाकृतमांसानि) अशुद्ध
णित रुधिर से बना होने के कारण मांस सभी त्याज्य है [मांस कहीं भी
द्ध नहीं होते किन्तु सभी अशुद्ध हैं । इस कारण अनुपाकृत मांस का विशेष
उस के त्याज्य होने में हेतुरूप मानना चाहिये । और हिंसा दोष से मांस
वर्जित होना आगे कहेंगे] (देवान्नानि हवींषि च) होम के लिये सम्हाले शोधे
विना पिसे अन्नों और पिसान से पकाये हुए हविष्यान्नों को धर्म की हानि हो
के कारण से न खावे (अनिर्दशाया गोः क्षीरम्) तत्काल की व्यानी गौ के द
दिन भीतर के दूध को (औष्ट्रमैकशफन्तथा) ऊंटिनी तथा जुड़े खुरों वा
घोड़ी गधी के दूध को (आविकं सन्धिनीक्षीरम्) भेड़ी के दूध को तथा गाभि
गौ के दूध को (विवत्सायाश्च गोः पयः) और जिस का बच्चा मर गया हो ऐ
गौ के दूध को न खावे । इसी आठवें श्लोक से आगे किसी २ पुस्तक में पीछे
मिलाया एक श्लोक मिलता है जिस का अर्थ यह है कि [(क्षीराणि यान्य
क्ष्याणि तद्विकाराशने बुधः) जिस २ पशु का दूध अभक्ष्य ठहराया गया है उ
से बने खीर खोया, रबड़ी आदि को खाने वाला द्विज (समाहितः) सावधा
रहता हुआ (प्रयत्नेन सप्तरात्रव्रतं कुर्यात्) प्रयत्न के साथ सप्तरात्र का सात दि
रात में पूरा होने वाला व्रत करे] (माहिषं विना सर्वेषामारण्यानां मृगाणा
भैंस के दूध को छोड़ के सब बन के मृगजातिस्थ पशुओं का (स्त्रीक्षीरं चै
वर्ज्यानि) और मनुष्य स्त्री का दूध बाल्यावस्था से भिन्न समय में खाना व

है (सर्वशुक्तानि चैवहि) और धरे रहने से खटाये वुसे विगड़े अन्य सभी वस्तु नहीं खाने चाहिये (शुक्तेषु दधि च वर्ज्यं सर्वं दधिसम्भवं च) विगड़े खटाये बासे पदार्थों में दही और दही से बने कढ़ी आदि पदार्थ भी भक्ष्य हैं त्याज्य नहीं है (यानि चैवाभिषूयन्ते शाकमूलफलैः शुभैः) तथा पवित्र स्थान खेत में उत्पन्न हुए शुद्ध निर्दोष सत्त्वगुणी पुष्प मूल फलों के मेल से बने वा ऐसे पुष्पादि के आसवादि रूप में रस, शरवत आदि नाम से प्रसिद्ध धरे हुए बासे पदार्थ भी भक्ष्य हैं त्याज्य नहीं ॥

भा०– इस से पूर्व कह चुके हैं कि अन्न दोष से भी शीघ्र वा बीच में मृत्यु दवाता है। जिस के लिये वेद का अभ्यास, सदाचार और आलस्यत्यागादि के लिये जो कुछ कर्त्तव्य है वह द्वितीयाध्यायादि में सर्वत्र कहा और आगे भी कहेंगे और वेदाभ्यास तथा सदाचार की कर्त्तव्यता चतुर्थाध्याय में अनेक प्रकार से कही है। वही कर्त्तव्य श्रद्धा, उत्साह, सावधानता और विचारशीलता के साथ अत्यन्त लाग के साथ किया हुआ इसी जन्म में मृत्यु को रोक देनेवाला शुभफल का हेतु प्रत्यक्ष हो जाता है। और बीच में मृत्यु को बुलाने वाले दूषित अन्नों का इस प्रकरण में विशेष कर परिगणन किया है। और यौगिकार्थ मान कर अन्न पद से सामान्य कर खाने, चावने, चूषने, चाटने, और पीने योग्य सभी अच्छे बुरों का यहां ग्रहण है इसी से अन्न के भक्ष्याभक्ष्य में मांस का विचार भी अन्तर्गत हो जाता है। लहसुन आदि अभक्ष्यों में गिनाये सभी वस्तु कोई रजोगुणी कोई तमोगुणी तथा कोई दोनों गुण वाले होते हैं। जैसे लहसुन आदि रजोगुणी और कठफूल तथा अशुद्धि में उत्पन्न हुए शाक मूलादि प्रायः तमोगुणी होते इसी से खाने वाले में रजोगुण तमोगुण को बढ़ाते हैं। तिस से सर्वथा ही धर्म की हानि और मृत्यु की प्रबलता दिन दिन होती जाती है। और सत्त्वगुणी सभी अन्न आयु के रक्षक भक्ष्य माने जाते हैं इस से धर्म चाहने वाला पुरुष अन्य धर्म सम्बन्धी आचरणों के साथ ही सब अभक्ष्यों का भी त्याग अवश्य करे। कोई लशुनादि वस्तुओं को निरन्तर सदा खाने वाले यवनादि वृद्धावस्था तक जीवित रहते दीखते हैं उन के विषय में निम्नलिखित उत्तर जानो कि केवल अन्नदोष ही मृत्यु का कारण नहीं किन्तु जहां तहां कहे दुराचरण व्यभिचारादि बहुत मृत्यु के कारण हैं उन में से थोड़े कारणों के होने पर भी घुणाक्षरन्याय से भी होने वाले जीवन की रक्षा के किन्हीं प्रबल साधनों के बन जाने पर उन से यथासम्भव जीवन की रक्षा होती ही है। लशुनादि अभक्ष्य पदार्थों

को अधिकांश खाने वाले कोई पुरुष जितेन्द्रिय नहीं हो सकते क्योंकि लशुना-दि कामासक्ति के उत्तेजक तथा वर्धक हैं। इसी से वैसे मनुष्य सौ वर्ष भी जीवित रहते नहीं दीखते। और ग्रन्थकार का आशय यह नहीं है कि जो लोग यौवनावस्था में ही वृद्धतुल्य निर्बल होते २ जैसे तैसे साठ वा सत्तर वर्ष तक जीवित रहते हैं उन को मृत्यु नहीं दबाता किन्तु ग्रन्थ का आशय यह है कि मृत्यु के सहायोगी जो चार कारण कहे हैं उस से विरुद्ध जो लोग दीर्घकाल तक निरन्तर आदर श्रद्धा विश्वास के साथ साङ्गोपाङ्ग वेदाभ्यासादि का जिस कक्षा तक के सेवन करते हैं उन का सौ वर्ष से भी अधिक दो सौ वा तीन सौ आदि वर्ष भी आयु हो सकता अर्थात् उतने काल तक विशेष विघ्नों के न होने पर को मृत्यु नहीं दबा पाता परन्तु विशेष दुराचरणों की अधिकता से जो मनु बाल्यावस्था वा यौवनावस्था में ही मरजाते हैं उन की अपेक्षा पचास वा सत्तर वर्ष भी जीवित रहते उन के भी कुछ शुभाचरण अनुमान से म ही जावेंगे। तथा कोई लोग मृत्यु के सहायकारी अन्य प्रबल दुराचरणों त्याग के केवल अभक्ष्य भक्षणमात्र करते हैं उन का जीवन किसी नियत का तक बना रहे तो शास्त्र में कोई दोष नहीं आता ॥ १० ॥

[क्रव्यादान्शकुनीन्सर्वान् तथाग्रामनिवासिनः।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफां–ष्टिट्टिभंचविवर्जयेत् ॥
कलविङ्कंप्लवंहंसं चक्राह्वंग्रामकुक्कुटम् ।
सारसंरज्जुवालंच दात्यूहंशुकसारिके ॥
प्रतुदान्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् ।
निमज्जतश्चमत्स्यादान् सौनंवल्लूरमेवच ॥
बकंचैवबलाकांच काकोलंखञ्जरीटकम् ।
मत्स्यादान्विड्वराहांश्च मत्स्यानेवचसर्वशः ॥
योयस्यमांसमश्नाति सतन्मांसादउच्यते ।
मत्स्यादःसर्वमांसाद स्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥
पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौहव्यकव्ययोः ।

राजीवान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैवसर्वशः ॥
नभक्षयेदेकचरा-नज्ञातांश्चमृगद्विजान् ।
भक्ष्येष्वपिसमुद्दिष्टान् सर्वान्पञ्चनखांस्तथा ॥
श्वाविधंशल्यकंगोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ।
भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहु-रनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥
छत्राकंविड्वराहंच, लशुनंग्रामकुक्कुटम् ।
पलाण्डुंगृञ्जनंचैव मत्याजग्ध्वापतेद्द्विजः ॥
अमत्यैतानिषड्जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनंचरेत् ।
यतिचान्द्रायणंवापि शेषेषूपवसेदहः ॥
संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ।
अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्यतुविशेषतः ॥
यज्ञार्थंब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्तामृगपक्षिणः ।
भृत्यानांचैववृत्त्यर्थ-मगस्त्योह्याचरत्पुरा ॥
बभूवुर्हिपुरोडाशा भक्ष्याणांमृगपक्षिणाम् ।
पुराणेष्वृषियज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषुच ॥ २३ ॥]

भा०-पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याइत्युक्ते गम्यतएतदतोऽन्येऽभक्ष्याइत्यादिवचसां महाभाष्यादिप्रामाणिकनिबन्धेषु विद्यमानत्वान्मन्यन्तएवान्ये-क्रव्यादप्रभृतिपशुपक्ष्यादीनां भक्ष्यप्रतिषेधकथनादर्थापत्त्याऽन्येषां भक्ष्यत्वं सिध्यत्येवेति। तत्रापि-पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या-इत्यादिष्वप्राप्तेरभावान्नायं विधिरपितु संकोचोऽयमिति कैयटः। ये सर्वमांसभक्षणे रतास्ते केषांचिदेवान्यापेक्षया शुद्धावयवप्राणिनां मांसानि भक्षयेयुरिति सर्वभक्षकापेक्षया तेषां प्राशस्त्यं युक्तमेवेति

मन्यन्ते। एतच्च कथनं मांसभक्षणप्रचुरप्रचारकाले कथम् युक्तियुक्तमिव प्रतिभाति। तथापि ये स्वार्थसाधनार्थं मरताश्छलप्रपञ्चादिनापि स्वकार्यसाधनासक्तास्तेषामधर्म सेवनायावलम्बरूपं कथनमिदं सम्पद्यते। तादृशाश्चाधि सदैव मिषमन्वेषयन्ति तेनाप्यधर्ममाचरन्त्येव। तस्मा त्संकोचपरं कथनं कथंचित्कदाचिदन्यधर्मस्य प्रचुरप्रचा वसरे केषांचिद्धर्मभीरूणामुपकारकमस्त्वित्येकदेशित्वं स्फुटम्। साम्प्रतं तु न कस्याप्युपकारकम्। पाठीनरो तावाद्यौ हव्यकव्ययोर्नियुक्ताविति मत्स्यजातिद्वयस्य ह्यमिषेण कृतापि प्रशंसा चिकित्साग्रन्थेभ्यो विरुद्धैव। च मांसवर्गे स्पष्टमुपलभ्यते। पाठीनः–कुष्ठरोगं करोत्य विति। तेन स्वार्थिकृता पाठीनादीनां प्रशंसेत्यनुमीयते प्रकरणमप्येतद्विच्छिद्यते। दशमपद्ये घृतविकृतवस्तुषु दध्य देर्भक्ष्यत्वमुक्तं तदेव चतुर्विंशतितमपद्ये यत्किंचित्स्नेह युक्तमित्यादिनोपसंहृतमित्येकस्यैव विषयस्य व्यवहित रपि वर्णनमुपलभ्यते। मध्ये चैकादशपद्यात् त्रयोविंश तमावध्यप्रासङ्गिकं कथनं स्पष्टमेव प्रतीयते यदि च १ २३ पद्यानि निस्सार्य कश्चिद्दशमेन चतुर्विंशतितमं प योजयेत्तदा न किमपि निस्सृतं प्रतीयते। एवं चैषां पद्या पूर्वपक्षरूपेण धृतत्वादन्तेचोत्तरपक्षे सर्वथैव मांसस्याभक्ष्य त्वप्रतिपादनात्, संकोचस्य च मांसभक्षणगर्द्धिनां भक्ष्य मिषभावात्, प्रशंसितपाठीनादीनां कुष्ठादिरोगहेतुत्वात् प्रकरणविच्छेदस्य स्फुटतयैव दृष्टत्वात्। इत्येवं कारण

चतुष्टयेनैषां पद्यानां सम्यक्त्वं दुःसाध्यमनुमीयते । यदि कश्चित्संकोचार्थं मन्येत तर्हि तेन क्वचित्संकोचः कर्त्तव्यः कारयितव्यो वा । न केनापि क्रियते कार्यते वा कथनमात्रं ये मन्यन्ते तैः सर्वएव धर्मः कथनमात्रेणोपकारकः साधयितुमशक्यएव । अस्य च मांसभोजनविचारखण्डनस्य द्वितीयभागे मयाऽन्योऽपि निर्णयः कृतः ॥ २३ ॥

भाषार्थः–(क्रव्यादान्शकुनीन्सर्वान्) कच्चा मांस खाने वाले सब पक्षियों (तथा–ग्रामनिवासिनः) तथा गांव में वसने वाले सब पक्षियों (अनिर्दिष्टांश्चैकशफान्) भक्ष्यों में न गिनाये हुए जुड़े खुरों वाले घोड़ा गधा आदि पशुओं (टिट्टिभं च विवर्जयेत्) और टिट्टिभ नाम [टिटुइया] टिटहरी नामक पक्षी को न खावे ॥ ११ ॥ (कलविङ्कं प्लवं हंसम्) चटक–चिड़िया, जलकौवा, हंस (चक्राह्वं ग्रामकुक्कुटम्) चकवा ग्राम वा नगर का मुर्गा (सारसं रज्जुवालं च) सारस, वड़ी गुदी (गर्दन) वाला जल के समीप रहने वाला पक्षी (दात्यूहं शुकसारिके) पपीहा, तोता और मैना को भी न खावे ।। १२ ॥ (प्रतुदान् जालपादांश्च) चोंच से तोड़ २ छोटे जीवों को खाने वाले पक्षियों उड़ते २ पञ्जों से जीवों को पकड़ लेजाने वाले (कोयष्टिनखविष्किरान्) कोयष्टि नामक चील्ह आदि पक्षियों नखों से खोद २ जीवों को खाने वाले पक्षियों, (निमज्जतश्च मत्स्यादान्) जल में डूब कर मछली आदि को पकड़ने खाने वाले पक्षियों (सौनं वल्लूरमेव च) कस्सावखाने में मारे जीवों के मांस को और सूखे मांस को न खावे ॥ १३ ॥ (वकं चैव वलाकां च) बगुला, बतक (काकोलं खञ्जरीटकम्) काकोल नामक पक्षी, खञ्जन (मत्स्यादान् विड्वराहांश्च) मछली खाने वाले पक्षियों तथा विष्ठा खाने वाले ग्राम के शूकरों (मत्स्यानेव च सर्वशः) और सम्पूर्ण मछलियों को न खावे ॥ १४ ॥ (यो यस्य मांसमश्नाति) जो जीव जिस के मांस को खाता (स–तन्मांसाद उच्यते) वह तन्मांसाद कहाता [जैसे अश्व को खाने वाला –अश्वाद तथा शूकर को खाने वाला शूकराद आदि] (मत्स्यादः सर्वमांसादः) पर मछली के मांस को खानेवाला सब के मांस का खाने वाला इस कारण है कि जल में पड़ने वाले मुर्दा, विष्ठादि सभी को मछली खाती है (तस्मान्मत्स्यान् विवर्जयेत्) तिस से मछलियों को कभी न खावे ॥ १५ ॥ (पाठीनरोहिताबाद्यौ नियुक्तौ)

हव्यकव्ययोः) पाठीन, रोहू (राजीवान् सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः) रा नामक, सिंह के से मुख वाली और त्वचा वाली मछलियां होम तथा श्राद्ध उपयुक्त की गई हैं इस कारण भक्षण करने योग्य हैं ॥१६॥ (भक्ष्येष्वपि समु ष्टान्) सामान्य कर भक्ष्यों में गिनाये भी (एकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान्) विचरने वाले सर्पादि तथा अज्ञात मृगों और पक्षियों (तथा सर्वान् पञ्चनखा भक्षयेत्) तथा सब पांच नख वाले वानर आदि जीवों को भी न खावे ॥१७॥ (विधं शल्यकं गोधाम्) सेही, कांटे के तुल्य रोमों वाले जीवों, गोह (खड्ग शशांस्तथा) गेंड़ा, कछुआ और खरहा (पञ्चनखेषु भक्ष्यानाहुः) पांच नख में उक्त सेही आदि को पूर्वजों ने भक्षण करने योग्य कहा है (अनुष्ट्रांश्चैकतो तथा एक ऊंट को छोड़ के एक ओर दांतों वाले अन्य पशु भी भक्ष्य हैं ॥ (छत्राकं विड्वराहं च) कठफूल विष्टाभक्षी शूकर (लशुनं ग्रामकुक्कुटम्) ल ग्राम वा नगर का मुर्गा (पलाण्डुं गृञ्जनं चैव) प्याज और गाजर इन सब (मत्या जग्ध्वा पतेद्द्विजः) समझपूर्वक खाने से द्विज पतित हो जाता है ॥ (अमत्यैतानि षड्जग्ध्वा) इन कठफूल आदि छहों को भूल से खालेवे तो कृच्छ्रं सान्तपनं यतिचान्द्रायणं वापि चरेत्) द्विज पुरुष ग्यारहवें अध्याय में अनुसार कृच्छ्र सान्तपन वा यतिचान्द्रायणव्रत शुद्धि के लिये करे (शेषेषूपवसेदह शेष छः से भिन्न अभक्ष्यों के भूल से खा लेने में केवल एक दिन उपवास करे ॥ (संवत्सरस्यैकमपि चरेत् कृच्छ्रं द्विजोत्तमः) ब्राह्मणादि द्विजों में उत्तम धर्म पुरुष को वर्ष भर में न्यून से न्यून एक कृच्छ्रसान्तपन व्रत (अज्ञानभुक्तशुध्यर्थम्) से अभक्ष्य भक्षण किये की शुद्धि के लिये करना चाहिये और (ज्ञातस्य तु विशे जान कर अभक्ष्य का भक्षण किया हो तब तो अवश्य ही प्रायश्चित्त करे ॥ (प्रशस्ता मृगपक्षिणो ब्राह्मणैर्यज्ञार्थं वध्याः) यज्ञ के लिये ब्राह्मणों को प्र मृग और पक्षी मारने चाहिये क्योंकि (भृत्यानां चैव वृत्यर्थं पुराऽगस्त्यो ह्य रत्) स्त्री पुत्रादि तथा अपने पालन पोषणार्थ अगस्त्य ऋषि ने भी पूर्व में मृग और पक्षी मारे थे ॥२२॥ (पुराणेष्वृषियज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च) पूर्व में हुए ऋषियों के यज्ञों तथा ब्राह्मणपन क्षत्रियपन प्रकट करने वाले बड़े यज्ञों में (भक्ष्याणां मृगपक्षिणां पुरोडाशा बभूवुर्हि) भक्षण करने योग्य मृग पक्षियों के पुरोड़ाश नाम यज्ञ में चढ़ाये जाने योग्य हविष्य विशेष हुए इस से अच्छे २ मृगपक्षी ब्राह्मणों को मारने खाने चाहिये ॥२३॥

भा०-"पांच नखों वाले पांच भक्ष्य हैं ऐसा कहने पर जाना जाता है कि इन से अन्य अभक्ष्य हैं" महाभाष्यादि प्रामाणिक पुस्तकों में इत्यादि वचनों के विद्यमान होने से अन्य लोग ऐसा ही मानते हैं कि क्रव्यादों से लेकर पशुपक्षी आदि के अभक्ष्य परिगणन की अर्थापत्ति से अन्यों का भक्ष्य होना सिद्ध ही है। उस में भी पांच नख वाले पांच भक्ष्य हैं इत्यादि कथन में "अप्राप्ति का अभाव होनेसे [अर्थात् मांस भक्षणादि दुराचार स्वभाव से ही प्राप्त हैं और प्राप्ति में विधि होता नहीं किन्तु अप्राप्ति में विधि और प्राप्ति में निषेध होता है] विधि नहीं है किन्तु यह संकोच है कि जिन २ का निषेध किया गया उन २ का मांस खाने से बचेगा तो कम अपराधी होगा तो अधर्म संकुचित होगया। अर्थात् जो सब का मांस खाने में तत्पर हैं वे अन्यों की अपेक्षा शुद्ध अवयवों वाले किन्हीं प्राणियों का मांस खावें तो सर्वभक्षकों की अपेक्षा से उन की प्रशंसा होना युक्त ही है ऐसा मानते हैं। यह कहना मांस भक्षण का अधिक प्रचार होने के समय किसी प्रकार युक्तियुक्तसा प्रतीत होता है । तथापि जो लोग स्वार्थसाधनादि अधर्म में रत होते और छल प्रपञ्चादि के द्वारा भी अपना कार्य साधने में लगे होते हैं उन को अधर्म सेवन के लिये यह संकोच सम्बन्धी कथन सहारा होजाता है। वैसे स्वार्थी लोग सदा ही मांस भक्षणादि अनर्थ के लिये बहाना खोजते और बहाने से भी दुराचरण करते ही हैं। तिस से वह संकोचपरक कथन कैसे ही कभी अन्य धर्म के अधिक प्रचार के समय किन्हीं धर्म्मभीरु पुरुषों का उपकारक हो तो भी एकदेशी होता है परन्तु अब वर्तमान में वैसा विचार किसी को उपकारी नहीं है। पाठीन और रोहू दो मछली जाति हव्य कव्य में नियुक्त होने से भक्ष्य हैं यहां यज्ञ के बहाने से प्रशंसा की भी गई पर चिकित्सा ग्रन्थों के विरुद्ध ही है क्योंकि सुश्रुत के मांसवर्ग में लिखा है कि पाठीन मछली का मांस कुष्ठ रोग को उत्पन्न करता है । तिस से सिद्ध होता है कि स्वार्थी लोगों ने मत्स्यमांसादि की प्रशंसा लिखदी है ।

और इस क्रव्यादादि जन्तुओं के निषेध से प्रकरण भी बिगड़ता है क्योंकि दशवें श्लोक में, धरे रहे खटाये बिगड़े वस्तुओं में दही आदि को भक्ष्य कहा और वह विषय चौवीसवें पद्य में (यत्किंचित्स्नेहसंयुक्त०) इत्यादि कथन से समाप्त हुआ इस प्रकार १० तथा २४ में एकही विषय का वर्णन मिलता है । पर बीच में ग्यारहवें श्लोक तक अप्रसङ्ग का कथन स्पष्ट ही प्रतीत होता है । यदि कोई ११—२३ तक श्लोकों को निकाल वा छोड़ कर दशवें के साथ चौवीसवें श्लोक

को जोड़े तब निकला कुछ भी नहीं जान पड़ता । इस प्रकार इन श्लोकों ग्रन्थकारने पूर्वपक्ष रूप से रक्खा, उत्तर पक्ष में आगे सर्वथा ही मांस का भक्ष्य होना प्रतिपादन किया, संकोच भी मांसभक्षियों का बहाना होने से, शंसा किये पाठीनादि कुष्ठादि रोगों के हेतु होने और प्रकरण विरोध के दीख पड़ने से इन चारों कारणों से इन ११–२३ तक श्लोकों का सम्यक् दुःसाध्य जान पड़ता है किन्तु प्रक्षिप्त होना सिद्ध हो जाता है । यदि कोई श्लोकों को संकोचार्थ माने तो उस को कहीं संकोच स्वयं कर वा करा के दि चाहिये । जब करता कराता कोई कुछ नहीं केवल कथन मात्र मानते हैं सभी धर्म कथनमात्र उपकारक सिद्ध करना धर्म के खण्डनार्थ हो जाय मांस भोजन विचार खण्डन के द्वितीय भाग (मेरे बनाये) में और भी निर्णय इन श्लोकों के विषय में लिखा गया है ॥ २३ ॥

यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं–भक्ष्यंभोज्यमगर्हितम्
तत्पर्युषितमप्याद्यं–हविःशेषंचयद्भवेत् ॥
चिरस्थितमपित्वाद्य–मस्नेहाक्तंद्विजातिभिः
यवगोधूमजंसर्वं–पयसश्चैवविक्रिया ॥
एतदुक्तंद्विजातीनां–भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ।
मांसस्यातःप्रवक्ष्यामि–विधिंभक्षणवर्जने ॥

अ०—यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं स्नेहसंयोगेन पक्वमगर्हितं केशकीटश्वादिभिरदूषितत्वादनिन्दितं भक्ष्यं भोज्यं वा वेद्धविःशेषं वा यद् भवेत्तत्पर्युषितमपि सर्वमाद्यं न तद्भ कापि धर्महानिरस्ति । द्विजातिभिर्यवगोधूमजं सर्वं पय श्चैव विक्रिया तद्द्वयमस्नेहाक्तं चिरस्थितमपि त्वाद्यं भो कदाचिच्छीतादिकाले नतु ग्रीष्मवर्षासु तदप्यगर्हितं चे द्विजातीनामेतद्भक्ष्याभक्ष्यमशेषत उक्तम् । अतः परं भ णवर्जने मांसस्य विधिं प्रवक्ष्यामि । भक्षणस्य वर्जनं भ णवर्जनमिति तत्पुरुषो नतु द्वन्द्वः ॥

भावार्थः–(आचार्यं प्रवक्तारं च) यज्ञोपवीतादि संस्कार कराके वा मन्त्रोपदेश दे के वेद पढ़ाने वाले आचार्य, अध्यापक वा उपाध्याय जो वेतन लेकर पढ़ाता हो (पितरं मातरं गुरुम्) पिता, माता, गर्भाधानादि संस्कार करने और अन्न वस्त्र द्वारा पालन पोषण करने वाले गुरु, (ब्राह्मणान् गाश्च) अन्य ब्राह्मणों, गौओं (सर्वांश्चैव तपस्विनः) और सब क्षत्रिय वैश्यादि कहाने वाले भी धर्मनिष्ठ तपस्वियों को (न हिंस्यात्) कटु वचनादि द्वारा पीडित न करे अर्थात् इन सब के साथ ऐसा कोई आचरण न करे जिस से उन को दुःख पहुंचता हो (नास्तिक्यं वेदनिन्दां च) पुनर्जन्मादि युक्ति प्रमाण सिद्ध परोक्षवाद, वेद की निन्दा (देवतानां च कुत्सनम्) अग्निहोत्रादि देवयज्ञ में तत्पर पुरुषों की निन्दा (द्वेषं दम्भं च मानं च) मत्सरता–ईर्ष्या, दम्भ–कठोरता–नम्रता का न होना, अभिमान (क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत्) क्रोध और क्रूरता को गृहस्थ छोड़ देवे (पुत्राच्छिष्याद्वाऽन्यत्र) पुत्र वा शिष्य को छोड़ कर (परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्) अन्य किसी पर मारने को लकड़ी छड़ी आदि न उठावे (क्रुद्धो नैव निपातयेत्) क्रोध में भर के किसी पर लकड़ी आदि न मार देवे (शिष्यर्थं ताड़येत्तु तौ) परन्तु स्त्री पुत्र शिष्यादि को शिक्षित करने शुद्धाचरणी होने के लिये हाथ वा लकड़ी आदि से अवश्य ताड़ना करे (द्विजातिर्वधकाम्यया) ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य, मार डालने के अभिप्राय से (ब्राह्मणायावगूर्यैव) ब्राह्मण पर गुर्रा के मारने को शस्त्र उठाने से ही (तामिस्रे नरके शतं वर्षाणि परिवर्त्तते) अन्धकार तमोगुण की प्रवलता रूप नरक में सैकड़ों वर्ष तक भ्रमता पड़ा रहता है (संरम्भान्मतिपूर्वकं तृणेनापि ताडयित्वा) समझ पूर्वक क्रोध में भर के ब्राह्मण को थोड़ा भी मारे पीटे तो (एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते) इक्कीश जन्मों पर्यन्त पापप्रधान योनियों में उत्पन्न हो २ कर दुःख भोगता है (अयुध्यमानस्य ब्राह्मणस्याङ्गतोऽसृगुत्पाद्य) जो किसी से लड़ता भिड़ता न हो ऐसे सीधे सच्चे ब्राह्मण के शरीर से लड़ाई करने द्वारा कोई लोहू निकाल देवे तो वह (नरोऽप्राज्ञतया प्रेत्य सुमहद्दुःखमाप्नोति) पुरुष मूढ़ दशा में पड़ के जन्मान्तर में बहुत वड़ा दुःख पाता है (शोणितं महीतलाद्यावतः पांसून् संगृह्णाति) मारे हुए ब्राह्मण के गिरे हुए रुधिर से पृथिवी के जितने कण–त्रसरेणु–भीग जाते हैं (अमुत्र तावतोऽब्दानन्यैः शोणितोत्पादकोऽद्यते) जन्मान्तर में उतने ही वर्षों तक ब्राह्मण के देह से रुधिर निकाल देने वाला मनुष्य अन्य कुत्ता शृगालादि द्वारा वार २ नोच २ खाया जा-

ता है (तस्माद्विद्वान्) इस से समझदार को चाहिये कि (कदाचिद् द्विजे नाह्
दपि) कभी ब्राह्मण के मारने के लिये गुर्रावे भी नहीं (तृणेनापि न ताडये
एक तिनके से भी ब्राह्मण को न मारे और (न गात्रादसृक् स्रावयेत्) न श
से रुधिर निकाले अर्थात् थोड़ा वा बहुत कदापि न मारे (हि) क्योंकि (
नरोऽधार्मिकः) जो अन्य ब्राह्मणादि को दुःख देने के लिये मन में द्रोह
द्वेषरूप अधर्म रखता (यस्य चाप्यनृतं धनम्) तथा दूसरों को दुःख पहुंचा
लिये मिथ्या बोलना ही जिस का धन वा इष्ट है (हिंसारतश्च यो नित्य
और जो क्रोध पूर्वक हाथ पांव वा लकड़ी आदि से अन्यों को मारने पीट
ही तत्पर रहता अर्थात् मानस वाचिक और कायिक तीनों प्रकार का
करना जिस का स्वाभाविक काम होता (असाविह न सुखमेधते) वह पुरुष जब
वर्त्तमान जन्म में ही सुखी नहीं रहता तो जन्मान्तर में सुखी कहां से रहेगा

भा०—आचार्य आदि के साथ शरीर वाणी और मन से विरुद्ध आचरण
निषेध सभी प्रकार धर्म का हेतु है । और नास्तिकतादि प्रत्यक्ष ही अध
हेतु हैं । ब्राह्मण के लिये गुर्रा के इत्यादि चार श्लोकों से कहा निन्दार्थवाद
प्रकार सब समय में प्रायः सज्जनों को दुःख पहुंचानेरूप हिंसा दोष में तत्पर
पुरुष को विशेष पाप दोष लगना दिखाने के लिये है । और ११ ग्यारहवें अध्या
य में २०४ से २०८ तक कहे, गुर्रा ने आदि दोष से हुए पाप के प्रायश्चित्त के साथ
चार श्लोकों का विरोध प्रतीत होने से ये चारों श्लोक शोचनीय तथा विचार
में रखने योग्य प्रतीत होते हैं । परन्तु यह अन्तिम पद्य में कहा विचार दो
पक्ष [ये चार श्लोक प्रक्षिप्त हों वा न हों तो भी] में ठीक सिद्धान्त जानो
जो मन वाणी और शरीर से अन्यों को दुःख देनेरूप अधर्म में तत्पर है उस
कहीं सुख नहीं क्योंकि जो इसी शरीर से यहां सुखी नहीं वह आगे सुख
पावेगा ? । अन्यों की अपेक्षा जो जैसे अधिक वेदोक्त धर्म का स्वयं सेवन
अन्यों में प्रचार करता कराता है वह शास्त्र के अनुकूल वैसाही उत्तम ब्राह्
है उसको पीड़ा, ताड़ना, दुःख देने आदि से धर्म को ही पीड़ित वा नष्ट कर
होगा इसी से अपराधी को अधिक दोष लगने पूर्वक अधिक अनिष्ट दुःख
का होना न्यायानुकूल ही जानो इस प्रकार सब विचार ठीक है ॥ १७० ॥

नसीदन्नपिधर्मेण मनोऽधर्मेनिवेशयेत् ।
अधार्मिकाणांपापाना माशुपश्यन्विपर्ययम्

नाधर्मश्चरितोलोके सद्यःफलतिगौरिव ।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानिकृन्तति ॥
यदिनात्मनिपुत्रेषु नचेत्पुत्रेषुनप्तृषु ।
नत्वेवंतुकृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवतिनिष्फलः ॥
अधर्मेणैधतेतावत् ततोभद्राणिपश्यति ।
ततःसपत्नाञ्जयति समूलस्तुविनश्यति ॥
सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचेचैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्चशिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥
परित्यजेदर्थकामौ यौस्यातांधर्मवर्जितौ ।
धर्मंचाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेवच ॥
नपाणिपादचपलो ननेत्रचपलोऽनृजुः ।
नस्याद्वाक्चपलश्चैव नपरद्रोहकर्मधीः ॥
येनास्यपितरोयाता येनयाताःपितामहाः ।
तेनयायात्सतांमार्गं तेनगच्छन्नरिष्यते ॥१७८॥

अ०—शास्त्रमर्यादानिष्ठेन सेवितधर्मेण धनादिकमप्राप्नुवन्सीदन्नपि क्षुधा पीडितोऽपि दुःखं भुञ्जानोऽपि गृहस्थोऽधार्मिकाणां पापानामाशु विपर्ययं दुर्दशां दुःखभोगाधिक्यं पश्यन्नधर्मे मनो न निवेशयेत् । परद्रोहपीडनाद्यधर्मेण धनाद्युपार्जयितुं मनो नादधीत । यथा गौः पृथिवी

सद्यो न फलति यवादयो भूमावुप्ताः कालेन पचन्ति तथै
कृतोऽधर्मोऽपि सद्यो न फलति वैधर्म्यदृष्टान्ते यथा पशुर्गौ
सद्यः फलति सम्यक्खादितखाद्या कृतपरिकर्मा च गौस्त
द्दिन एवाधिकं शुद्धं च दुग्धफलं स्वस्वामिने सुप्रहृष्टा स
प्रयच्छति न तथा कृतोऽधर्मइति । अपितु शनैरावर्त्तमा
पापकर्त्तुः सुखस्य मूलानि कृन्तति छिनत्ति। यदि कर्त्रा कृ
धर्मोऽधर्मो वा स्वदेहे न फलति चेत्पुत्रदेहेषु पौत्रदेहेषु वा
लति नतु निष्फलः कदापि भवति। अधर्मेणादौ कर्त्ता सु
साधनैर्वर्धते पूर्वसंचितसुकृतसहायेनाधर्माचरणरतोऽपि सु
लभते। तदनन्तरं च भद्राणि कल्याणकराणि पुष्कलधन
द्यागमनादीनि पश्यति ततश्च सिद्धपुष्कलसाधनः सपत
न्स्वतोऽवकृष्टान् जयति। पुनश्च केनचिद्विशिष्टबलवता कृ
तविग्रहो दुर्दैवोद्बोधेन वा नष्टबुद्धिर्विपरीतमाचरन् समूल
विनश्यति। तस्मात्स्वाधोगतिमचिकीर्षन् ब्रह्मयज्ञादौ साङ्
वेदोक्ते सर्वथैव सत्ये धर्मे, सतामार्याणामाचारे शौचधर्मे
सदाऽऽरमेत्समन्ताद्रतः स्यात्। आरात्पापेभ्यो ये दूरं यन्ति
आर्यास्तेषां वृत्तं समागमश्च धर्म्यएव भवति । वाग्बाहूदर
यतः सन् वाचाऽतिपरुषमनृतमसंबद्धं वर्जयन्, बाहुभ्याम
धिकं मर्मस्वताडयन्, उदरे स्वयमेव स्वादुभुञ्जानस्तेभ्योऽ
विभागेन ददन्, शिष्यान् पुत्रकलत्रछात्रादीन्धर्मेण शिष्या
यौ धर्मवर्जितावर्थकामौ स्यातां तौ परित्यजेन्नतु काम
र्थवर्जितं धर्ममिति। परस्त्रीगमनापेक्षया धर्मत्वेनाभिमतम
प्यधिकं स्वभार्यागमनं बहुतनयोत्पादनं चायत्यामसुखोद
यकरं धर्मं, लोकैर्विक्रुष्टं निन्दितं दानादिकं च नाददीत शा
स्त्रतोऽविशिष्टदोषकरमपीति। अनृजुर्निर्दयः,परद्रोहकर्मधीः

परपीडनहेतौ कर्मणि ध्यानपरो न स्यात्। विवादास्पदमार्गेषु लौकिकमत्या विशेषेण परीक्षितुमशक्येषु येन पथाऽस्य पितरः पितामहाश्च यातास्तेनैव सतां पित्रादीनां मार्गं यायान्नत्वसतामिति। तेन पथा गच्छन्नरिष्यते नासौ दुष्कृतफलेन दुःखेन पीड्यते ॥

भा०---अधर्माचरणेन ये जगति स्वसुखहेतून् धनादीन् पदार्थान् संचिन्वन्ति तेषाम्पारुष्याऽयायादिना परधनाद्यपहरणपराणां सद्यएव देहपाताद्यनिष्टं महादुःखफलं सम्मुखमायातीति पश्यता गृहिणा धर्मेणान्यानपीडयन्नेव धनादिवस्तुसंचयः कर्त्तुमवसेयः। यदि मार्दवेनाच्छादिताधर्मेण स्वार्थः साध्यते धैर्यपुरस्सराधर्मेण वा तदाऽपि विश्वासः कार्यस्तेषामधोगतिः कालेन भविष्यत्येव। यथा शनैःशनैः कृतेन कुपथ्येन कालेनैव रोगा सुव्यज्यन्ते। एवं हि परोक्षसंचितदुष्कृतेनापि बहव आपद्ग्रस्ता दृश्यन्ते। पुत्रपौत्रदेहेषु पितुरेव देहांशान्वयो भवति। तत्र पुत्रादिरूपावस्थः पितुर्देहांशः स्वकृतस्यैव कुष्ठादिहेतोः दुष्टकर्मणो दुःखफलं लभते तस्मात्कर्त्तुरेव फलं नान्यकृतमन्यो भुङ्क्ते। यत्तु पितुर्देहाद्भिन्नो जीवात्मा पुत्रदेहे दुःखमनुभवति तच्च तस्यैव पूर्वजन्मकृतस्य कर्मणः फलं नतु पितृकृतस्येति। यदा च विद्यमाने पितरि पुत्रपौत्रेषु दुःखफलव्यक्तिस्तदा स कर्त्तापि तान्दृष्ट्वा दुःखफलं लभते। नाशरीरस्यात्मनो भोगः कश्चिदस्तीति कथनादेव देहात्मसंयोगे सर्वो भोगः। पुत्रादीनां देहश्च पितृदेहपरिणामएव अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदया-

दधि जायसे । अनेनापि पितृदेहांशस्यैव पुत्रत्वं स्फुटम्
अतएव पुत्रे पीड्यमाने सर्वापेक्षयाऽऽधिक्येन पिता पीड्यते
ये लौकिकसुखभोगाय पूर्वतो धर्ममाचरन्ति ते धनादिसा
धनैः सह कामभोगानवाप्य स्वभोगमदे मग्ना धर्मं विस्मृ
त्याधर्ममाचरन्ति यावत्तत्पूर्वतः प्राप्तबलं सुकृतं न क्षीयं
तावदधर्मे क्रियमाणेऽपि सुखं भुञ्जते सुखसाधनान्येव त
त्सन्निधावायान्ति च तद्दृष्ट्वा मूढा जना धर्मे गतविश्वास
अधर्मं प्रशंसन्ति । धर्ममर्मज्ञा दीर्घदर्शिनस्तु ज्ञानचक्षु
तेषामधर्मिणां ध्रुवमेव विनाशं पश्यन्ति यतः प्रत्यक्षमा
धनादिसम्बद्धाधिकाराच्च्युता व्यभिचारादिरता दृश्यन्ते
तथैवान्येषामपि पातः सन्निहितइति । तस्माद्विज्ञेन धर्म
एव सेव्यो नाधर्मः । अधर्ममिश्रितो धर्मो धर्माभासएव वा ध
र्मपदेनापदिश्यमान आयत्यामसुखकरो लोकैर्विक्रुष्टश्च भवि
तुमर्हति सएव त्याज्यो नतु प्रधानो धर्मइति । पितृपिता
महादिपूर्वजसेवितो धर्मः पुत्रेण सेव्यो न त्वधर्मो धर्मा
रणस्यैव प्रकरणात् । नह्यधर्मस्येतिकर्त्तव्यतया विधानं क्वा
प्युपलभ्यतइति ॥ १७८ ॥

भाषार्थः—(धर्मेण सीदन्नपि) धर्मानुकूल वर्त्ताव करने पर निर्वाह योग्य
चित धनादि प्राप्त न होने से दुःखित रहता हुआ भी ब्राह्मणादि गृहस्थ पु
(अधार्मिकाणां पापानामाशु विपर्ययं पश्यन्) अधर्मी पापियों की शीघ्र २ ही
वाली अधिक दुःख भोगरूप दुर्दशा—अधोगति को देखता शोचता विचारता हु
(अधर्मे मनो न निवेशयेत्) अन्यों को दुःख पहुंचानेरूप अधर्म द्वारा धना
के उपार्जन में मन कदापि न लगावे क्योंकि (लोके चरितोऽधर्मः सद्यो गौरिव
फलति) संसार में किया हुआ अधर्म शीघ्र ही बुरा फल नहीं देता—जैसे पृथि
में बोये जौ आदि धीरे २ काल पाकर उगते बढ़ते फलते फूलते हैं वैसे अ

भी काल पाकर परिपक्क दशा में आता है अथवा जैसे गौ नामक पशु को जो दाना घास सानी आदि अच्छा २ खिलाया जाता उस का दूधरूप फल नित्य २ शीघ्रही गौ देती जाती है वैसे धर्म वा अधर्म शीघ्र नहीं फलता [प्रयोजन यह कि हम विश्वास रक्खें कि जिस धर्म वा अधर्म का वीज हमने वोया और सींचा है वह अपने पकने समय अवश्य पकेगा और अच्छा वा वुरा फल अवश्य देगा तत्काल ही फल न मिलने से अविश्वास नहीं करलेना चाहिये क्योंकि विना समय आये किसी का फल नहीं होता। अधर्म का वुरा फल अवश्य होगा ऐसा निश्चय मानते हुए को अधर्म से वचना चाहिये और धर्म का फल भी अच्छा अवश्य होगा ऐसा विश्वास करते हुए धर्म का सेवन लगातार करना चाहिये] किन्तु (शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति) धीरे २ संचित और पुष्ट हुआ अधर्म पाप कर्त्ता के सुख की जड़ों मूलों को धीरे २ काटना आरम्भ करता है (यदि नात्मनि कर्त्तुः पुत्रेषु) यदि कर्त्ताने किया अधर्म अपने शरीर में फल को प्रकट न करे तो कर्त्ता के पुत्रों के शरीर में फल देता (न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु) यदि पुत्रों में भी न फले तो पौत्रों में फलता है (कृतोऽधर्मो नत्वेवं तु निष्फलो भवति) किया हुआ अधर्म वा धर्म इस उक्त प्रकार निष्फल नहीं होता–फल अवश्य देता है (तावदधर्मेणैधते) प्रथम तो पूर्व सुकृतके सहारे से अधर्म से अधर्मी की वढ़ती होती (ततो भद्राणि पश्यति) तदनन्तर धनादि सुख के सामानों को प्रत्यक्ष प्राप्त होते देखता है जिस से अधर्म में ग्लानि न हो कर वैसा ही पाप करने का और भी उत्साह बढ़ाता है जिस से (ततः सपत्नान् जयति) तदनन्तर अधिक धनादि सामान का बल पाकर अपने से निर्बल शत्रुओं को पराजित करता है। और इस के भी पश्चात् किसी अधिक वलवान् पुरुष के साथ विरोध लड़ाई करके अथवा दुष्ट प्रवल प्रारब्ध के जागने से नष्टबुद्धि हो विपरीत आचरण करता अन्धाधुन्ध गिर पड़ता (समूलस्तु विनश्यति) निर्मूल नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। तिस से अपनी अधोगति–दुर्दशा करना न चाहता हुआ (सत्यधर्मार्यवृत्तेषु) सर्वथा सत्य साङ्गोपाङ्ग ब्रह्मयज्ञादि वेदोक्त धर्म में और श्रेष्ठ आर्यमहात्मा लोगों के वृत्तान्त आचरण में (शौचे चैवारमेत्सदा) और सदा नित्य २ शौच धर्म के पालन में तत्पर रहे। जो लोग पापों से सदा ही दूर रहते हैं वेही आप्त सज्जन धर्मात्मा आर्य कहाते उन के आचरण का अनुकरण और समागम भी धर्म का हेतु होता मन पवित्र होता जाता है (वाग्बाहूदरसंयतः) वाणी से कठोर मिथ्या वा

असंबद्ध न बोलता कठोरतादि दोषों से वाणी की रक्षा करता, हाथों को अनुचि दान लेने और अधिक वा अनुचित मारने से बचाता हुआ और स्वादिष्ट वा त्तम पदार्थों को अपने ही उदर में रखने की तृष्णा न रखता हुआ अर्थात् स्वा दोष से उदर को भी वश में रखता हुआ (धर्मेण शिष्यांश्च शिष्यात्) धर्मानु स्त्री पुत्र विद्यार्थी आदि शिक्षा योग्यों को शिक्षा करे अर्थात् वाणी से कठो बोलने आदि से दूषित पुरुष की शिक्षा पुत्रादि नहीं मानते। (यौ धर्मवर्जि स्याताम्) जो धर्म से विरुद्ध वा जिन में धर्म न हो ऐसे (अर्थकामौ परित्यजे धनलाभ और कामभोग का सर्वथा परित्याग कर देवे किन्तु काम और धन रहित धर्म को कदापि न त्यागे (धर्मं चाप्यसुखोदर्कम्) परस्त्रीगमन की भां धर्मपक्ष में माने गये भी अपनी स्त्री से अधिक कामभोग वा अधिक सन्तानों उत्पत्ति जो कि भविष्यत् में सुख बढ़ाने वाले काम नहीं हैं उन को (लोकवि क्रुमेष्टव च) और लोक में जो निन्दित काम हैं जैसे शास्त्रानुकूल किसी से दान ले अविरुद्ध होने पर भी लोग जिस को बुरा कहते मानते हों ऐसा धर्म भी न (नपाणिपादचपलः) हाथ पांव की अधिक चपलता न करे (न नेत्रचपलोऽनृजु आंखों से चपल और निर्दयता युक्त भी न हो (न स्याद्वाक्चपलश्चैव) और वा से भी चपल न हो (न परद्रोहकर्मधीः) और अन्यों को पीड़ा दुःख पहुंचा वाले कर्म में मन को लगाने ध्यान रखने वाला गृहस्थ न होवे। जो विवादास्पद विषय हो, जिस धर्मविषय की साधारण बुद्धि से विशेष परीक्षा न हो सके वहां (येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः) जिस धर्म के मार्ग से इस पिता दादा परदादा चले हों (तेन सतां मार्गं यायात्) उसी प्रकार से उन धर्मात्मा पूर्वजों के मार्ग पर चले (तेन गच्छन्न रिष्यते) उस मार्ग से चलत हुआ वह दुःख फल से पीडित नहीं होता। इस लिये असज्जनों के मार्ग कदापि न चले ॥

भा०—जो लोग इस जगत् में अपने सुख के हेतु धनादि पदार्थों को अधर्मा चरण से संचित करते हैं। उन कठोरता अन्याय छल कपट स्वार्थपरता चालाकी से पराये धन का अपहरण करने वालों के सन्मुख शरीरनाशादि वा निर्वं होना आदि महादुःखरूप फल शीघ्र आता है ऐसा देखते विचारते हुए गृहस्थ को चाहिये कि अन्यों को पीड़ा न पहुंचाता हुआ शुद्ध धर्म के साथ धनादि का संचय करना निश्चित करे। यदि कोमलता से ढांपे हुए अधर्म से अपना स्वा

सिद्ध करता है वा धीरज के साथ लिये अधर्म से स्वार्थ साधता है। तब भी विश्वास करना चाहिये कि ऐसे लोगों की भी अधोगति काल पाकर होती है जैसे कि धीरे २ किये कुपथ्य से बहुत काल में रोग होते और प्रबल लगातार प्रबलता से किये कुपथ्य से शीघ्र रोग होजाते हैं इसी प्रकार धर्माधर्म के फल भी कहीं शीघ्र और कहीं देर में होते हैं। इसी के अनुसार पूर्वकाल में किये परोक्ष संचित दुष्कर्म से अनेकों पर बड़ी २ आपत्ति आती हैं। पिता के ही शरीर का अंश पहुंच कर पुत्र और पौत्रों आदि का शरीर बनता है उन पुत्रादिरूप देह में परिणत हुआ पिता का देहांश ही अपने किये कुपथ्यादि के हेतु दुष्कर्म का दुःख फल पाता है। इस से अपने किये का अपने को ही फल मिला अन्य के किये को अन्य नहीं भोगता [जैसे कपास से रुई, उस से सूत और सूत से वस्त्र बना और वस्त्र में दुई ता ड़ना वा उस को जलाया तो कपास के अंशों की ही ताड़ना और दाहक्रिया हुई इसी के अनुसार पुत्रादि के देह में पिता को भोग हुआ जानो] और जो पिता के शरीर से भिन्न पुत्र के शरीर में आया जीवात्मा दुःख का अनुभव करता वा पिता के सुकृत का फल भोगता है वह उसी के पूर्व जन्म कृत शुभाशुभ का फल उस को अन्य पितादि के सङ्ग से मिला माना जायगा। किन्तु पिता के किये का नहीं और जब पिता के विद्यमान रहने पर पुत्र पौत्रों में दुःख फल प्रकट होता है तब वह कर्त्ता पिता उन दुःखित पुत्रादि को देख के अपने में और अपने अंश रूप पुत्रादि के देह में दुःख का अनुभव दो प्रकार से करता और पुत्रात्मा अपने किये को भोगता है। बिना शरीर धारण किये आत्मा को कोई सुख दुःख भोग नहीं मिलता—इस कथन से भी देह और आत्मा के संयोग में सब भोग होना सिद्ध है। पिता के देहांश का परिणाम ही पुत्र का देह है। उसी २ मुखादि अङ्ग से पुत्र का वह २ अङ्ग बनता है। इस निरुक्त के कथन से भी पिता का देहांश ही पुत्र ठहरता है। इसी कारण पुत्र के पीड़ित होने पर अन्य सब की अपेक्षा पिता अधिकता से पीड़ित होता है। जो लोग लौकिक सुख भोग मिलने के लिये पूर्व से धर्म करते हैं वे धनादि साधनों के साथ उत्तम २ कामादि भोगों को प्राप्त हो के अपने अच्छे २ भोगों के नशा में डूबे हुए धर्म को भुला के अधर्माचरण करते हैं। और जब तक पूर्व किया सुकृत सुखभुगाने में बल को प्राप्त रहता, क्षीण नहीं होता तब तक वह पुरुष अधर्म करता हुआ भी सुख भोग करता है और उस अधर्मी के निकट सुख के ही साधन आते हैं। जिस से उस को सुखभोग में सम्पन्न देख कर अविद्याग्रस्त मूर्ख लोग धर्म की ओर से विश्वा-

स हटा के अधर्म की प्रशंसा करते हैं कि जिस से सुख मिलता वही मार्ग अच्छा है इस लिये जिस किसी प्रकार जो धनादि पैदा करले वही सुखी है उ के समीप सब सुख भोग आजाते हैं। परन्तु धर्म का मर्म जानने वाले दीर्घदर्शी लोग उन अधर्मियों के निश्चित होने वाले विनाश को ज्ञानचक्षु से साक्षात् देखते हैं। जिस कारण प्रत्यक्ष ही अनेक विषयी [ऐय्याश] मद्य मांस वेश्या में अधिक फसे बड़े२ अधिकारी राज्यों [रियासतों] को थोड़े काल में प्रत्यक्ष नष्ट भ्रष्ट कर देते स्वयं अधिकारों से च्युत होके नीच दीन हो जाते दीखते हैं वैसे ही अन्य अधर्मियों का गिरना भी समीप ही लगा है। इस लिये अ कल्याण चाहने वाले विचारशील पुरुषों को धर्म का ही सदा सेवन करना उचित है अधर्म का नहीं। अधर्म से मिश्रित वा आभास [लिफाफेवाला] देखने का धर्म ही लोक में धर्म कहाता हुआ भविष्यत् में दुःखकारी और लोक निन्दित हो सकता और वही त्याज्य कहा गया है किन्तु मुख्य वा शुद्ध धर्म भी त्याज्य नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर ही वेदोक्त धर्म लुप्त हो जाता पिता पितामहादि पूर्वजों का सेवित धर्म ही पुत्र को सेवने योग्य कहा जा किन्तु मद्यपान वेश्यागमनादि अधर्म किसी के पूर्वजों ने किया हो तो उस अनुकरण पुत्र को कदापि नहीं करना चाहिये। क्योंकि यहां धर्माचरण का प्रकरण है। रागादि दोषों के स्वाभाविक होने से अधर्म तो स्वतःप्राप्त ही इस कारण स्वतःसिद्ध के लिये विधिवाक्य की आवश्यकता ही नहीं। अप्राप्ति वा उस की सम्भावना में विधि और प्राप्ति वा उस की सम्भावना निषेध माना जाता है इस कारण पितादि के धर्म विरुद्ध आचरणों का विधि पुत्र के लिये कदापि नहीं आता ॥१७८॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यै र्मातुलातिथिसंश्रितैः।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यै र्ज्ञातिसंबन्धिबान्धवैः॥
मातापितृभ्यांजामीभि र्भ्रात्रापुत्रेणभार्यया।
दुहित्रादासवर्गेण विवादंनसमाचरेत्॥
एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वपापैःप्रमुच्यते।

एभिर्जितैश्चजयति सर्वाल्लोकानिमान्गृही ॥
आचार्योब्रह्मलोकेशः प्राजापत्येपिताप्रभुः ।
अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्यचर्त्त्विजः ॥
जामयोऽप्सरसांलोके वैश्वदेवस्यबान्धवाः ।
सम्बन्धिनोह्यपांलोके पृथिव्यांमातृमातुलौ ॥
आकाशेशास्तुविज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः ।
भ्राताज्येष्ठःसमःपित्रा भार्य्यापुत्रःस्वकातनूः ॥
छायास्वोदासवर्गश्च दुहिताकृपणंपरम् ।
तस्माद्देतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरःसदा ॥१८५॥

भा०--ज्ञातयः भ्रातृव्यपितृव्यादयः, सम्बन्धिनः श्वशुरश्यालादयः,बान्धवा मातामहादयः,जामयो भगिनीस्नुषाद्याः; इमाँल्लोकान्सुखहेतुत्वेनालोकयान् । वेदेनैव निरतिशयस्य ब्रह्मणो बोधो जायते तस्य वेदस्य च मर्मबोधयिताऽऽचार्यः। सर्वोत्पादकपालकांशकार्यं नियुक्तः पिता, इन्द्रतत्त्वसम्बन्धिबुद्धिप्रकाशरूपज्ञानसदुपदेशयोः प्रदाताऽतिथिः,ऋत्विजो देवयजनशीला देवत्वप्रधाना देवत्वस्य प्रापकाः । अप्सरसां देवस्त्रीसंबद्धसुखहेतुका जामयः, वैश्वदेवस्य सर्वतत्त्वसम्बद्धसुखस्य प्रदातारो बान्धवाः,श्यालादिसम्बन्धिनोऽप्सम्बद्धशान्तिसौम्यकामसुखस्य हेतवो भार्य्यादिप्रसादद्वारेणेति । उपादानकारणसाम्येन मातृमातुलौ पृथिवीस्थानीयौ । लघुत्वप्रधानतया बालवृद्धकृशातुरा आकाशतत्त्वजसुखहेतवः।

ज्येष्ठे भ्रातरि पित्रांशः स्वतः पूर्वं प्राधान्येनागच्छति तस्मा
त्तस्य पितृसमत्वम् । भार्य्यापुत्रौ स्वदेहांशभूतौ दासवर्गः स
स्योपरि छत्रमिव छायाकरो दुःखवारकः परिचरणादिना
दुहिता चाधिक्येन परतन्त्रत्वात्कृपापात्रम् ॥

भा०-ऋत्विगादिभिर्विवादो विरोधो येन प्रतिकूला
चरणेनोत्पद्येत तद्वाक्कलहश्च धर्मानुष्ठानजन्यं सत्यं सुखमि
च्छता विज्ञजनेन न कदापि कार्यः । विवादाद्यभावे तत्प्र
त्युकानुकूलाचरणेश्च तुष्टा आचार्यादयः स्वस्वशक्तिसाध्यं सु
गृहिणं प्रदातुं स्वतोषकं तोषयितुं च सर्वोपायैरेव प्रयतन्ते
ततश्च न कुतोऽपि तस्य दुःखमायातीति धर्मस्य प्रत्यक्षं
फलम् । तस्मात्तत्सुखमिच्छुर्जनस्तस्यतस्य सुखस्य हे
सन्तोषयेत् । आचार्ये तुष्टे वेदमीश्वरं च साक्षात्कर्त्तुं शक्ति
र्व्यज्यते । पुत्रस्य पालनं पित्रधीनं पितरि सम्यक् तुष्टेऽ
पत्योत्पादनपालनयोग्यतां पिता स्वरक्षया तस्मिन्नुत्पा
यति । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । यस्मिन् वस्तुनि यो गुणः
सादाभावे तिरोभवति सएव सति प्रसादे व्यक्तिमापद्य
तच्च सम्यक् सेव्यमानं स्वगुणं सद्भिर्न्यर्पयतीति । असन्तु
ष्टक्रुद्धाचार्यादीनामसन्तोषक्रोधादयोऽपि दुर्गुणा दुःखकरा
ष्यादिपुरुषसमीपमायान्त्येव ॥ १८५ ॥

भाषार्थः-(ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः) ऋतु २ में यज्ञ क
वाले ऋत्विजों, पुरोहित, यज्ञोपवीत करा के वेद पढ़ाने वाले, मामा, अति
अपनी सहायता से निर्वाह-जीविका करने वाले (बालवृद्धातुरैर्वैद्यैः) बालक, वृद्ध
रोगी, वैद्य वा वेदादि शास्त्र के ज्ञाता विद्वान् (ज्ञातिसंबन्धिबान्धवैः) चाचा आदि
कुटुम्बियों, श्वशुर, साले आदि सम्बन्धियों नाना आदि बान्धवों (मातापित

जामीभिः) माता पिता वहिनों वा पुत्रवधू आदि (भ्रात्रा पुत्रेण भार्य्यया) बड़े भाई, पुत्र, अपनी स्त्री (दुहित्रा दासवर्गेण) अपनी कन्या और सेवकों के साथ (विवादं न समाचरेत्) ब्राह्मणादि गृहस्थ पुरुष विवाद-वैर-विरोध-कलह कभी न करे (एतैर्विवादान्संत्यज्य) इन सब ऋत्विजादि के साथ सर्वथा वैर विरोध विवादों को सम्यक् त्याग कर (सर्वपापैः प्रमुच्यते) गृहस्थ पुरुष सब प्रकार के पापजन्य दुःख फलों से छूट जाता है (एभिर्जितैश्च सर्वानिमाँल्लोकान् गृही जयति) इन ऋत्विजादि को धर्मपूर्वक अपने अनुकूल प्रसन्न कर लेने से गृहस्थ इन आगे कहे सुख के हेतु लोकों नाम लोकनीय देखने जानने में आने वाले पदार्थों को अनुकूल अविरोधी कर लेता है (आचार्यो ब्रह्मलोकेशः) वेद का बोध होने पर ही असीम परमात्मा का बोध होता है । और उस पवित्र वेद का मर्मबोध कराने वाला आचार्य कहाता इस प्रकार जानने साक्षात्करने योग्य परमेश्वर की प्राप्ति कराने में आचार्य ही समर्थ वा योग्य है (प्राजापत्ये पिता प्रभुः) सन्तान की उत्पत्ति पालन पोषण करने में पिता को अधिकार ऐसा ही है जैसा सब चराचर की उत्पत्ति पालन पोषण करने में ईश्वर को अधिकार है (अतिथिरिस्त्विन्द्रलोकेशः) इन्द्रतत्त्व सम्बन्धी वुद्धि के प्रकाश रूप ज्ञान और सदुपदेश करने की योग्यता और शक्ति वाला अतिथि कहाता (ऋत्विजश्च देवलोकस्य) देवत्व जिन में प्रधान वा प्रवल होता ऐसे देवयज्ञ अग्निहोत्रादि को करने के स्वभाव वाले ऋत्विज् लोग देवत्व सम्बन्धी सुख देने में समर्थ होते (अप्सरसां लोके जामयः) देवस्त्रियों सम्बन्धी नाम संसार में स्त्री सम्बन्धी सर्वोत्तम सुख ही देव स्त्रियों से होने वाला सुख कहावेगा अर्थात् सन्तुष्ट हुई निकट सम्बन्ध की भगिनी आदि स्त्रियां अपनी भौजाई आदि द्वारा उस को सुखी करने का अवश्य ही उद्योग करेंगी (बान्धवा वैश्वदेवस्य) सन्तुष्ट प्रसन्न हुए नाना आदि बान्धव सब देवता-सब तत्त्वों से सम्बन्ध रखने वाले सब प्रकार के उत्तम सुख को देने पहुंचाने की चेष्टा करते (सम्बन्धिनो ह्यपां लोके) जल तत्त्व सम्बन्धी शान्ति सन्तोष वा सोमतत्त्वसंबद्ध काम आदि रूप सुख देने योग्य कुटुम्बी और श्वशुरादि लोग स्त्री के सन्तोष प्रसन्नतादि द्वारा होते (पृथिव्यां मातृमातुलौ) माता अपने देह की साक्षात् उपादान कारण है और मामा का देह उन्ही दोनों का कार्य वा अंश है कि जिन माता पिता के शरीर का अंश अपनी माता है इस कारण उन दोनों के सन्तोष वा प्रसन्नता से सब के उपादान पृथिवीतत्त्व सम्बन्धी सुख उस को मिलेगा (आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः) आकाशतत्त्व

सब से हलका है उस हलकेपन की प्रधानता बालक, वृद्ध, दुबले पतले रोगियों में प्रत्यक्ष ही होती है इसी कारण बालकादि के सन्तोष, प्रसन्नता हार्दिक मेल से आकाशतत्त्व सम्बन्धी सुख उस को मिलता है (ज्येष्ठो भ्राता पितृसमः) पिता के शरीर का प्रथम नवीन प्रबल अंश उस के शरीर में आता कारण तथा पिता के तुल्य छोटे का रक्षक होने से बड़ा भाई पिता के सम सुख देने वाला (भार्या पुत्रः स्वका तनूः) स्त्री और पुत्र अपने अंश वा समीप हैं उन के साथ विरोध द्वेष होने से अपने ही साथ द्वेष वा विरोध हो तथा उन के सुखी रहने से अपने को साक्षात् सुख होगा। (छाया दासवर्गश्च) और अपना दासवर्ग अपने सेवक सेवा द्वारा छाता आदि के समान छाया दिक्कतों से बचाने वाले हैं उन से हुआ वैर विरोध वा द्वेष, अपनी छाया से ही होगा और उन के सन्तुष्ट प्रसन्न रहने से छाया अच्छी ठीक होगी (दुहिता कृपणम्) और अपनी कन्या अत्यन्त दीन सर्वथा पराधीन होती उस का बल किसी पर नहीं होता उसके साथ विरोध द्वेषादि करना दयाधर्म के विद्वेष होगा। अधिक दीन पर ही अधिक दया करनी चाहिये। उस के प्र रहने पर दया धर्म के द्वारा सुख मिलेगा (तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सदाऽसंज्वरः सहेत) कारण इन ऋत्विजादि के कठोर अनुचित आक्षेप को सुन कर भी कुपित न हो सदा ही धर्म मर्यादा को विचारता हुआ गृहस्थ सहन करे॥

भा०-जिस प्रतिकूल आचरण से ऋत्विजादि के साथ विवाद वा विरोध उत्पन्न हो वैसा वर्त्ताव वा वाणी से कलह, धर्म पूर्वक सत्य २ सुख चाहता विचारशील पुरुष कदापि न करे। विवादादि न होने पर उन को प्रसन्न वाले अनुकूल आचरणों से संतुष्ट हुए आचार्य आदि अपनी २ शक्ति वा योग्य से सिद्ध होने वाला सुख अपने सन्तोषक गृहस्थ को देने वा संतुष्ट करने के लिये प्रकार से उपाय करते हैं। तिस से उस के निकट कहीं वा किसी से दुःख आता यह धर्माचरण का प्रत्यक्ष फल है। इस से उस २ प्रकार के सुख को हने वाला गृहस्थ पुरुष उस २ सुख के हेतु-आचार्यादि को सन्तुष्ट करे। आ के सन्तुष्ट होने पर वेद और ईश्वर को साक्षात् जानने की शक्ति योग्यता प्र होती। पुत्र का पालन पोषण पिता के आधीन होता इस से पिता के सन्तुष्ट होने पर सन्तानों को उत्पन्न करने पालने की योग्यता पिता अपनी रक्षा उस में उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार आगे अतिथि आदि को भी जानो

जिस वस्तु में जो गुण प्रसन्नता के अभाव में दब जाता है वही प्रसन्नता होने पर प्रकट हो जाता है । और वह प्रसन्न वा शुद्ध वस्तु सेवन किया हुआ अपने वैसे गुण को अपने साथी में अग्नि जल आदि के समान ही ठीक संयोजित करता है अर्थात् जैसे अग्नि जलादि के निकट रहने वाले को उस का वैसा ही उष्ण शीतादि गुण लगता है वैसे आचार्यादि सम्बन्धियों के द्वेष युक्त होने से द्वेषादि लगते जिन का बुरा फल होता और उन के सन्तुष्ट प्रसन्न होने से सन्तोषादि द्वारा उत्तम सुख होता है। धर्म के साथ विद्या सम्बन्धी युक्तिप्रमाणयुक्त अंशों का सम्बन्ध अग्नि के साथ गर्मी के समान अवश्य ही है । विद्या से धर्म वा धर्म से विद्या कदापि भिन्न नहीं ठहरती इसी सिद्धान्त के अनुसार यहां विद्या के साथ धर्मांश का वर्णन दिखाया है। ईश्वरादि की ठीक उचित अनुकूल प्राप्ति मनुष्य के लिये सुख का हेतु और प्रतिकूल प्राप्ति दुःख का कारण है और धर्म का फल सुख तथा अधर्म का फल दुःख है । सूक्ष्म वा स्थूल तत्त्वों से भिन्न, जगत् में किसी प्रकार का पाप पुण्य वा सुख दुःख कुछ भी नहीं हैं । विद्या वा ज्ञान से ही मोक्ष होता वा सब बड़े २ भी दुःख जिस उपाय से छूटते उसी का नाम ज्ञान, विद्या वा वेद है उस का बोध वा प्राप्ति जिस द्वारा होती वह आचार्य कहाता है । इस प्रकार ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराने की शक्ति वाले आचार्य से वैमनस्य का होना जानो ज्ञान, विद्या वा वेद, परमेश्वर और मुक्ति के साथ ही उस का वैर वा द्वेष हुआ । प्रजा नाम सन्तानों का पालन करने से पिता भी प्रजापति होता तब जो अपना पालक पोषक है उस से किया विरोध अपने पालन पोषण से ही विरोध हुआ जानो । पुत्र के समर्थ हो जाने पर भी अपनी शक्ति भर उस के सुखी रहने की चिन्ता और उद्योग अपना ही अंश जानता मानता हुआ पिता अवश्य करता है । चाहें इन्ही बातों को यों कहो वा मानो कि इस आधिभौतिक भूलोक में, ब्रह्मत्व प्रधान आचार्य, प्रजापतित्व प्रधान पिता, इन्द्रत्व प्रधान अतिथि, देवत्व प्रधान ऋत्विज् अप्सरस्त्व प्रधान भगिनी आदि स्त्रियां, विश्वेदेवत्व प्रधान बान्धव और वरुणत्व प्रधान सम्बन्धि हैं । इन २ के ठीक २ उचित मेल वा सम्बन्ध से उन २ तत्त्वों सम्बन्धी सुख गृहस्थ को इस जन्म और जन्मान्तर में मिल सकता है । इस से जो गृहस्थ अपना धर्मानुसार कल्याण चाहता है वह आचार्यादि को क्रुद्ध वा दुःखित न कर के सर्वथा सर्वदा सन्तुष्ट प्रसन्न करने का उद्योग करे ॥ १८५ ॥

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गन्तत्र वर्जयेत्।
प्रतिग्रहेणह्यस्याशु ब्राह्मंतेजःप्रशाम्यति ॥
नद्रव्याणामविज्ञाय विधिंधर्म्यंप्रतिग्रहे।
प्राज्ञःप्रतिग्रहंकुर्या दवसीदन्नपिक्षुधा ॥
हिरण्यंभूमिमश्वंगा मन्नंवासस्तिलान्घृतम्
प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवतिदारुवत् ॥
हिरण्यमायुरन्नंच भूर्गौश्चाप्योषतस्तनुम्।
अश्वश्चक्षुस्त्वचंवासो घृतंतेजस्तिलाःप्रजाः
अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सहतेनैवमज्जति ॥
तस्मादविद्वान्बिभियाद् यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहा
स्वल्पकेनाप्यविद्वान्हि पङ्केगौरिवसीदति ॥

अ० विद्यातपःसदाचारयुक्तत्वेन दानमादातुं शक्तोऽ ब्राह्मणस्तत्र प्रतिग्रहे प्रसङ्गं प्रकृष्टं सङ्गमत्यासक्तिं मनस विवर्जयेत्। यतस्तत्प्रवृत्तेराधिक्येन जायमानेन हार्दसंको चेन ब्राह्मं तेजः शाम्यति। प्रतिग्रहे द्रव्याणां धर्म्यं विधिम विज्ञाय क्षुधाऽवसीदन्नपि प्राज्ञः प्रतिग्रहं न कुर्यात्। अ विद्वान् तपःसदाचारयुक्तोऽपि विप्रो हिरण्यादीन् गृह्णन् दा रुवद् भस्मी भवति निस्तेजा दीनो दातृणां मिथ्याप्रशंसक ब्रह्मत्वशून्यो भवति। हिरण्यादीन्यायुरादिकं दहन्तीति निन्दार्थवादः। हिरण्यादिसम्बद्धभोगासक्तत्वादधिकजीव

नहेतुजपतपआदिकर्मधर्मशून्यः सन्सद्यो म्रियते। अतपा अनधीयानस्तु प्रतिग्रहे कृतरुचिर्विप्रोऽश्मप्लवेनाम्भसीव तेन दानभोगेन सहैवाधर्माम्भसि मज्जति न तस्य धर्मकृत्ये छायापि द्रष्टुं केनापि शक्यते। तस्मात्सदाचारादिना कियदपि ब्रह्मत्वं रिरक्षिषुरविद्वान् विप्रोऽपि यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहाद्बिभियाद्यतोऽल्पेनापि प्रतिग्रहेण स धर्मं विस्मृत्याधर्मफलेन महता दुःखेन सीदति ॥

भा०–चतुर्विधाः पञ्चविधा वा ब्राह्मणपदवाच्याः सम्भवन्ति। विदुषे सदाचारिणे ब्रह्मयज्ञादिकर्मनिष्ठाय सुपात्राय दानं देयमिति सर्वत्र दानविधिः। तत्र यः सर्वथैव दानं नादत्ते सउत्तमतमः। यतो दानस्वीकारेण तस्यात्मनि लज्जा संकोचादिकं च प्रविश्य धर्म्यकर्मोत्साहं न बाधते। यश्च कदाचित्प्रयोजनाधिक्येन दानमादायापि प्रकृष्टज्ञानेन तपआदिना च प्रतिग्रहजन्यां मानसग्लानिं नाशयति स प्रथमादवकृष्टोऽपि धर्मस्य प्राधान्यादुत्तमएव। यस्तु शास्त्रमर्यादां जानन्नपि लोभाधिक्येन धनार्जनमेव परं मन्यमानः श्रीमतो यथाकथमपि चातुर्य्यादिना प्रसादयति केनापि भाष्यादिकृत्यमिषेण धनमादत्ते स ब्रह्मकुले जातोऽपि लोकैः पण्डितो ब्राह्मणइत्युच्यमानोऽपि नासौ शास्त्रतो ब्राह्मणोऽपितु वैश्यस्तृतीयः। यस्तु संस्कृतविद्याशून्योऽधीतक्षुद्रग्रन्थो लज्जादिहीनः पौरोहित्याभासकर्मणा सर्वदा सर्वेभ्यो ...र्वतआदातुं प्रवर्त्तते स चतुर्थोऽधमः। यस्तु सर्वथा निरक्षरः पण्डादिनामको दातारं प्रपीड्याप्यादत्ते तेन च

नर्त्तनमद्यमांसादिषु प्रवर्त्तते सोऽधमतमः। हिरण्यं तै सौम्यस्य मनसो प्रमादभोगासक्त्यादिना बाधकमन्नं पार्थिवं तमःप्रधानमायुषो बाधकं तमोरूपस्य मृत्योः स यकमेव च। गौर्भूश्चादीयमाना स्वस्योपादेयं निस्सारं करोति अश्वः सूर्यतत्त्वप्रधानश्चक्षुश्च,संवरणरूपं वासस्त्वक् च, सारः शारीरं तेजश्च सारएव, तिलाश्च प्रजननशक्तिवर्द्धक सजातीयानीमान्यादीयमानानि स्वस्याल्पं निर्बलं सजाती बाधन्ते। यादृशं प्रवाहेणाल्पं बहु वा यस्य वस्तुनो दातारो ददति तादृशमेव तत्सम्बद्धं सुखमिहामुत्र वा लभन्ते। येभ्यश्च ददति तेषां च तादृशमेव तत्सम्बद्धं सु मपिहीयते। तस्माद्दानस्य ग्रहणेच्छा विज्ञेन ब्राह्मणेन ह्मत्वरक्षणतत्परेण हेयैव ॥ १९१ ॥

भाषार्थः–(प्रतिग्रहसमर्थोऽपि) विद्या, तप, सदाचार–अच्छे शुद्ध धर्म में युक्त रहने से शास्त्रानुसार दान लेने योग्य भी गृहस्थ ब्राह्मण (तत्र वर्जयेत्) दान लेने के अधिक लालच और तत्परता को त्यागे, दान लेने में को न लगाये रहे (प्रतिग्रहेण ह्यस्य ब्राह्मं तेज आशु प्रशाम्यति) क्योंकि लेने में फसने से इस का ब्रह्म तेज शीघ्र ही घट जाता अर्थात् हृदय में वाले संकोच वा लज्जा से आत्मा में तुच्छता दीनता आती है इसी से के ऊपर भी लज्जा संकोच झलक आते हैं। द्वितीय यदि अपना धर्मानुकूल मान के कभी २ लेवे भी तो (प्रतिग्रहे द्रव्याणां धर्म्यं विधिमविज्ञाय) दा में जिन धनादि वस्तुओं का दान लेना हो उन को जब तक दाता ने धर्मा अपने परिश्रम से उपार्जन किये न जान ले तब तक (क्षुधाऽवसीदन्नपि प्रा भूख से पीडित दुःखित रहता हुआ भी विद्वान् ब्राह्मण (प्रतिग्रहं न कुर्या दान कदापि न लेवे (हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान् घृतम्) सुवर्ण मि, घोड़ा, गौ, अन्न, वस्त्र, तिल और घृत इन अधर्म से संचित वस्तुओं का तिगृह्णन्नविद्वांस्तु) अधिक दान लेनेवाला तप और सदाचार से युक्त भी

विद्वान् ब्राह्मण तो (दारुवद् भस्मीभवति) लकड़ी के समान भस्म निस्तेज दाताओं का प्रशंसक [खुशामदी] ब्रह्मत्व शून्य हो जाता है । अर्थात् विद्वान् न्यून भस्म होता है । मूर्ख ब्राह्मण तो दान में फसजाने पर खुलकर दाता के समक्ष बलपूर्वक धर्म की कोई भी बात नहीं कहसकता । पर विद्वान् के चित्त में धर्म का अङ्कुर हो तो उसका आत्मा इतना अधिक संकुचित नहीं होता (हिरण्यमायुरन्नं च) सुवर्ण और अन्न का दानलेना आयु को (भूर्गौश्चापि तनुमोषतः) भूमि और गौ का दान शरीर को (अश्वश्चक्षुः) घोड़े का दान चक्षु को (वासस्त्वचम्) वस्त्र का दान त्वचा को (घृतं तेजः) घी तेज को और (तिलाः प्रजाः) तिलों का दान प्रजा को घटाता वा धीरे २ शक्ति को क्षीण करता है अर्थात् सुवर्णादि सम्बन्धी भोगों में अधिक आसक्त रहने से अधिक जीवन के हेतु जपतपादि धर्म कर्म से शून्य हो कर शीघ्र मरता है (अतपा अनधीयानस्तु प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः) जो शुभ कर्मानुष्ठानरूप तप और वेदाध्ययन दोनों से रहित नाममात्र का ब्राह्मण दान लेने का लालची हो तो वह (अश्मप्लवेनाम्भसीव) पत्थर की नौका पर चढ़ के जलाशय में तरने वाले के तुल्य (तेनैव सह मज्जति) उसी दान भोग के साथ अधर्मरूप जल में डूबजाता है [प्रयागादि तीर्थ के पण्डादि के समान] धर्म विषय वा धर्मकार्य में वैसे मनुष्य की छाया भी नहीं दीखती तस्माद्विद्वान् यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहाद्बिभियात्) इससे सदा सन्ध्योपासनादि द्वारा थोड़े भी ब्राह्मणपन को अपने में रखना चाहता हुआ अविद्वान् ब्राह्मण जिस तिस दान के लेने से डरता रहे (हि) जिसकारण (अविद्वान् स्वल्पकेनापि) आत्मिक ज्ञानशक्ति न होने पर अविद्वान् ब्राह्मण थोड़ा दान लेने से भी (पङ्के गौरिव सीदति) कीचड़ में बैल के समान फसके दुःख भोगता है । अर्थात् ज्ञानादि से पुष्ट हृदयवाला चाहे तो प्रायश्चित्त जपतपादि उपायों से दानके संकोचादिरूप दोष को निवृत्त भी करसकता है पर अज्ञानी बालकके समान असमर्थ होने से बचने का उपाय भी नहीं करसकता किन्तु दुःख ही भोगा करता है ॥

भा०—चार वा पांच प्रकार के ब्राह्मण कहे जासकते हैं । ब्रह्मयज्ञादि साङ्गोपाङ्ग धर्मकर्म में तत्पर सदाचारी सुपात्र वेदवेत्ता विद्वान् ब्राह्मण को दान देना चाहिये यही सर्वत्र विधान कियाजाता है। उन में जो पूर्ण धर्मात्मा तपस्वी वे[illegible] शुद्धाचरणी होने पर भी सभी प्रकार दान लेने से बचने की चेष्टा करता है वह उत्तम में भी उत्तम है क्योंकि दान को स्वीकार करने से उस के आत्मा में लज्जा संकोचादि प्रविष्ट हो के धर्म के उत्साह का भङ्ग नहीं करते । और जो

कभी २ प्रयोजन की अधिकता से निर्वाह के लिये दान ले २ कर भी प्रबल इ
और तप आदि से दान लेनेद्वारा होने वाली मनकी लघुता तुच्छता मलिन
वा ग्लानि को नष्ट करदेता है वह पहिले से निकृष्ट हुआ भी अधर्म की प्र
नता से उत्तम ही मानाजायगा। तृतीय जो शास्त्र की मर्यादा को कथमपि जा
नता हुआ भी लोभ लालच की अधिक प्रबलता से धन का संग्रह करनाही प
कर्त्तव्य–मुक्तिवत् मानता हुआ जिस किसी प्रकार अपनी चतुरतादि से
श्रीमानों को प्रसन्न करता और किसी पर भाष्यादि करने के वहाने से धन
है वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ भी लोकचाल के अनुसार पण्डित ब्राह्मण
हाता हुआ भी शास्त्रानुसार ब्राह्मण वा विद्वान् नहीं है किन्तु नीच वा
माना जायगा। और जो संस्कृत विद्या से शून्य, क्षुद्रग्रन्थ वा भाषा मात्र
लज्जादि को त्याग के पुरोहिताई के नाम से सब काल में सब प्रकार
दान लेने में तत्पर रहता वह चौथा अधम है। और जो सर्वथा ही नि
पण्डादि नाम धारी दाताओं को तङ्ग कर २ पीछे पड़ २ के दान लेता और
सके सहारे से मद्य मांस वेश्या नृत्यादि करता कराता है वह मनुष्यों में अ
के समान ब्राह्मणों में अत्यन्त अधम महानीच है। सुवर्ण तैजस होने से सोम
प्रधान मानस शक्ति का प्रमादक भोगासक्त्यादि द्वारा नाशक, अन्न, तमो
प्रधान पार्थिव हो ने से आयु का नाशक और तमोगुणरूप मृत्यु का सहाय
है। इसी कारण अधिक खाने से तमोगुण बढ़ता है। गौ और पृथिवी म
देह के उपादान कारण हैं। उन की अधिकता उपादेय शरीर को निःसार
रने वाली है। घोड़ा और चक्षु दोनों सूर्य तत्त्व प्रधान हैं और वस्त्र तथा
ढ़ांपने वाले हैं, घृत दुग्ध का सार और शरीर का सार–ओज–तेज कहाता है
और गर्भाधान शक्ति को बढ़ाने वाले तिल हैं। चक्षु आदि के सजातीय ये घोड़ा
दान में लिये हुए अपने चक्षु आदि निर्बल सजातियों को सदा ही दबाते निर्
करते हैं। प्रयोजन यह कि दाता लोग जिस वस्तु का जैसा न्यूनाधिक
प्रवाह से–वार २ देते हैं वैसा ही न्यूनाधिक उन २ वस्तुओं सम्बन्धी सुख
और जिन को देते हैं उन का उसी २ वस्तु सम्बन्धी वैसा २ न्यूनाधिक
क्षीण होता है। उस में भी दाता ने अधर्म से प्राप्त किये धनादि का दान लेना
की अधिक तर हानि का कारण होता है। इस लिये विचारशील ब्राह्मण
चाहिये कि अपने ब्रह्मत्व की रक्षा करना चाहता हुआ दान लेने की अधि
तृष्णा का सदा त्यागही करता रहे ॥ १९१ ॥

नवार्यपिप्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिकेद्विजे ।
नवकव्रतिकेविप्रे नावेदविदिधर्मवित् ॥
त्रिष्वप्येतेषुदत्तंहि विधिनाऽप्यर्जितंधनम् ।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेवच ॥
यथाप्लवेनौपलेन निमज्जत्युदकेतरन् ।
तथानिमज्जतोऽधस्ता दज्ञौदातृप्रतीच्छकौ ॥
धर्मध्वजीसदालुब्धश्छाद्मिकोलोकदम्भकः ।
बैडालव्रतिकोज्ञेयो हिंस्रःसर्वाभिसन्धकः ॥
[यस्यधर्मध्वजोनित्यं सुरध्वजइवोच्छ्रितः ।
प्रच्छन्नानिचपापानि वैडालंनामतद्व्रतम् ॥]
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठोमिथ्याविनीतश्च वकव्रतचरोद्विजः ॥
येवकव्रतिनोविप्रा येचमार्जारलिङ्गिनः ।
तेपतन्त्यन्धतामिस्रे तेनपापेनकर्मणा ॥
नधर्मस्यापदेशेन पापंकृत्वाव्रतंचरेत् ।
व्रतेनपापंप्रच्छाद्य कुर्वन्स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥
प्रेत्येहचेदृशाविप्रा गर्ह्यन्तेब्रह्मवादिभिः ।
छद्मनाचरितंयच्च व्रतंरक्षांसिगच्छति ॥
अलिङ्गीलिङ्गिवेषेण योवृत्तिमुपजीवति ।
सलिङ्गिनांहरत्येन स्तिर्यग्योनौचजायते ॥२००॥

अ०-बिडालानां व्रतं नियमो यदुपरिष्टान्मार्दवाचरणे मूषिकादीनाम्वास्य स्वस्यातिकुटिलं परस्य नाशकरं स्वार्थसाधनपरं भावं प्रच्छाद्य विचरणं, तेन चरतीति बैडालव्रतिकः। चरतीति ठक्। स्वार्थसाधनाय सर्वेन्द्रियाणां संयमः समादधतो योगिनइव स्वार्थविघ्नभिया मौनावलम्बनादिकं वकानां व्रतं तदस्यास्तीति वकव्रतिकः, मत्वर्थीयष्ठन् प्रत्ययः। वेदवित्प्राप्तावबेदविदे दानप्रतिषेधः। दानधर्मस्य यच्छुभं फलं न तदेषु निष्पद्यतइदमेवानर्थक्यम्। दात्रा विद्याधर्मादिशुभगुणेषूत्कृष्टस्य महात्मनः सेवासत्सङ्गादिना स्वयमुत्कृष्टेन शुद्धविचारवता विद्याधर्ममित्रेण भाव्यमिति बोधो दानधर्मस्य ज्ञानं, प्रतिगृहीत्रा च दातुर्धनादिना सह येन धर्ममनुष्ठाय द्वयोः कल्याणं सदैवानुचिन्त्यमेतच्च द्वयं यौ न जानीतस्तावज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ तेन कर्मणा कस्यापि सुखोन्नतिमकृत्वा तीर्थाभासकाकवद्दुःखोदधौ मज्जतः। यस्तत्रैव तदेव वा धर्म्यं कर्म समारोहेण करोति यत्र यद्वाऽन्ये स्फुटं दूरात् पश्येयुः। कृत्वा च स्वयमन्यैश्च सहयोगिभिराधिक्येन ख्यापयितुं सर्वोपायेण प्रवर्त्तते स धर्मध्वजी, सदा पुष्कलधनादिप्राप्तावपि तृष्णापरिप्लुतः, छद्मना व्याजेन विचरति नतु स्वस्यान्तःकरणस्थं गुप्तं भावं कुत्रापि प्रकाशयति सर्वत्र सत्याभासेनाच्छादितछलेनैव कार्यं साधयति। सतामिव विनीतवेषधारणेन सत्त्वविश्वासकः सन् लोकान् जनान् दम्भयति निःक्षेपापहरणादिना वञ्चयति। स्वार्थसाधनाय परस्मै दुःखदाने निर्दयो हिंस्रः। सर्वाभिसन्धकः सर्वैः

वोत्तममध्यमनिकृष्टैः स्वार्थसिद्धयेऽभिसन्धिं करोति तेषुतेषु तत्तद्रूपेणैवाभासते येन सर्वेभ्यः कार्यविघातो नो न स्यादिति। एवंभूतः पुरुषो वैडालव्रतिको ज्ञेयः। अत्रैवैकं पद्यं कुत्रचिदुपलभ्यमानमस्ति—"यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुरध्वजइवोच्छ्रितः। प्रच्छन्नानि च पापानि वैडालं नाम तद्व्रतम् ॥" करुणाकालेऽपि यो न द्रवीभवति यउपरिष्टान्मृदुरपि हृदयेन यथा क्षुरः स निष्कृत्या निष्ठुरतया चरतीति नैष्कृतिकः, शठः कुटिलमतिः,मिथ्याविनीतो वाचा देहेन च विनयमेव सर्वान् दर्शयति मनसा चाविनीतएव सर्वत्र चरति। केचित्पापिनः कानिचिन्महान्ति पापानि कृत्वा तज्जन्यापवादप्रच्छादनाय किमपि धर्म्यं कर्म प्रख्यापनपुरस्सरमारभन्ते यस्मिंस्तत्परान् दृष्ट्वा पापदर्शकस्य विश्वासं न कुर्युरन्ये श्रोतारइति मत्या क्रियमाणोऽपि धर्मः प्राज्ञैर्विज्ञायतएवाधर्मनिष्ठएवायमिति। स्त्रीशूद्रादयो मूर्खाएव गुप्तं वृत्तमविदित्वा यस्य प्रशंसां कुर्वन्ति सोऽपि धर्मध्वज्येवेति। छद्मनाचरितं वृतमपि पापकोटिस्थमधःपातकमेव तस्मिंश्च रक्षस्त्वमायात्येवेति। ब्राह्मणब्रह्मचार्यादीनां यानि लिङ्गानि तानि योऽन्यो लुब्धः पापो धृत्वा लिङ्गैरुपजीवति लिङ्गिषु पापिष्ठा यां गतिं यान्ति स तामेव दुष्कर्मसाम्याद्गच्छति ततोऽप्याधिक्येन तिर्यग्योनौ श्वशृगालादियोनावपि जायते ॥

भा०—दानधर्मौ धर्ममत्या यत्र सेव्यते तत्रायं सर्वो विचारो योज्यो यत्र तु कोऽपि धर्मध्वज्यादिजनं महता क्षुधादिज-

न्यदुःखेन पीडितं पश्यन् दयालुतया किमप्यन्नादिकं दा-
मिच्छेत्तत्र नायं प्रतिषेधो योज्यः । दानधर्मस्य यादृशपरि-
णामेन भाव्यं तदपेक्षया तेषु नैरर्थक्यमिव पश्यता धर्मशा-
स्त्रकृता प्रतिषेधोऽयमारब्धो नतु हिंसाद्यधर्मेण सहास्य
पात्रेभ्यो दानस्य साम्यं केनापि विज्ञातुं युक्तमिति । सर्वे-
षामेव धर्म्यकर्मणामिष्टाप्तिरनिष्टहानिश्च प्रयोजनमिति सा-
मान्येनोद्देशः । कुपात्रेभ्यो दानेन तत्प्रयोजनं किंचिज्ज्ञा-
मानमपीयन्न्यूनं निष्पद्यते यस्य साफल्यकोटौ परिगण-
कर्त्तुं न केनापि शक्यते । यश्च न किमपि कस्मादपि
दापि कियदपि दानं कर्तुमुत्सहते नच किमपि दातुं सुयो-
ग्यानन्विच्छति कुपात्रदानस्य खण्डनमात्रमेव करोति । त-
दपेक्षया योग्यायोग्ययोरविवेकेनापि यो दातुं प्रवर्त्तते
निकृष्टतामसदानकर्मणः कर्त्ताऽपि कथमपि शुभफलेनैव
ज्यते । निमज्जनं तु तस्योत्कृष्टदशाऽप्राप्तिरेव मन्तव्यम् ।
वकवृत्यादिर्विप्रो दात्रपेक्षयाऽऽधिक्येन पापिष्ठो योऽन्ये-
दातॄणामृणभारं कृत्वा कमपि धर्ममसेवमानोऽधर्ममेव स्व-
नरकहेतुकं संचिनोति । तस्माद् ये ब्राह्मणाः शुभां गतिमि-
च्छन्ति तैर्वकवृतादयो दोषा हेया अन्यदातॄणां धनस्यादा-
तृष्णापि त्याज्या शुभाचरणसन्तोषाभ्यां च स्वस्य निर्वाह
सदैव कार्यइत्यलम् ॥ २०० ॥

भाषार्थः–(न वैडालव्रतिके द्विजे) विडालकीसी वृत्ति रखने वाले [अर्था-
ऊपर से विनय के साथ कोमल वर्त्ताव से मूषे आदि जन्तुओं को विश्वास दिला-
कर और स्वार्थसाधन में तत्पर अन्य का समूल नाश करने वाले अपने आ-
कुटिल भीतरी भाव को ऊपरी विनीताचरण के लिफाफा से ढांपकर विचर-

वृत्ति भाव से जो संसार में कार्य साधनार्थ विचरता है उस] ब्राह्मण को (न वक-व्रतिके विप्रे) वगुला कासा ध्यान लगा के स्वार्थसिद्धि और परहानि करने वाले [अर्थात् सब इन्द्रियों को वशीभूत करके सत्य को जानता हुआ भी स्वार्थ में विघ्न होने के भय से मौन धारण किये वक व्रतधारी] तथा (नावेदविदि धर्म-वित् वार्यपि प्रयच्छेत्तु) वेद को न जानने वाले ब्राह्मण को धर्मज्ञ पुरुष जलमात्र भी न देवे अर्थात् उक्त तीनों का जल से भी सत्कार न करे। पर उक्त दोनों की अपेक्षा वेद को न जानने वाला अच्छा है इसी कारण अन्त में पढा गया अर्थात् पढ़े अधर्मी दुष्ट की अपेक्षा धर्माधर्म से रहित मूर्ख भी अच्छा है सो वेदज्ञ की प्राप्ति में उस का निषेध जानो किन्तु अप्राप्ति में नहीं। दान धर्म का जो फल होना चाहिये वह इन तीनों में नहीं होता यही दान की अनर्थकता है (वि-धिनाप्यर्जितं धनं त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि) धर्मानुकूल उपार्जन किया हुआ भी धन इन उक्त तीनों को दान में दिया हो तो (दातुरनर्थाय भवति) दाता का दान व्यर्थ निष्फल हो जाता वा इतना कम फल होता जिस को अच्छा फल होना ही न माना जावे (परत्रादातुरेव च) और जन्मान्तर में दान लेने वाले को भी अनिष्ट का हेतु वह दान होता है (यथौपलेन प्लवेनोदके तरन् निमज्जति) जैसे पत्थर की नौका पर चढ़ के जलाशय के पार होने का उद्योग करता हुआ पुरुष जलाशय में डूबता है (तथाऽज्ञौ दातृप्रतीच्छकावधस्तान्निमज्जतः) वैसे अ-ज्ञानी दाता और ग्रहीता नीचे को ही डूबते हैं [अर्थात् विद्याधर्मादि शुभ गुणों में जो ठीक २ तत्पर हो ऐसे धर्मनिष्ठ महात्मा पुरुष की दान के द्वारा सेवा स-त्सङ्ग करके दाता को चाहिये कि मैं विद्या और धर्म के साथ प्रीति करके शुद्ध विचारों से भूषित उच्च बनूं कीचड़ से निकलूं और धर्मात्मा विद्वान् की सेवा से ही विद्या और धर्म के साथ मेल वा प्रीति हो सकती है, ऐसा बोध होना दा-ता को दानधर्म का ज्ञान कहावेगा। और शुद्ध धर्मानुकूल परिश्रम से उपार्जन किये दाता के दान की सहायता से धर्म करके अपना और दाता पुरुष का दो-नों का कल्याण मैं करूं वा कर सकता हूं यदि मैं अपने निर्वाह की चिन्ता में लगा रहूंगा तो धर्म नहीं करसकता और धनी दाता धर्म का मर्म न जानने से नहीं कर सकता ऐसा ज्ञान दान लेने वाले को होना चाहिये। यदि इस अंश को दोनों नहीं जानते तो अज्ञानी हैं उन का देना लेना निरर्थक हानि कारक हो-ता है] (धर्मध्वजी) जो पुरुष वहीं वा उसी धर्म को बड़े समारोह के साथ दि-खाने के लिये उत्तेजना से करता है जिस को वा जहां सब लोग स्पष्ट देख स-

कते हों और उस काम को करके स्वयं तथा अन्य अपने सेलियों के द्वारा धिकता से सब उपायों करके सेर भर का मनभर छपाने आदि काम से प्र करता कराता है वह धर्मध्वजी (सदा लुब्धः) बहुतसा पुष्कल धन प्राप्त हो पर भी अगाधतृष्णा से लोभ दिखाने वाला (छाद्मिकः) जो अपने भीतरी के गुप्त भाव को कहीं प्रकाशित नहीं करता किन्तु सर्वत्र कोमल सत्याभास ढांपे हुए छल से ही कार्य सिद्ध करता है वह छद्म नाम छल के साथ वर्त्त रहने से छाद्मिक कहाता (लोकदम्भकः) श्रेष्ठ लोगों कासा विनीत वेष धा करके अपने अच्छे होने का विश्वास दिलाता हुआ धरोहर आदि धन मा के द्वारा लोगों को ठगता है (हिंस्रः) स्वार्थ सिद्ध करने के लिये अन्य को दुः देने में निर्दय क्रूर (सर्वाभिसन्धकः) और जो सब उत्तम मध्यम नीचों के स्वार्थ सिद्धि के लिये मेल बढ़ाता और उन २ में उसी २ रूप से प्रतीत होता कारण किसी से भी स्वार्थ की सिद्धि हानि न हो परन्तु धर्मात्माओं से द्वे और विरोध भी करता है (वैडालव्रतिको ज्ञेयः) ऐसे ब्राह्मण को विलाड़ का धारी वैडालव्रतिक जानो । यहीं एक श्लोक किसी २ पुस्तक में अधिक मि ता है (यस्य धर्म०) जिस के धर्म की ध्वजा देवध्वजा के समान ऊंची रहे जिस के पाप गुप्त हों-चतुराई से बड़े २ पापों को गुप्त रखता हो यही वि ड़ कासा व्रत है। (अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः) बनावटी शान्ति धारण कर नीचे देखता, दया करने के समय भी जो नहीं पिघलता-ऊपर से कोमलता दिख हुआ भी हृदय में क्षुरा कीसी धार रखता अन्य के हित को काटने का पूर्ण वसायी (शठो मिथ्याविनीतश्च) वाणी और शरीर से मिथ्या कोमलता दिख हुआ भी भीतर से कठोर कुटिल मति (स्वार्थसाधनतत्परः) ऐसा स्वार्थ सा में तत्पर (द्विजो वकव्रतचरः) ब्राह्मण वक का व्रत करने वाला कहाता है। विप्रा वकव्रतिनो ये च मार्जारलिङ्गिनः) जो ब्राह्मण परधन हरणादि द्वा स्वार्थ साधन के लिये बगुला वा बिल्ली कासा आचरण करने वाले हैं (ते पापेन कर्मणाऽन्धतामिस्रे पतन्ति) वे उस पाप कर्म की प्रबलता से अन्धतामि नरक में पड़ते हैं। कोई पापी लोग किन्हीं बड़े २ पापों को करके उन से हो वाली बुराई को ढांपने के लिये प्रसिद्ध करते हुए किसी धर्म कार्य को आरम्भ क ते हैं कि जिस काम में तत्पर देख के पाप को देखने जानने वाले का विश्वास ब ला लोग न करें। पर ऐसे विचार से धर्म करते हुए को भी विचारशील परि लोग जान लेते हैं कि यह अधर्मी है और उन्हीं के कहे का जगत् में विश्वास अधि

होता है इस लिये अपनी प्रतिष्ठा चाहनेवाले ब्राह्मण को चाहिये कि (व्रतेन पापं प्रच्छाद्य) अच्छे काम से पाप को ढांप कर (स्त्रीशूद्रदम्भनं कुर्वन्) स्त्री और शूद्रादि मूर्खों को ठगता उन से प्रशंसा कराता हुआ (धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं न चरेत्) पाप करके इस प्रकार धर्म के वहाने से चान्द्रायणादि व्रत न करे ऐसा करने से धर्मात्मा नहीं बन सकेगा किन्तु ऐसे काम से भी सब धर्मध्वजी जान लेंगे (ईदृशा विप्रा प्रेत्य चेह च ब्रह्मवादिभिर्गर्ह्यन्ते) ऐसे दुष्ट धूर्त्त लिफाफामात्र ऊपर से अच्छे बने कोमलभाषी, हृदय से प्रबल कामी वा लोभी लम्पट ब्राह्मण जीवित रहते वा मरणानन्तर धर्मज्ञ वेदवेत्ताओं में निन्दा पाते हैं (छद्मना चरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति) और छल से जिस धर्म को करते हैं वह पाप कोटिस्थ हुआ उनको राक्षस नीच बनाने वाला हो जाता है (लिङ्गिवेषेण योऽलिङ्गी वृत्तिमुपजीवति) ब्रह्मचारी संन्यासी आदि कासा वेष धारण करके जो पुरुष जीविका करता है (स लिङ्गिनामेनो हरति) वह संन्यासी आदि वेषधारी पाप करने वालोंके समान अपराध भागी होता और (तिर्यग्योनौ च जायते) इस से भी अधिक कुत्ता वा शृगालादि तिर्यग्योनियों में जन्म लेकर आगे २ दुर्दशा भोगता है। इसी प्रकार विद्या और धर्म की नकल अधर्मी के लिये अधर्म रूप ही हो जाती है ॥

भा०—जहां धर्म बुद्धि से दान धर्म का सेवन किया जाता है वहीं यह सब विचार लगाना चाहिये कि ऐसे २ को दान नहीं देवे। और जहां कोई दाता पुरुष धर्मध्वजी आदि मनुष्य को क्षुधादि द्वारा होने वाले महान् दुःख से अति पीडित देखता हुआ दया दृष्टि से कुछ अन्नादि देना चाहे वहां यह निषेध नहीं लगाना चाहिये। क्योंकि वहां दया न करने से निर्दयता आवेगी। दया की रक्षा करना भी एक धर्मांश ही है। दान धर्म का जैसा अन्तिम फल होना चाहिये उस की अपेक्षा से उन धर्मध्वजयादि में निरर्थकता देखते हुए धर्मशास्त्रकार ने ऐसों को दान देने का निषेध किया है किन्तु हिंसादि अधर्म के साथ इन कुपात्रों को दान देने की समता किसी को नहीं मान लेनी चाहिये अर्थात् हिंसा चोरी व्यभिचारादि अधर्म के तुल्य कुपात्रों को दान देना कोई पाप नहीं है। क्योंकि धर्मानुकूल सब कामों का सामान्य प्रयोजन वा उद्देश यही है कि इष्ट सुख की प्राप्ति और अनिष्ट की हानि हो सो कुपात्रों के दान से वह प्रयोजन कुछ सिद्ध होता भी है तो इतना कम होता है जिस होने को सफल होने की कोटि में कोई नहीं गिन सकता। यही कुपात्र को दिये दान की निरर्थक-

ता कहने का अभिप्राय जानो । परन्तु जो पुरुष कभी किसी अच्छे वा बुरे कितना भी कुछ भी नहीं देता वा न कुछ दान देने के योग्य सुपात्रों का खोज करता है किन्तु केवल कुपात्रों को दान देने का खण्डन मात्र करता है की अपेक्षा से तो योग्य अयोग्य का विवेक न करके भी जो पुरुष दान देने प्रवृत्त होता वह निकृष्ट तमोगुणी दान करने वाला भी कुछ २ शुभ फल का गी होता ही है । और उस का डूबना यही है कि जो धर्मज्ञ विद्वानों के सेवन द्वारा उत्तम दशा को प्राप्त नहीं हो पाता । तथा वकव्रती आदि दाताओं की अपेक्षा अधिक पापी होता कि दाताओं के ऋण का भार ऊपर करके किसी धर्म का सेवन न करता हुआ अपने लिये नरक के हेतु में का ही संचय करता है । इस से जो ब्राह्मण लोग अपनी शुभ गति चाहते उन को वगुलावृत्ति और धन बटोरने की अपारतृष्णा को छोड़ना और धर्मानुकूल शुद्ध आचरण तथा सन्तोष के साथ अपना निर्वाह करना चाहिये ॥

परकीयनिपानेषु नस्नायाच्चकदाचन ।
निपानकर्त्तुःस्नात्वातु दुष्कृतांशेनलिप्यते ॥

[सप्तोद्धृत्यततःपिण्डान् कामंस्नायाच्चपञ्चवा ।
उदपानात्स्वयंग्राहाद्बहिः स्नात्वानदुष्यति ॥]

यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणिच ।
अदत्तान्युपभुञ्जान एनसःस्यात्तुरीयभाक् ॥
नदीषुदेवखातेषु तडागेषुसरस्सुच ।
स्नानंसमाचरेन्नित्यं गर्त्तप्रस्रवणेषुच ॥२०३॥

अ०-अन्यैर्यन्निपानं वाप्यादिकं स्वार्थमेव खानितं त न स्नायात् । निपानकर्त्तरि यादृशं दुष्कृतं तादृशदोषेण स्ना ता लिप्यते । वस्तुतस्तु निपानकर्त्रा कलहवैमनस्यादि अत्रैव सप्तोद्धृत्येत्याद्येकं पद्यं क्वचिदधिकमुपलभ्यते

न्यस्य परस्य यानादीनि स्वस्मादत्तान्युपभुञ्जानस्तदीयपापस्य चतुर्थांशभागी भवति । सति सम्भवे सन्निहितेषु शुद्धोदकेषु च सत्सु देवखातादिष्वेव स्नातको नित्यं स्नायान्नतु कूपे ऽल्पोदकेनेति ॥

भा०-गृहस्थेन स्वस्य स्नानादिकर्मणाप्यन्यस्यानुपकारो दुःखं वा न स्यात्तथाऽनुष्ठेयम् । अन्यदीययानादीनां चौर्येण स्वीयकरणापेक्षयात्र तुर्यांशं पापम् । अन्यदीयवस्तुना तदाज्ञामन्तरेण स्वकार्यनिस्सारणमप्येकविधं स्तेयमेव । यत्र रविरश्मयः स्पृशन्ति तदुदकं कूपाद्यपेक्षया शुद्धं शुभगुणकरं चेत्यायुर्वेदिनां मतम् । तस्मादेव देवखातादिषु स्नानमुचितम् ॥२०३॥

भाषार्थः-(च) और (परकीयनिपानेषु) अन्य किसी ने वाउली तलाव आदि जलाशय अपने कार्यार्थ बनाये हों वा जिन जलाशयों में स्नान करने की मनाई हो उन में (कदाचन न स्नायात्) कदापि स्नान न करे (स्नात्वातु) उस में स्नान करने से (निपानकर्त्तुर्दुष्कृतांशेन लिप्यते) जलाशय बनवानेवाले के क्रोधादि पापांश से लिप्त होता है अर्थात् जलमें आया रोग दोष लगता और लड़ाई झगड़ा होने से द्वेषादि दोष लगता है । इसी के आगे (सप्तोद्धृत्य०) इत्यादि एक श्लोक किसी २ पुस्तक में अधिक लिखा मिलता है जिसका अर्थ-[यदि अन्य के जलाशय में किसी कारण स्नान करना ही चाहे तो सात वा पांच पिण्ड मट्टी निकाल के और उसमें से अलग जल भर के बाहर भलेही स्नान करलेवे] पर इसपर टीका किसी का नहीं इसकारण किसी २ पुस्तक वाले ने ऊपर से लिखलिया होगा । (अस्य यानशय्यासनानि कूपोद्यानगृहाणि च) अन्य किसी के सवारी, खटिया, आसन-कुर्सी चौकी आदि, कुआ, बाग और घरों को (अदत्तानि) विना मांगे वा विना आज्ञा लिये (उपभुञ्जानः) अपने काम में लाता हुआ (एनसस्तुरीयभाक् स्यात्) स्वामी के वा चोरी के अपराध में से चतुर्थांश का भागी होता है । अर्थात् चोरी करने वाले से चतुर्थांश न्यून जिसपर यानादि के स्वामी का क्रोध होगा (नदीषु देवखातेषु) नदियों वा अन्य किन पृथिवी आदि की स्वाभाविक प्रवृत्ति से बने बड़े २ जलाशयों (तडागेषु स-

रस्सु च) तलावों झीलों सरोवरों (गर्त्तप्रस्रवणेषु च) और गहरे झरनों में (नि-
त्यं स्नानं समाचारेत्) नित्य ही स्नान करे किन्तु बड़े २ शुद्ध निर्दोष जलाशय
के निकट होने पर कुवे से निकाले थोड़े जल से न नहावे ॥

भा०—गृहस्थ के स्नानादि कर्म से भी अन्य को अनुपकार वा दुःख न पहुंचे
सा काम सदा करे। अन्य के यानादि को चुराके अपने बनालेने की अपेक्षा
में चतुर्थांश पाप कहा है। अन्य के वस्तु से उसकी आज्ञालिये विना अपना
निकालना भी एक प्रकार की चोरी ही है इसी कारण स्तेय का चतुर्थांश
राध कहा जानो। जिस जल में सूर्य के किरण पड़ते स्पर्श करते हैं वह जल
पादि गुप्त रहनेवाले जल की अपेक्षा शुद्ध और शुभगुण युक्त होता है यह आयु
का मत सुश्रुत के सूत्रस्थानस्थ जलवर्ग में लिखा है इसी कारण देवखातादि
स्नान करना उचित-वा लाभकारी है ॥ २०३ ॥

यमान्सेवेतसततं ननित्यंनियमान्बुधः। यमा-
न्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥२०४॥

[आनृशंस्यंक्षमासत्य महिंसादममस्पृहा।
ध्यानंप्रसादोमाधुर्य मार्जवंचयमादश ॥
अहिंसासत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्पता।
अस्तेयमितिपञ्चैते यमाश्चोपव्रतानिच ॥
शौचमिज्यातपोदानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहो।
व्रतोपवासौमौनंच स्नानंचनियमादश ॥
अक्रोधोगुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्।
अप्रमादश्चनियमाः पञ्चैवोपव्रतानिच ॥]

अ०—गृहस्थोऽहिंसादीन्यमान्सर्वदा नित्यमेव सेवेत शौचा-
दिनियमांस्तु रोगादिविघ्नाभावएव सेवेत। स्वपुत्रादिरक्षणा-
धनादावसति विशिष्टं सन्तोषमकृत्वा धनमप्युपार्जयेत्। यम-
रहितकेवलनियमसेवनेन धर्मस्य प्रधानांशात्पतति ॥

भा० अत्र चत्वारि पद्यानि केषुचिदेव पुस्तकेषु दृश्यन्ते तेषां विशिष्टोऽर्थः प्राकृते द्रष्टव्यः । याज्ञवल्क्यस्मृतौ तु-
"ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्ध्यानं सत्यमकल्कता । अहिंसा स्तेयमाधुर्यं दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥ स्नानं मौनोपवासेज्या-स्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः । नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाऽप्रमादता ॥" धर्मांशेषु यमानां नियमापेक्षया प्राधान्यम् । गृहस्थस्य ब्रह्मचर्यं पर्वतिथिष्वनृतौ गर्भकाले च स्त्रीवर्जनं वेदाभ्यासश्च तत्तु सदा नियमेनैवानुष्ठेयम् । नियमेषूपस्थनिग्रहपरिगणनं सर्वकालार्थं तच्च गृहस्थेन न कार्यम् । सर्वथैव फलाधिक्यादिना यमसेवने नित्यविधिः । रोगादिकाले नियमसेवनासम्भवाच्च नियमेषु विकल्पः । स्वस्थेन तु यमान् प्रधानीकृत्य नियमा अपि यथासम्भवं सेव्याएव॥

भाषार्थः-(बुधो यमान्सततं सेवेत) विचारशील बुद्धिमान् विद्वान् अहिंसादि यमों का निरन्तर सर्वदा सेवन करे (नियमान्नित्यं न) शौचादि नियमों का नित्य सेवन न करे अर्थात् रोगादि दशा में शौच स्नानादि छोड़ सकता वा छोड़ने पड़ते ही हैं । जैसे निर्वाहार्थ धनादि के न होने पर गृहस्थ सन्तोष किये बैठा रहे तो भोजनाच्छादन भी प्राप्त न हों इस से अधिक सन्तोष न कर के धर्मानुकूल धन का उपार्जन करे । यम रहित केवल नियम का सेवन करने पर धर्म के प्रधानांश तथा उस के फल से पतित हो जाता है ॥

भा०-यहां (आनृशंस्यं०) आदि ४ श्लोक किन्हीं २ पुस्तकों में अधिक दीखते हैं उन का संक्षेप से अर्थ-(आनृशंस्यं क्षमा सत्यम्) मनुष्यों को न दुखाना, सहन शील होना, सत्य बोलना (अहिंसादममस्पृहा) हिंसा का त्याग, इन्द्रियों को जीतना लालच छोड़ना (ध्यानं प्रसादो माधुर्यम्) विचारशील होना, प्रसन्न रहना, कठोरता का त्याग (आर्जवं च यमा दश) और कोमलता ये दश यम कहाते हैं तथा (अहिंसासत्यवचनम्) हिंसा का त्याग सत्य बोलना (ब्रह्मचर्यमकल्पता)

ब्रह्मचर्य और बन्धन सम्बन्धिनी असमर्थता का त्याग (अस्तेयमिति पञ्चैते यम श्चोपव्रतानि च) और चोरी का त्याग ये पांच यम और उपव्रत भी कहाते (शौचमिज्या तपो दानम्) शुद्धि, यज्ञ, तप, दान देना (स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ वेदाध्ययन वा ऋषियज्ञ और व्यभिचार तथा वेश्यागमनादि का त्याग (व्रतो पवासौ मौनं च) नियमधारण, उपवास करना तथा मौन रहना (स्नानं च नि यमा दश) और स्नान करना ये दश नियम कहाते हैं (अक्रोधो गुरुशुश्रूषा क्रोध का त्याग, गुरु की सेवा (शौचमाहारलाघवम्) शुद्धि, स्वल्प आहार (अ मादश्च नियमाः) और भूल-वेहोशी का छोड़ना ये (पञ्चैवोपव्रतानि च) पा नियमों सम्बन्धी उपव्रत कहाते हैं। परन्तु याज्ञवल्क्यस्मृति में (ब्रह्मचर्यं द क्षान्तिः) ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, (ध्यानं सत्यमकल्कता) विचारशीलता, सत्यभाष सावधानता (अहिंसाऽस्तेयमाधुर्ये) हिंसा और चोरी का त्याग, कोमलता (द श्चेति यमाः स्मृताः) और इन्द्रियों का दमन करना ये दश यम कहाते त (स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः) स्नान करना, मौन रहना, उपव स, यज्ञ, वेदाध्ययन वा जप और व्यभिचार का त्याग, (नियमा गुरुशुश्रूषा शौच क्रोधाप्रमादता) गुरुसेवा, शुद्धि, क्रोध, का और भूल का त्याग ये दश नियम क हाते हैं। पूर्वोक्त और इन में बहुत थोड़ा भेद है। योग शास्त्र में कहे यम नि यमों से जो कोई इन में अधिक हैं वे उन में किसी २ के अन्तर्गत माने जावें जैसे दया क्षमा, दोनों अहिंसा में आसकें गी इस कारण मूल वा मुख्य यम नि यम वे ही हैं जो योग में कहे हैं यह सब उन्हीं का व्याख्यान है। योगाङ्ग औ धर्म एक ही हैं भिन्न २ नहीं। पर धर्मांशों में यम प्रधान वा मूल हैं। यम विना नियम नहीं हो सकते पर नियम के विना यमों का सेवन हो सकता है पर्वतिथि, ऋतु से भिन्न और गर्भस्थितिकाल में स्त्री का त्याग और वेदाभ्या ही गृहस्थ का ब्रह्मचारी होना माना जायगा । ऐसे यमों का सेवन नियम ही करे॥ और नियमों में उपस्थनिग्रह कहना सब काल के लिये है उस को गृह स्थ न करे। सर्वथा ही फल की अधिकता होने आदि कारण से यम के नित्य सेवन आज्ञा है और रोगादि के समय शौचस्नानादि नियमों का सेवन असम्भव है से नियमों में विकल्प है परन्तु स्वस्थदशा में यमों को प्रधान मान कर नियमों का भी सेवन अवश्य करे॥ २०४॥

नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा ।
स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥
अश्लीकमेतत्साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः ।
प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥
मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन ।
केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः ॥
भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया ।
पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥२०८॥

अ०—अवेदज्ञेनारब्धे, ग्रामस्य समुदायस्य याजनपरेण कृते च यज्ञे निमन्त्रितोऽपि ब्राह्मणः स्वस्य महत्त्वं रक्षयन् न भुञ्जीत । अश्लीकमश्रीकरमशोभनमेतत् साधूनां धर्मकर्मसाधकानाम् । न च साधारणानां विशिष्टलाभहेतुकम् । स्वदेहस्थशुद्धाग्न्यादितत्त्वदेवानामिन्द्रियाणां च प्रतीपं प्रतिकूलं तुच्छत्त्वप्रवेशेन महत्त्वशुद्धत्वरूपदेवत्वस्य बाधकम् । मत्तादीनां प्रमादादिदोषदूषितमन्नम् । भ्रूणहपदं महापातकिनामुपलक्षकम । उदक्या—रजस्वला, पतत्रिः शकुनिः ॥

भा०—एषामन्नं लघुतोत्पादकमशुद्धं च मनसो ग्लानिकरत्वाद् धर्मबाधकमधर्मकरं चेति न भोक्तव्यम् । क्वचिच्चाश्रोत्रिये मत्तादौ वाऽवेदज्ञत्वं मत्तत्वादिकं च कथनमात्रं न तादृशदोषावहं बहुज्ञत्वे शुभगुणाधिक्ये च सति तेषामश्रोत्रियादिपदैः परिगणनं लोके सदपि परीक्षकशास्त्रेष्वर्थतो न तेषामश्रोत्रियादित्वमिति ॥ २०८ ॥

भावार्थः–(अश्रोत्रियतते यज्ञे) वेद को न पढ़ने वा जानने वाले कि नाममात्र के पण्डित मानी ढोंगी ब्राह्मणादि ने आरम्भ किये (ग्रामयाजिकृते था) बहुत समुदाय को एक साथ यज्ञ कराने में तत्पर ब्राह्मण ने किये (स्त्रि या क्लीबेन च हुते) और किसी स्त्री वा नपुंसक ने आरम्भ किये यज्ञ में (ब्राह्मणः क्वचिन्न भुञ्जीत) स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण निमन्त्रण पाने पर भी अपने महत्त्व की रक्षा करता हुआ कभी भोजन न करे (यत्रासौ हविर्जुह्वति) जिस में वे धर्म का मर्म न जानने वाले अवेदज्ञ आदि लोग हविष्य पदार्थों का होम करते हैं वहां (साधूनामश्लीकमेतत्) श्रेष्ठ वेदज्ञ धर्मनिष्ठ प्रतिष्ठित जनों का सामिल हो कर भोजन करना अशोभित वा अनुचित इस कारण है (एतद्देवानां प्रतीपम्) अपने शरीर में अग्न्यादि शुद्ध तत्त्वांशों से बने मन उस के वृत्तिभेद जो इन्द्रियशक्तिरूप देव हैं [जिन के शुद्ध देवत्व से वह वेदज्ञ धर्मनिष्ठ पुरुष देव पदवाच्य होता है] उन के प्रतिकूल वैसा भोजन होता है अर्थात् निकृष्टों के साथ मेल से उस के मन आदि में सङ्गदोष द्वारा ग्लानि होती है (तस्मात्तत्परिवर्जयेत्) तिस से वैसों निकृष्टों के यज्ञ–ब्रह्मभोज में भोजन न करे (मत्तक्रुद्धातुराणां च) उन्मादरोगी वा नशावान, क्रोधी रोगादि द्वारा पीड़ित मनुष्यों का भी (कदाचन न भुञ्जीत) कदापि भोजन न करे (केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः) जिस में बाल वा कोई कीड़ा पड़ गये हों ऐसे तथा समझ पूर्वक जिस में किसी ने पांवलगा दिया पांव से छुआ हो ऐसे पके हुए अन्न को गृहस्थ न खावे (भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव) ब्रह्महत्या आदि महापातक करने वाले किसी महापापी ने जिस अन्न को अच्छे प्रकार दृष्टि देके देखा हो (संस्पृष्टं चाप्युदक्यया) तथा रजस्वला स्त्री ने जिस को छुवा हो (पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च) जिस में से किसी पक्षी ने चोंच लगा कर खालिया हो वा जिस को कुत्ता ने छुआ हो ऐसे पकाये हुए अन्न को गृहस्थ कभी न खावे ॥

भा०–वेद को न जानने वाले आदि का अन्न खाना तुच्छता का हेतु, और मन में ग्लानि करने वाला है। तथा धर्म का बाधक और अधर्म का हेतु है इस से न खावे और किसी अवेदज्ञ वा मत्तादि में वेद का न जानना, मत्त–पागल होना आदि दोष कथनमात्र का हो किन्तु ऐसा न हो कि मत्तादि में परिगणन किया जाय तो उन के यहां भोजन करना दोषकारी न होगा

बहुत ज्ञानी और गुणों की अधिकता होने पर लोक में उन का अश्रोत्रियादि के साथ परिगणन होने पर भी परीक्षक शास्त्रों में यौगिक सामान्यार्थ से वे अश्रोत्रियादि नहीं गिने जावेंगे अर्थात् शास्त्रकार का अभिप्राय निकृष्टों के सङ्ग दोष से बचाने का है सो जहां कोई वेद को साक्षात् न जानने पर भी नाममात्र अविद्वान् हो और संस्कारों की प्रबलता वा शुभ सत्सङ्गादि से सब समझता हो उस के यहां भोजन में दोष न होगा ॥ २०८ ॥

गवाचान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नंचविशेषतः ।
गणान्नंगणिकान्नंच विदुषांचजुगुप्सितम् ॥
स्तेनगायनयोश्चान्नं तक्ष्णोवार्धुषिकस्यच ।
दीक्षितस्यकदर्यस्य बद्धस्यनिगडस्यच ॥
अभिशस्तस्यषण्ढस्य पुंश्चल्यादाम्भिकस्यच ।
शुक्तंपर्युषितंचैव शूद्रस्योच्छिष्टमेवच ॥
चिकित्सकस्यमृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ।
उग्रान्नंसूतिकान्नंच पर्याचान्तमनिर्दशम् ॥
अनर्चितंवृथामांस–मवीरायाश्चयोषितः ।
द्विषदन्नंनगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम् ॥
पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा ।
शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेवच ॥
कर्मारस्यनिषादस्य रङ्गावतारकस्यच ।
सुवर्णकर्त्तुर्वैणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ॥
श्ववतांशौण्डिकानांच चैलनिर्णेजकस्यच ।

रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥
मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः ।
अनिर्दशं च प्रेतान्न-मतुष्टिकरमेव च ॥ २१७ ॥

अ०=घुष्टान्नं=को भोक्तेत्युद्घुष्य दीयमानम्, दीक्षितस्य यज्ञदीक्षामाप्तस्य, कदर्यस्य--कृपणस्य, निगडस्य -अयोमयब-न्धेन हस्तादिषु बद्धस्य, अभिशस्तस्य पापाधिक्येन लोके निन्दां प्राप्तस्य, शूद्रभोजनानन्तरं यदवशिष्टम्, शूद्रकन्यायां क्षत्रियाज्जात उग्रस्तस्यान्नम्, यत्र केषुचिद् भुज्यमानेष्वन्ये पर्याचामति तदन्नम्, सूतिकान्नं सूतिकोद्देशेन पक्वम्, अ-निर्दशं-दशाहाभ्यन्तरे सूतकिगृहान्नम्, अनर्चितमवमान-पुरस्सरं दत्तम्, वृथामांसमधर्महिंसादोषदुष्टं मांसम्, अवीराया पतिपुत्ररहितायाः स्त्रिया अन्नम्। नगर्यन्नं नगरस्वामि-नोऽन्नम्, अवक्षुतं यस्योपरि केनापि, मूल्यमादाय क्रतुफलं यो विक्रीणीते तस्यान्नम्, कर्मारस्य लोहकारस्य, रङ्गावत-रकस्य भाण्डादेः, वेणस्य वेणुपिटकादिजीविनो वेणुवादन-शीलस्य वा, मृगयाद्यर्थश्वपोषिणाम्, शौण्डिकानां मद्यजी-विनाम्, चैलनिर्णेजकस्य वासोधावकस्य, नृशंसस्य निर्दयस्य यस्य च गृहे पत्युरज्ञातउपपतिर्जारस्तस्य, ये च जारं जान-न्तोऽपि सहन्ते तेषाम्, स्त्रीभिर्जितानां च पुंसामन्नम्, दशाहि-नात्पूर्वं प्रेतान्नम्, सुगममन्यत् ॥

भा०--यद्यप्यामान्नेऽपि कथंचित्सङ्गदोषाः प्रविशन्ति तथा-पि तदपेक्षया पक्वान्ने दोषाणामाधिक्येनासङ्गनमिति

त्वाऽत्र प्रकरणे पक्वान्नप्रतिषेध एव ग्रन्थकर्त्तुरिष्टः। शुक्तमि-त्यादिसाहचर्याच्च। यथा सुगन्धदुर्गन्धौ सर्वत्र सन्निहितवस्तुनि लगन्ति तद्वद्गवादीनामुपाघ्राणादिसंयोगेन तस्मिंस्तस्मिन्नन्ने तेते दोषा आयान्ति। चन्दनवृक्षसन्निधावन्येऽपि वृक्षाः सङ्ग-जन्यगुणेन चन्दनवद्भवन्ति। पुरीषागारस्थं मिष्टं शुभम-प्यन्नं पुरीषवद्देवाशुद्धं सङ्गदोषेण मन्यते धीमद्भिस्तथैवात्र पवित्रधर्म्माचरणवता स्नातकेन तत्तत्सङ्गदोषेणाल्पदूषित-मप्यन्नमनादेयम्। परिगणनं चात्रोपलक्षणार्थमेव विज्ञेयं नचैषां परिगणितानामेवान्नं त्याज्यमपित्वीदृशानामेभ्यो हीनानां च सर्वेषामेवान्नं न भोक्तव्यं स्नातकेनेति। अ-न्यत्रवन्मात्राबोधस्त्वत्रापि कर्त्तव्यएव। तथा च सति स्ते-नगायनादित्वं कथमपि सर्वत्र भवितुमर्हति न तेन तेना-ल्पेन कर्म्मणा ते ते स्तेनादिपदवाच्या भवन्ति प्रधानार्थे शब्दप्रयोगात्। तस्माद्गवोपाघ्राणादिदोषालोचनानन्तर-मेव तस्यतस्यान्नादेर्ग्रहणं त्यागश्च कार्यइति। येनाशयेन कस्यापि प्रतिषेधो विधिर्वा शास्त्रकृता प्रदर्शितस्तदाशयं स-म्यग्बुद्धवता क्वचिद्ब्राह्मणादेरप्यन्नादिकं त्याज्यमेवं च क्व-चिदाभासमात्रनिकृष्टस्यापि ग्राह्यमिति प्रयोजनस्यैव प्रा-धान्यम्। तच्चैतन्न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोः कथंचनेत्य-नेनसहमतमुपन्यस्तंमयेतिबोध्यंतत्त्वालोचनपरैरिति॥२१७॥

भाषार्थः—(गवाचान्नमुपाघ्रातम्) जिस अन्न को गौ आदि पशु ने सूंघलिया हो (घुष्टान्नं च विशेषतः) जिस के लिये ऊंचेस्वर से अनेक मनुष्यों के समक्ष क-हागया हो कि इस को कौन खावेगा ३ ? (गणान्नंगणिकान्नंच) अनेक अच्छे बुरे मनुष्यों के चन्दा से बनाया अन्न तथा वेश्या का अन्न (विदुषांचजुगुप्सितम्)

यह सब विद्वान् ब्राह्मण को खाना विशेष कर निन्दित है (स्तेनगायनयोश्चान्नं) चोर, गवैय्या (तक्ष्णोवार्धुषिकस्य च) बढ़ई, व्योहरा (दीक्षितस्य कदर्यस्य) यज्ञ में दीक्षा को प्राप्त हुए यजमान का यज्ञ समाप्ति से पूर्व, कृपण-कंजूस (बद्धस्यनिगडस्य च) हतकड़ी, बेड़ी डाल वांधे गये [कैद किये कैदी] (अभिशस्तस्यषण्ढस्य) महापातकादि अधिक पाप करने के कारण लोक में निन्दा को प्राप्त हुए नक्कू, नपुंसक, (पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च) व्यभिचारिणी, दम्भी इन का अन्न तथा (शुक्तं पर्युषितं चैव) धरे रहने से खटाया, वासी (शूद्रस्योच्छिष्टमेव च) शूद्र के खाने पश्चात् बचा अलग भी धरा (चिकित्सकस्य मृगयोः) वैद्य-डाक्टर-हकीम, शिकारी (क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः) क्रूर कुटिल, उच्छिष्ट शेष बचे को खानेवाला रसोइया आदि (उग्रान्नं सूतिकान्नंच) तथा क्षत्रिय रूप से शूद्र की स्त्री में उत्पन्न हुए उग्र नामक वर्णसंकर का अन्न सूतिका के लिये बनायागया अन्न (पर्याचान्तमनिर्दशम्) जिस भोजन की पांति में किसी ने आचमन कर लिया हो वहां का अन्न तथा जिस घर में सन्तानोत्पत्ति हुई हो उस घर में बना दश दिन से पूर्व का अन्न (अनर्चितं वृथामांसम्) अनादर अपमान के साथ प्राप्त हुआ अन्न तथा हिंसारूप अधर्म दोष से दूषित मांसरूप अन्न (अवीरायाश्च योषितः) जिस के पति वा पुत्र कोई न हो ऐसी विधवा स्त्री का अन्न (द्विषदन्नं नगर्यन्नम्) शत्रु का और नगर के स्वामी कोटपाल जमीदार अथवा कलक्टर आदि का अन्न (पतितान्नमवक्षुतम्) जाति आदि से जो कुकर्मी पतित किया गया हो उस का अन्न और जिस पर किसी ने छींक दिया हो ऐसा अन्न (पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा) चुगली करने और समझ पूर्वक झूठ गवाही देने आदि मिथ्याभाषी तथा मूल्य लेकर यज्ञ के फल को वेंचने वाले का अन्न (शैलूषतुन्नवायान्नम्) नट, दर्जी (कृतघ्नस्यान्नमेवच) और कृतघ्न का अन्न (कर्मारस्य निषादस्य) लुहार तथा जाल के द्वारा जीवों को पकड़ने वाले (रङ्गावतारकस्यच) भांड वा जागा आदि (सुवर्णकर्त्तुर्वैणस्य) सुनार, वा वांश की पिटारी आदि बना के जीविका करने वा वांसुरी वजाने के स्वभाववाले (शस्त्रविक्रयिणस्तथा) वाण आदि शस्त्र बनाने वेंचने वाले (श्ववतां शौण्डिकानां च) सिकार आदि के लिये कुत्ता पालने वाले, मद्य बनाने वेंचने पीने वाले (चैलनिर्णेजकस्य च) कपड़ा धोने वाले धोबी (रञ्जकस्य नृशंसस्य) रंगरेज, निर्दयी (यस्यचोपपतिर्गृहे) जिस के घर में

पुरुष के अजान में कोई जार आता हो (मृष्यन्तियेचोपपतिम्) जो लोग अपनी स्त्री के पास आते हुए जार को जानते हुए भी सहते हैं उन का (स्त्रीजितानां च सर्वशः) स्त्रियों के वश में रहने वालों का अन्न (अनिर्दशंचप्रेतान्नम्) दश दिन से पूर्व मृत्यु होने वाले घर का अन्न और (अतुष्टिकरमेव च) जिस के भोजन से सन्तोष वा तृप्ति न हो ऐसा शुष्क आदि अन्न को स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण न खावे ॥

भा०—यद्यपि कच्चे अन्न में भी निकृष्ट वस्तु के संग से कुछ २ दोष प्रविष्ट होते हैं तथापि उस की अपेक्षा पकाये अन्न में अधिक दोष लगते हैं इस कारण इस प्रकरण में पकाये हुए अन्न का खाना विशेष कर निषेध किया गया है किन्तु कच्चे सूखे अन्न को सब से लेने का निषेध नहीं है [इस से यह भी सिद्ध है कि निर्दोषी अन्य शुद्ध वर्णों का भी पकाया भोजन ब्राह्मणादि पूर्व काल में खाते थे] जैसे सुगन्ध दुर्गन्ध समीपस्थ वस्तु में सर्वत्र लगते हैं उसी के तुल्य गौ आदि के सूंघने आदि संयोग से उस २ अन्न में वे २ दोष आते हैं। चन्दनवृक्ष के समीप में अन्य वृक्ष भी सङ्ग से लगे गुण से चन्दन के तुल्य सुगन्धित हो जाते हैं। पाखाने में धरा गया शुद्ध मीठा पक्वान्न भी विष्ठा के तुल्य अपवित्र हुआ बुद्धिमानों में माना जाता है वैसे यहां भी धर्मानुकूल पवित्र आचरण करने वाले स्नातक गृहस्थ ब्राह्मण को उस २ के अल्पदोष से भी दूषित अन्न को नहीं खाना चाहिये। और यहां त्याज्य अन्नों का परिगणन उपलक्षणार्थ ही है अर्थात् इन परिगणितों का ही अन्न केवल त्याज्य नहीं है किन्तु ऐसे अन्यों का वा इन से भी नीचों का अन्न स्नातक को त्याज्य है। और अन्यत्र के समान यहां भी मात्रा का बोध होना आवश्यक है। ऐसा होने पर चोरी और गाना कुछ न कुछ सर्वत्र हो सकता है परन्तु उस २ थोड़े चोरी आदि कर्म से चोरादि पदवाच्य वे २ सब नहीं होते क्योंकि प्रधानार्थ में शब्दों का प्रयोग सर्वत्र दीखता है कि जो २ अधिककर चोरी आदि काम करता है वही २ चोरादि कहाता है। तिस से गौ आदि के सूंघने आदि दोष का आलोचन करके ही कि किस २ में दोष प्रधान होने से अन्न त्याज्य है। जिस अभिप्राय से किसी का विधि वा निषेध शास्त्रकार ने दिखाया है उसी आशय को सम्यक् जान कर कहीं ब्राह्मणादि का भी [जिन का अन्न त्याज्य नहीं कहा गया] अन्न त्याज्य होगा और कहीं कहनेमात्र वा देखनेमात्र निकृष्ट का भी अन्न ग्राह्य हो सकेगा इस कारण प्रयोजन ही प्रधान है ॥ २१७ ॥

राजान्नंतेजआदत्ते शूद्रान्नंब्रह्मवर्चसम् ।
आयुःसुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्त्तिनः ॥
कारुकान्नंप्रजांहन्ति बलंनिर्णेजकस्यच ।
गणान्नंगणिकान्नंच लोकेभ्यःपरिकृन्तति ॥
पूयंचिकित्सकस्यान्नंपुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रिय
विष्ठावार्द्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणोमल
यएतेऽन्येत्वभोज्यान्नाः क्रमशःपरिकीर्त्तिताः
तेषांत्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नंमनीषिणः

[अमृतंब्राह्मणस्यान्नं क्षत्रियान्नंपयःस्मृतम् ।
वैश्यान्नमन्नमित्याहुः शूद्रस्यरुधिरंस्मृतम् ॥]

भुक्त्वाऽतोन्यतमस्यान्न–ममत्याक्षपणंत्र्यह
मत्याभुक्त्वाचरेत्कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेवच
नाद्याच्छूद्रस्यपक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनोद्विज
आददीताममेवास्मा–दवृत्तावेकरात्रिकम् ॥

[चन्द्रसूर्यग्रहेनाद्या–दद्यात्स्नात्वातुमुक्तयोः ।
अमुक्तयोरगतयो–रद्याच्चैवपरेऽहनि ॥]

श्रोत्रियस्यकदर्यस्य वदान्यस्यचवार्द्धुषेः ।
मीमांसित्वोभयंदेवाः सममन्नमकल्पयन् ॥
तान्प्रजापतिराहैत्य माकृध्वंविषमंसमम् ।
श्रद्धापूतंवदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥–२२

अ० --अतएषां मध्येऽन्यतमस्य कस्यापि ज्ञानमन्तरेणान्नं भुक्त्वा त्र्यहं क्षपणमुपवासः कार्यः। जानन् भुक्त्वा रेतोविण्मूत्रमपि ज्ञानतोऽज्ञानतो वा भुक्त्वा कृच्छ्रनामकं व्रतं चरेत्कुर्यादिति प्रायश्चित्तम्। अश्राद्धिनः शूद्रस्य पक्वान्नं विद्वान् द्विजो नाद्यात्। श्रद्धासम्पन्नशुद्धभावस्य धर्मनिष्ठस्य सच्छूद्रस्य तु पक्वान्नं विद्वानप्यद्यादिति-अविद्वान् द्विजस्तु श्रद्धारहितस्य शूद्रस्य पक्वान्नमद्यादिति चार्थादापन्नं बोध्यम्। श्रद्धारहिताच्छूद्रादन्यतः प्राप्तावसत्यामेकाहक्षत्प्रतीकारप्रयोजनमात्रमन्नमेवाददीत द्विजो विद्वान्। कदर्यस्य कृपणस्य श्रोत्रियस्य, वदान्यस्य श्रद्धालोर्दानशीलस्य वृद्धिजीविनश्च द्वयोरेतयोरन्नं देवाः पूर्वजा धर्मपरायणा विज्ञा विप्रा मीमांसित्वा गुणदोषसाम्यात् सममकल्पयन् निरूपितवन्तः। तान् देवान् प्रजापतिः-प्रजापालकः कश्चिद्राजाऽऽगत्याह-यूयं विषमं समं माकृढ्वम्। वदान्यस्य वार्द्धुषेरन्नं श्रद्धया पूतं पवित्रमस्ति। इतरत्कृपणान्नमश्रद्धया हतं विनष्टगुणमधमम्। स्पष्टमन्यत्सर्वम् ॥

भा०-राजपदमत्र यौगिकं सामान्यार्थपरम्। तेन स्वतोऽधिकराजमानस्य ग्रामाधिपादेः प्रभविष्णोरन्नभोजनं तेज आदत्ते भोक्तुर्ब्राह्मणस्य तेजस्तत्सन्निधौ तिरोभवति। तेजःक्षयात्तुच्छत्व आगते धर्म्यकर्मानुष्ठानोत्साहो व्याहन्यते। यथा कालिम्ना शुक्लत्वमशुद्ध्या च शुद्धिरादीयत एवं ब्रह्मवर्चसाद्विरुद्धेन शूद्रत्वेन ब्रह्मवर्चसरूपं ब्राह्मण्यं हन्यते। सुवर्णस्तेयं महापातकं तच्च तेनान्यापेक्षयाधिक्येन क्रियते दु-

राचाराश्च सर्वएवायुषो नाशकाः। महापातकिगतदोषाश्च
दन्नभोजनादिसङ्गेनान्यस्मिन्नायान्त्येव, चर्मावकर्त्तिनश्च
कारस्यान्नं लोकेऽपयशोहेतुकं स्फुटमेव। कारुकाः शिल्पि
नो वृक्षादिसन्ततिं निघ्नन्ति तेषामन्नं सङ्गश्च सन्तानोत्पा
दनशक्तिह्रासकरम्। निर्णेजकः प्रक्षालनादिकर्मणा वास
स्वस्य च बलं विघातयति तस्मात्तदन्नेन साकं भोक्त
सएव गुणः शनैःशनैः प्रविशति। गणगणिकयोरन्नमुत्तम
स्थानप्राप्तेरधः पातयति यथा क्षौद्रादौ सक्ता मक्षिकोपरि
दुड्डयितुमशक्ता जायते। चिकित्सकस्य पूयनिस्सारणादि
कर्मणि लग्नस्य तादृशविचारवतस्तत्तद्भावदुष्टमन्नं पूय
दिवद् भवतीत्याशयः। वार्द्धुषिकः सदा वृद्धिमेव चिन्तय
वृद्धिश्च मूलापेक्षया मूले शरीरे पुरीषवदेवास्ति। शरीराव
यवेषु मलमपि शस्त्रविक्रयिणि हिंसादिसहयोगित्वमलव
देव चिन्त्यम्। तद्भावदूषितं च तदन्नम्। अन्येषां च त्वग
स्थिरोमाणीवान्नं दूषितं बोध्यम्। अत्रैवैकं पद्यं पश्चाद्
तं क्वचित्पुस्तकउपलभ्यते विशिष्टस्तस्यार्थः प्राकृतेऽवलो
क्यः। अश्राद्धिनइति महायज्ञादिधर्म्यकर्माभावोपलक्षण
वचस्तेन यत्रतत्रोच्यमानः शूद्रस्यानधिकारः प्रायकोऽवग
न्तव्यः। प्रायेणैवच शूद्रपदवाच्या मलिनाचारा मन्दमत
शुभं कर्मानुष्ठातुमशक्ताः श्रद्धादिरहिताएव लोकेऽवलोक्य
न्ते मतिमद्भिः। यस्तु कोऽपि शुद्धाचारो धर्म्यमतिः श्रद्धा
समन्वितः शुभं कर्मानुष्ठातुमर्हति न तदर्थोऽनधिकारइत्ये
तदत्राश्राद्धिनइति वदतेङ्गितेन सूचितम्। दशमाध्याये चैत

देव स्पष्टं वक्ष्यति। "धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः। मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च" ॥ अत्र-मन्त्रवर्जमिति पदं निकृष्टकुलजन्यदोषेण कथमपि दूषिते सच्छूद्रेऽपि सर्वथा सर्वदा निरतिशयशुद्धवेदाशयावगमाशक्तिद्योतनार्थमितीक्षणीयम् । एवं च विद्यातपोभ्यां हीने शुभाचारवर्जिते च ब्राह्मणे धर्मेप्सौ धर्मज्ञे सद्वृत्तानुष्ठातरि शूद्रे च साम्यं प्रायेणावगन्तव्यम् । क्वचित्तादृशो ब्राह्मणः क्वचिच्च शूद्रो वा गुणकर्मवैशारद्यप्राबल्येन विशिष्टोऽधिकृतो मन्तव्यस्तस्मात्साधारणाग्रजन्मवदेव सच्छूद्रस्यापि पक्वान्नं धर्मनिष्ठब्राह्मणेन भोक्तव्यमित्यश्राद्धिनः पदस्यार्थापत्त्या निस्सृतं बोध्यम्। अस्याग्रेऽप्येकं पद्यंक्वचिदधिकमुपलभ्यते व्याख्यातं चान्तिमवृत्तिकाररामचन्द्रेण। श्रद्धापूतं वदान्यस्येति वदता श्रद्धाया धर्ममूलत्वं विज्ञापितं तच्च श्रद्दिति निरन्तरं धारणमेव धर्मइत्यर्थेनान्वर्थमेव। वृद्धिजीवनं च वैश्यधर्मो यस्मिन् वृद्धिजीविनि श्रद्धाऽस्ति स श्रद्धारहितान्नास्तिककल्पाद्वेदविदो विप्रादपि वरइति शास्त्रबोधमात्रापेक्षया दानादिधर्माचरणस्य प्राधान्यमत्र ग्रन्थकृता स्वस्य सिद्धान्तो विज्ञापितः ॥ २२५ ॥

भाषार्थः-(राजान्नं तेज आदत्ते) इन्द्र नामक विद्युत का तेज सब से अधिक तीव्र वा चञ्चल होता है उस तेज की प्रधानता राजा में होती है और जिस २ के समीपस्थ वा जिस २ का जो २ वस्तु अन्नादि होता है उस २ में उस२ [illegible]दि का गुण दोष भी संग से लगता है तथा प्रबल सजातीय निर्बल सजातीय को सदा ही दवाता है इस कारण राजा का अन्न खाने से ब्राह्मण का तेज घटेगा वा संकुचित होगा वा राजा का तेज ब्राह्मण के तेज को लेलेगा (शूद्रान्नं

ब्रह्मवर्चसम्) शूद्र के मलिनाचार विचार से सम्बन्ध रखने वाले अन्न को खाने से ब्राह्मण का ब्रह्मतेज घटेगा क्योंकि देन लेन व्यवहार में सर्वत्र ही दाता उत्तम उत्तमर्ण और भोक्ता वा प्रतिग्रहीता अधम वा अधमर्ण होता है। इस से शूद्रान्न खाने वाले ब्राह्मणों का तेज शूद्र के मलिन शूद्रपन से घटता दवता प्रत्यक्ष भी लोक में दीखता है (आयुः सुवर्णकारान्नम्) सुनार का अन्न आयु को क्षीण करता और (यशश्चर्मावकर्त्तिनः) चमार का अन्न कीर्त्ति को हटा कर जगत् में अपयश फैलाता है (कारुकान्नं प्रजां हन्ति) कारीगर का अन्न सन्तानोत्पत्ति की शक्ति को नशाता क्षीण करता है (निर्णेजकस्य बलं च) धोबी का अन्न बल को घटाता (गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति) अनेक नीच जनों के समुदाय का तथा वेश्या नाचने वाली का अन्न उत्तम लोक वा स्थानों की प्राप्ति से हटाता और उन्हीं २ निकृष्टों की ओर ब्राह्मण को गिरता झुकाता है। [अर्थात् ब्राह्मण जिस २ समुदाय का अन्न खाता है प्रायः उसी २ की ओर झुकता है वैसे ही उस के आचार विचार होते जाते हैं इसी से धर्मानुकूल उच्च कक्षा को प्राप्त होने का बाधक उस २ का अन्न हो जाता है। और राजादि का अन्न जितने २ अधिक दिनों तक खाता है वा दानादि लेता है उतनी २ अधिक और जितना २ कम खाता लेता है उतने २ कम तेज आदि की हानि होती है। इस के अनुसार प्रजाहननादि नाना प्रकार का न्यूनाधिक माना जायगा] (पूयं चिकित्सकस्यान्नम्) चिकित्सक-वैद्य डाक्टरादि का अन्न खाना पीव के समान होगा (पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम्) व्यभिचारिणी को सदा उपस्थेन्द्रिय का ध्यान रहता इस से उस का अन्न इन्द्रिय के तुल्य दूषित होता (विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नम्) व्याज सूद लेकर जीविका करने वाले का अन्न विष्ठा के तुल्य होता (अशस्त्रविक्रयिणो मलम्) शस्त्र बेंचने बनाने वाले मनुष्य का अन्न शरीर से निकलने वाले अन्य मल के तुल्य बुरा होता है (यएतेऽन्येत्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्त्तिताः) जिन का भोजन नहीं करना चाहिये ऐसे जो अन्य क्रम से पूर्व कहे गये हैं (तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः) उन के अन्न को पूर्वापर विचारशील विद्वान् लोग त्वचा, हड्डी और लोमों को खाने के तुल्य निकृष्ट कहते हैं [इस से पूर्व विधिवाक्यों और इन अर्थवादों में जहां २ सामान्य अन्न का निषेध और निन्दा दिखायी है वहां २ सर्वत्र ही सजे अन्न के दानों में कम इस से अधिक आटा में और उससे भी अधिक पकाये हुए रोटी आदि अन्न में

दोष होगा। और दान लेने मात्र से जहां२ तेज की हानि आदि दिखाना अभीष्ट है वहां २ कच्चे अन्न के लेने में भी वैसा पूरा ही दोष लगेगा। अर्थात् हाथ आदि से आटा गूंदने आदि कर्म से लगने वाला दोष कच्चे में कम और पके अन्न में अधिक आवेगा। इसी के अनुसार राजा के रसोइया का बनाया वा कच्चा अन्न धनादि लेना सभी ब्राह्मण के तेज को तिरोभूत करने वाला होगा] (अतोऽन्यतमस्यामत्यान्नं भुक्त्वा) इन पूर्व कहे राजादि में से किसी का अन्न विना जाने गृहस्थ खाले तो (त्र्यहं क्षपणम्) तीन दिन उपवास रूप प्रायश्चित्त करे (मत्या भुक्त्वा रेतो विण्मूत्रमेव च) और समझ पूर्वक खालेवे तथा वीर्य, विष्ठा और मूत्र को ज्ञान से वा अज्ञान से खालेवे तो (कृच्छ्रं चरेत्) ग्यारहवें अध्याय में कहा कृच्छ्र नामक सात दिन का व्रत करे (द्विजो विद्वान्) वेद शास्त्र की मर्यादा को जानता हुआ ब्राह्मण (अश्राद्धिनः शूद्रस्य पक्वान्न नाद्यात्) श्रद्धारहित शूद्र के पक्वान्न को न खावे किन्तु (अवृत्तौ) अन्य किसी से प्राप्त न हो और अन्न के विना पीडित हो तो (एकरात्रिकमामेवास्मादाददीत) एकदिन के भोजनमात्र के लिये कच्चा ही अन्न शूद्र से लेलेवे (श्रोत्रियस्य कदर्यस्य) कृपण कंजूस श्रद्धारहित किसी वेदपाठी (वदान्यस्य च वार्द्धुषेः) और दानशील श्रद्धालु व्याज सूद लेकर जीविका करने वाला (देवा उभयं मीमांसित्वा) श्रेष्ठ धर्मपरायण विचारशील विद्वान् महर्षियों ने उक्त दोनों के अन्न की समालोचना करके (सममन्नमकल्पयन्) अन्न के गुण दोषों की तुल्यता देखकर समान कहा है (प्रजापतिस्तानेत्याह) प्रजापालक न्याय व्यवस्था करने वाला कोई राजा उन देवताओं के निकट आकर बोला कि (विषमं समं मा कृढ्वम्) तुम लोग विषम को सम मत करो [श्रद्धा रहित वेदपाठी का और श्रद्धालु सूदलेने वाले का अन्न विषम है बराबर नहीं है (श्रद्धापूतं वदान्यस्य) व्याज लेने वाले श्रद्धालु दानशील का अन्न श्रद्धारूप मुख्य धर्मामृत से धोया हुआ पवित्र है (हतमश्रद्धयेतरत्) और वेदपाठी का अन्न अश्रद्धारूप नास्तिकता वा मुख्य अधर्म से निकृष्ट गुणों वाला विनष्ट अधम है ॥

भा०—यहां राज शब्द यौगिक सामान्यार्थ बोधक लेना चाहिये। इसकारण अपने से अधिक धनादि सम्पत्ति वा प्रभुतादि से प्रकाशमान तेजस्वी, जिमीदार, सरदार ताल्लुकेदार छोटे वा बड़े राजा रईस कहाने वाले का अन्न भोजन करने वाले ब्राह्मण के तेज को दबाने वाला है। और तेज के क्षीण

होने से तुच्छता आजाने पर धर्मानुकूल निःशङ्क सत्य बोलने आदि कर्म के अ-
नुष्ठान का उत्साह बिगड़ जाता है । जैसे कालापन से श्वेत वर्ण, वा जैसे अशु-
से शुद्धि नष्ट होती उस में मिलके श्वेत और शुद्ध भी काला वा अशुद्ध ही बनजा-
इसी के अनुसार ब्रह्मतेज से विरुद्ध शूद्रपन के साथ अधिक फसावट से ब्राह्मण-
पन अधिक नष्ट होजाता है । सुवर्ण का चुराना महापातक इस कारण है कि
तुच्छ वस्तु के चुराने में जैसे स्वामी की कम हानि वा उस को कम दुःख हो-
इसी से वहां कम अपराध होता और बहु मूल्य वा अत्यन्त प्रिय वस्तु के चु-
नष्ट करने से स्वामी को अधिक दुःख पहुंचता है इसी से वहां चोर को अधिक पा-
लगता है सो अन्यों की अपेक्षा स्वर्णकार सुवर्ण को अधिक चुराता इस से
महापातकी हुआ । और दुराचार सभी आयु के नाशक हैं, दुराचारी का अ-
खाने से चोरी आदि काम में साथ करने वाला होजाता है इस कारण सुवर्णका-
का अन्न आयु को हानि पहुंचाने वाला है। अर्थात् महापातकि में वर्त्तमान दो-
उस का भोजन करने आदि द्वारा अन्य में आजाते हैं । और चर्मकारों का अ-
अन्न भी लोक में स्पष्ट ही अपकीर्त्ति का कारण होता है [जो ब्राह्मण चम-
आदि नीचों के पाधा पुरोहित बनते हैं वे नीच निन्दित माने जाते हैं] व-
आदि कारीगर वृक्षादि को काट २ उन की सन्तति को नष्ट करते हैं । उन-
अन्न को खाने वा सङ्ग करने वाले में भी सन्तति को नष्ट करने वा न रहने दे-
का स्वाभाविक गुण न्यूनाधिक आता है। धोबी वस्त्र धोने आदि कर्म से वस्त्र-
के और अपने बल को नष्ट करता है इस से उस के अन्न के साथ वही गुण अ-
खाने वाले में धीरे २ आता है । समुदाय और वेश्याओं का अन्न उत्तम स्थान
वा पदार्थों की प्राप्ति से नीचे२को इस कारण गिराता है कि नीचों के साथ मे-
करने से नीच बुद्धि वा संस्कार होते तदनुसार आगे २ नीच काम करके नीच-
बनता जाता है उत्तम दशा की ओर नहीं चल पाता। जैसे कि शहद आदि में फं-
मक्खी ऊपर को नहीं उड़सकती । पीव निकालने फोड़ा चीरने आदि काम-
लगे (वैसे विचार वाले) डाक्टर वैद्य के उस २ भाव से दूषित अन्न पीव-
के तुल्य होता है । सूद लेने वाला सदा व्याज लेने वा धनवृद्धि की चिन्ता क-
रता है और मूल धन की अपेक्षा व्याज सूद, मूल शरीर में विष्ठा के समान है-
है । शरीर के अवयवों में निकलने वाले मैल के समान ही शस्त्र वेंचने वाले की
हिंसादि संबन्धी मानस मल भी होता है उस भाव से दूषित उस का भी अ-

जानो। इसी २२१ श्लोक के आगे एक श्लोक किसी २ पुस्तक में अधिक मिलता है उस का अर्थः (अमृतं ब्रा०) ब्राह्मण अन्न अमृत, क्षत्रिय का अन्न दूध के तुल्य वैश्य का अन्न, अन्न, और शूद्र का अन्न रुधिर के तुल्य होता है] २२३ श्लोक में कहा "अश्राधिनः पद" पञ्चमहायज्ञादि धर्मानुकूल कर्मों के अभाव दिखाने के लिये है इस से जो २ शूद्र को वेद वा धर्म का अनधिकार कहा गया है वह २ सब प्रायः अधिकांश के लिये जानो किन्तु सर्वांश में शूद्रमात्र को अनधिकार नहीं है क्योंकि शूद्र कहाने वाले मनुष्य मलिनाचरणी, मन्दमति, शुभ कर्म का अनुष्ठान करने में असमर्थ और श्रद्धा विश्वास रहित ही लोक में अन्यों की अपेक्षा अधिक होते वा विद्वानों को दीखते हैं। और जो कोई शुद्धाचरणी धर्मानुकूल बुद्धि वाला श्रद्धादि युक्त और शुभ कर्मों का सेवन करने योग्य शूद्र होता वा होसकता है उस अधिकारी के लिये यज्ञादि धर्म का अनधिकार नहीं यह विचार अश्राद्धिनः पद कहते हुए ग्रन्थकार ने इङ्गित चेष्टित से जताया है। और दशमाध्याय में स्पष्ट कहेंगे कि "धर्माभिलाषी, धर्मज्ञ और श्रेष्ठाचरण वाले शूद्र के लिये वेद छोड़ के अन्य सभी धर्म कर्मों का अधिकार है" यहां निकृष्ट कुल के शुक्रशोणित सम्बन्धी दोष से किसी प्रकार दूषित हुए सत् शूद्र में भी सब प्रकार सब काल में अत्यन्त शुद्ध वेदाशय को समझने की ठीक शक्ति का न होना "मन्त्रवर्जं" पद से दिखलाया है। इस प्रकार विद्या और धर्म कर्म से रहित तथा पाप कर्म भी न करने वाले ब्राह्मण में तथा धर्मज्ञ सदाचारी धर्माभिलाषी शूद्र में प्रायः समता रहेगी अर्थात् ऐसे ब्राह्मण को भी वेद का अधिकार नहीं होगा। और कहीं वैसा ब्राह्मण वा कहीं सत् शूद्र गुण कर्मों की निर्मल प्रबलता से विशेष अधिकारी मानना चाहिये। इस कारण साधारण ब्राह्मण के समान ही सत् शूद्र का पक्वान्न भी धर्मनिष्ठ ब्राह्मण को यथावसर खालेना चाहिये यह अश्राद्धिनः शब्द की अर्थापत्ति से निकलता है। इस २२३ श्लोक के आगे भी एक श्लोक किसी २ पुस्तक में प्रक्षिप्त किया मिलता है उस का अर्थः—(चन्द्रसूर्यग्रहे०) सूर्य चन्द्रमा पर ग्रहण पड़ा हो तब न खावे पर ग्रहण हट जावे तब स्नान कर के भोजन करे और ग्रहण का मोक्ष हुए विना ही सूर्य चन्द्रमा अस्त हो गये हों तो अगले दिन भोजन करे॥ उक्तपद्य का अर्थ सब से पिछले टीकाकार पं० रामचन्द्र ने भी किया है। श्रद्धालु का अन्न श्रद्धा से पवित्र है ऐसा कहते हुए ग्रन्थकार ने श्रद्धा को धर्म का मूल जताया है सो निरन्तर धारण का नाम श्रद्धा होने से श्रद्धा का परिणा-

म ही धर्म है। व्याज लेके जीविका करना वैश्य का धर्म है। जिस शूद्र जीविका करने वाले में श्रद्धा होती वह श्रद्धारहित नास्तिक के तुल्य वेदज्ञ ब्राह्मण से भी वड़ा वा श्रेष्ठ है इस प्रकार केवल शास्त्र का बोधमात्र होने की पेक्षा दानादि धर्म के सेवन की श्रेष्ठता और प्रधानता है यह सिद्धान्त जानो॥

श्रद्धयेष्टं चपूर्त्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥२२६॥

अ०-इष्टं श्रौतं दर्शपौर्णमासादियागं, पूर्त्तं दानधर्मादिकं सर्वं धर्म्यं कर्मातन्द्रितः श्रद्धया नित्यं कुर्यात् स्वागतैर्धर्म्योपायेनागतैर्धनैः श्रद्धया कृते ते कर्मणी अक्षये भवतः सम्यक् चेतसि योगात् ॥

भा०-यत्किमपि निरन्तरमविचलं स्थाप्यते तदेव चिरस्थायि सद्बहुकालावधि शुभफलं प्रयच्छति। यच्च श्रद्धारहितेनान्यमनस्केन किमपि क्रियते तच्च संस्कारवासनादिरूपेण न चिरं दृढं तिष्ठति कुतः पुनः फलं प्रयच्छेत् ॥२२६॥

भाषार्थः-(अतन्द्रितः) निरालस हुआ गृहस्थ पुरुष (इष्टं च पूर्त्तं च नित्यं श्रद्धया कुर्यात्) दर्शपौर्णमासादि श्रौत कर्म और दान धर्मादि स्मार्त्त सब धर्मानुकूल कर्म नित्य ही श्रद्धा के साथ लग के करे (हि स्वागतैर्धनैस्ते श्रद्धाकृते अक्षये भवतः) क्योंकि धर्मानुकूल उपाय से उपार्जन किये अन्न धनादि से श्रद्धा के साथ किये वे दोनों प्रकार के कर्म चित्त के साथ ठीक मेल करलेने से चिरस्थायी दीर्घकाल तक फल देने वाले होते हैं॥

भा०- जो कुछ निरन्तर तथा दृढ़ता से स्थापित किया जाता है वही चिरस्थायी हुआ बहुत काल तक शुभ फल देता है। और जो श्रद्धा रहित अन्य मन लगाने वाला कुछ काम करता है वह संस्कार वासनादिरूप से चिर काल तक दृढ़ता से नहीं ठहरता तब फल कहां से देवे ! ॥ २२६ ॥

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिपौर्त्तिकम्।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥

[पात्रभूतोहियोविप्रः प्रतिगृह्यप्रतिग्रहम् ।
असत्सुविनियुञ्जीत तस्मैदेयंनकिञ्चन ॥१॥
संचयंकुरुतेयस्तु प्रतिगृह्यसमन्ततः ।
धर्मार्थंनोपयुङ्क्तेच नतंतस्करमर्चयेत् ॥२॥]

यत्किंचिदपिदातव्यं याचितेनानसूयया ।
उत्पत्स्यतेहितत्पात्रं यत्तारयतिसर्वतः ॥
वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः ।
तिलप्रदःप्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥
भूमिदोभूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः ।
गृहदोऽग्र्याणिवेश्मानि रूप्यदोरूपमुत्तमम् ॥
वासोदश्चन्द्रसालोक्य–मश्विसालोक्यमश्वदः ।
अनडुहःश्रियंपुष्टां गोदोब्रध्नस्यविष्टपम् ॥
यानशय्याप्रदोभार्य्या–मैश्वर्यमभयप्रदः ।
धान्यदःशाश्वतंसौख्यं--ब्रह्मदोब्रह्मसार्ष्टिताम
सर्वेषामेवदानानां–ब्रह्मदानंविशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवास--स्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥
येनयेनतुभावेन--यद्यद्दानंप्रयच्छति ।
तत्तत्तेनैवभावेन–प्राप्नोतिप्रतिपूजितः ॥२३४॥

अ०—ऐहिकमिष्टिसंबद्धं दानधर्मं पौर्त्तिकं च ततोऽन्य-त्रापि स्नातकः परितुष्टेन भावेन शक्तितो यथाशक्ति नित्यं

सेवेत । अत्रैव पद्यद्वयं पश्चात्केनापि धृतम् (पात्रभूत०) इ-
त्यादिकमुपलभ्यते । यत्किञ्चिदन्नवसनादिकं याचितेनानसू-
यया श्रद्धयैव दातव्यम् । तच्च धर्मरूपं दानं दीर्घकालनैरन्त-
र्यसत्कारासेवितं दृढतरं बद्धमूलं सत् पात्रं पालकमेवोप-
स्यते यत्सर्वतो दुःखसागरात्तारयति । उदकादीनां दानशी-
लस्तस्यतस्य समुचितमेव तृप्त्यादिकं फलमाप्नोतीति स-
र्वत्र योज्यम् । येनयेन भावेन सत्त्वादिस्थेन चेतसा यद्यद्
दाति तेनतेन भावेन तादृशेनैव चित्तेन तत्तत्फलमाप्नोति।

भा०-अत्र सार्द्धैकपद्ये विधिः शेषे चार्थवादाः । त्रयं
धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । तस्य दानस्य च गृहा-
श्रमे प्राधान्यमन्यत्र देयवस्तुसंग्रहाभावात् । वारिणि पीते
तृप्तिरेव जायते तेन पिपासयाऽपीडनमेवोदकदानस्य प्रधा-
नं फलं तृप्तिरेव । अन्नस्योपयोगात्क्षुधार्त्तस्य यः परः प्र-
सादस्तत्रैव विशेषेण सुखपदस्य व्यवहारः । सुखायैव सर्वे
प्राणिनोऽहर्निशं यतन्ते । विशिष्टं च सुखमन्नाधीनमिति
कृत्वाऽन्यापेक्षयाऽन्नाप्तयएवाधिक्येन सर्वे धावन्ति । अत
एव व्यतिरेकेऽन्नाभावे यादृशं दुःखं न तादृशमन्यालाभे के-
मन्यन्ते । भुक्तमन्नं च रसादिधातुरूपेण परिणतं सद्यावज्
ज्जीवं शरीराङ्गं भूत्वा तिष्ठतीदमेवान्नस्याक्षय्यं सौख्यं फ-
लमवसेयम् । तिलेषु च प्रजननशक्तिः प्रधाना यत्र वामा-
नामृतुकालो निरुध्यते सन्तत्यभावश्च दृश्यते तत्रायुर्वेदिका-
स्त्रियास्तिलखादनमादिशन्ति । तिलखादनेनार्त्तवं प्रवर्त्तते
सन्तानोत्पत्तिश्च तदा सम्भवत्येव मात्राबोधस्तु दाने खा-

दनादौ च सर्वत्रैव कार्यएव । स्नेहप्रधानास्तिलाः स्निग्धं प्रियं चापत्यं सर्वस्येष्टम् । सर्वत्रैव सति कारणे कार्यमुत्पद्यते तिलाश्चान्यापेक्षया सन्ततेः प्रधानं कारणम् । दृश्यदर्शने प्रदीपोऽङ्गमतएव केवलेन चक्षुषा प्रदीपेन वा रूपं नोपलभ्यते । सूर्यादयश्च योगार्थेन भवन्त्येव प्रदीपपदवाच्यास्तेन यः प्रकाशं दर्शनाङ्गं ददाति स प्रकाशमेव लभते यथा गालिप्रदातारोऽन्येभ्यो गालिमेवाप्नुवन्ति प्रियवादिनश्च प्रियमेव शृण्वन्त्यन्येभ्यः । हिरण्यं चायुषो बर्द्धकमायुर्वेदे प्रसिद्धम् । "वचाघृतं सुवर्णं च विल्वचूर्णमिति त्रयम् । मेध्यमायुष्यमारोग्यं पुष्टिसौभाग्यवर्द्धनम् ॥" यथा कूपो जलं ददाति तत्रान्यमुदकमितस्तत आगत्य संचीयते तथैव यो यद्ददाति तदभ्याशे तदेवाधिक्येनायाति स तदेवाकर्षति च संसर्गश्च तेन सह तस्याधिकएव जायते संसर्गेण च तत्तद्गुणाः सङ्गिन्याविशन्त्येव । येन यस्मै यद्दीयते स स्वभावेनैव तस्मै तदेव दातुमुत्सहते । यथा कृषिजीविनो वपनकाले पृथिव्या अन्नं ददति सा च ततोऽधिकतरं तदेवान्नमुत्पाद्य ददाति कृषीवलाय, एवं च यो जनः कमपि प्रियं यादृशमन्नं भोजयति स तादृशमेव स्वस्य भोजयितारं भोजयितुं मनः कुरुतइति चराचरे संसारे नियमएव दृश्यते । तद्वदत्रापि सुवर्णदात्रे सुवर्णमेवेह जन्मान्तरे चान्ये सूक्ष्मसंस्कारसंस्कृता ददति । रूपप्राधान्यादेव रूप्यत्वम् । चन्द्रमसि च यद्रूपं तच्च मुख्यं रूपपदवाच्यम् । अतएव चन्द्रमुखीणामेवाधिक्येन रूपवतीत्वं कवयो भणन्ति । चन्द्ररूपं सोमतत्त्वमेव

रूप्ये मुद्राख्येऽपि प्रधानमतः सामान्येन रूपप्रधानवस्तुप्र नशीलो दातोत्तमं रूपमाप्नोति। वाससां शुक्लत्वं प्रधानं स्वा भाविकं कर्पासतूलजत्वादेव। शुक्लत्वं च सोमस्यैवैकान्तिको गुणोऽतस्तादृशशीलश्चन्द्रलोकसुखमश्नुते। अश्वदश्चाश्वस्य वत्वाद्वन्द्वप्रधानत्वात्तल्लोकजं सुखं परत्राप्नोति। अनडुहि ण्यरूपा पुष्टिः प्रधाना श्रीष्मान्नाद्युत्पादनद्वारेण। गोद गवि सूर्यतत्त्वप्रधानत्वात्तादृशलोकसुखं सोऽश्नुते। ब्रह्मदो दस्याध्यापकः स्वयमन्येन वा ब्रह्मणः समान-सृष्टितां ग शुद्धत्वमुक्तत्वादिरूपमाप्नोति। ब्रह्मदानस्यैव सर्वदुःखम त्राद्विमुक्तिः सर्वस्मादुत्तमं फलमतोऽन्यदानापेक्षया ब्रह्मदा विशिष्टमवगन्तव्यम्। येनयेन दृढेन शुद्धेन, मध्यमेनाधमे वा सत्त्वादिगुणस्थेन चेतसा दाता यद्वस्तु ददाति त तादृशमेवोत्तमं मध्यममधमं वा फलमवसेयम्। मात्राव धः संसर्गजन्यफलावाप्तिश्च पूर्ववदत्र सर्वत्रैव धर्मशास्त्रत जिज्ञासुभिर्योज्या ॥ २३४ ॥

भावार्थः-(ऐष्टिकपौर्त्तिकम्) इष्टि यज्ञ वा होमसम्बन्धी और सदावर्त्त गाने आदि द्वारा अन्न, जल धन वस्त्रादि के (दानधर्मम्) दान धर्म का (रितुष्टेन भावेन) शुद्ध सन्तुष्ट चित्त से (पात्रमासाद्य शक्तितो नित्यं निषेवेत) सुपात्र को अन्वेषण द्वारा प्राप्त कर यथाशक्ति स्नातक गृहस्थ नित्य सेवन करे इसी के आगे दो श्लोक पीछे किसी ने प्रक्षिप्त किये हैं जिनका अर्थः-[(यो विप्रः पात्रभूतः प्रतिग्रहं प्रतिगृह्य) जो ब्राह्मण सुपात्र होने पर भी दान कर (असत्सु विनियुञ्जीत) निकृष्ट मनुष्यों को देवे वा नीच कामों में ल (तस्मै देयं न किञ्चन) ऐसे पुरुष को दान कुछ भी कभी न देवे। (यस्तु समन्त प्रतिगृह्य संचयं कुरुते) जो पुरुष सब प्रकार सब किसी नीच ऊंच से दान ले

धनादि पदार्थ जोड़ता है (धर्मार्थं च नोपयुङ्क्ते) और दान लिये हुए धनादि को धर्म कार्यों में नहीं लगाता (तं तस्करं नार्चयेत्) उस चोर सुपात्र विद्वान् का भी दान द्वारा पूजन न करे] (याचितेन यत्किञ्चिदप्यनसूयया दातव्यम्) किसी अन्य ब्राह्मण सुपात्र के मांगने पर जो कुछ समीप हो उस में से थोड़ा भी अन्न वस्त्रादि अपमान न कर के प्रसन्नता के साथ आदर से देवे किन्तु दयाहीन बन के सर्वथा नकार न करे (तत्पात्रं ह्युत्पत्स्यते) वह दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार से सेवन किया थोड़ा २ भी दानधर्म दाता का रक्षक पालक भविष्यत् में शुभफल रूप से अवश्य प्रकट होगा (यत्सर्वतस्तारयति) जो सब ओर से आनेवाले दुःख सागर से पार कर देता है (वारिदस्तृप्तिमाप्नोति) प्याऊ आदि द्वारा जल का दान करने वाला जल से होने वाली तृप्ति को प्राप्त होता (अन्नदोऽक्षय्यं सुखम्) अन्न नाम बने पके भोजन वा आटा सीधादि का प्रायः दान देनेवाला अविनाशी सुख को पाता (तिलप्रदः इष्टां प्रजाम्) तिलों का दान बार २ देने वाला अभीष्ट सन्तानों को (दीपदश्चक्षुरुत्तमम्) दीपकादि के प्रकाश द्वारा अनेकों को सुख पहुंचाने वाला उत्तम चक्षु को (भूमिदो भूमिमाप्नोति) भूमि को देने वा ठहरने के लिये धर्मशालादि बनवाने वाला भूमि को वा अच्छे २ स्थानों ठाहरों को प्राप्त होता है (हिरण्यदो दीर्घमायुः) सुवर्ण का दान देनेवाला दीर्घायु को पाता (गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि) घरों का दान करनेवाला उत्तम २ घरों महलों को पाता (रूप्यदः उत्तमं रूपम्) रुपयों का दान करने वाला उत्तम रूप को प्राप्त होता (वासोदश्चन्द्रसालोक्यम्) वस्त्रों का दान करने वाला चन्द्र लोक सम्बन्धी सुख को प्राप्त होता (अश्विसालोक्यमश्वदः) घोड़ों का दान करने वाला सूर्यचन्द्रमा, स्वर्ग पृथिवी, वा दिन रात्रि आदि दो २ के दोनों सुखों को साथ ही प्राप्त होता (अनडुहः पुष्टां श्रियम्) बैलों का दान करने वाला पुष्ट दृढ़ स्थायिनी लक्ष्मी वा शोभा को (गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम्) गौ का दान करने वाला सूर्य लोक के सुख को प्राप्त होता (यानशय्याप्रदो भार्याम्) सवारी रथ आदि तथा उत्तम खट्वादि शय्या का दान करने वाला उत्तम स्त्री को प्राप्त होता (अभयप्रदऐश्वर्यम्) अभय दान देने वाला ऐश्वर्य को पाता (धान्यदः शाश्वतं सौख्यम्) दानेरूप धान्यान्न का राशि आदिरूप से दान करने वाला निरन्तर सनातन सुख को (ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम्) ब्रह्म नाम वेद का निष्कारण दान देने सम्यक् पढ़ाने सत्य २ वेदाशय का उपदेश करनेवाला पुरुष परमात्मा के तुल्य शुद्धबुद्धमुक्तरूप होता है (सर्वेषामेव दानानां वार्य-

गोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्, ब्रह्मदा • विशिष्यते) पूर्व कहे जल अन्न, वस्त्र, तिल, सुवर्ण, घृत आदि वस्तुओं के सब दानों में वेदविद्या का दान सब उत्तम है (येनयेन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति) जिस २ प्रकार की भावना वि चार वा चित्त से जिस २ वस्तु का दान गृहस्थ देता है (तत्तत्तेनैव भावेन प्र प्नोति प्रतिपूजितः) उस २ को उसी भाव से सत्कार पूर्वक प्राप्त हो जाता है।

भा०-यहां डेढ़ श्लोक में विधिवाक्य और शेष पद्यों में दान संबन्धी प्रशं रूप अर्थवाद हैं। छान्दोग्यब्राह्मणोपनिषद् में लिखा है कि "यज्ञ, वेदाध्ययन, दान देना ये मुख्य कर धर्म के तीन बड़े २ भाग हैं" और उस दान धर्म की हाश्रम में प्रधानता इस से है कि अन्याश्रम में देने योग्य अन्न धनादि वस्तु का संग्रह ही नहीं होता। जल की प्यास लगी हो तब जल के पीने वा मि पर जो सुख होता वही तृप्ति कहाती है । इस कारण जल मिलने के वि पीड़ित न होना ही जल दान का प्रधान फल तृप्ति ही है । जल का दान रने वाले के समीप जल का आवागमन अवश्य ही रहेगा और समीप रहने उस के अभाव में होने वाला दुःख भी उस को न होगा। तथा जल देने के भाव वाले को अन्य लोग भी जल के द्वारा ही तृप्त करने की चेष्टा स्वयमेव गे यह एक स्वाभाविक नियम है । क्षुधार्त्त-भूख से दुःखित पुरुषको अन्न मि ने से जो अधिक प्रसन्नता होती है उसी में विशेष कर सुख पद का व्यवहार होता है। सुख के लिये ही सब प्राणी दिन रात प्रयत्न करते हैं और सुखका अधिक भा अन्न के आधीन है ऐसा मानकर अन्य वस्तु प्राप्त करने की अपेक्षा अन्नप्राप्ति लिये ही अधिकता से सब प्राणी वा अप्राणी दौड़ते वा चेष्टा करते हैं। इ कारण अन्न के न मिलने पर जैसा दुःख प्राणियों को होता वा वे मानते हैं वै अन्य वस्तु के न मिलने पर नहीं मानते। और खाया हुआ अन्न रसादि धातु के रूप से परिणाम को प्राप्त हुआ शरीर का भाग बन के जीवन पर्यन्त ठहर है यही अन्न का अक्षय सुख फल होना जानो । और तिलों में प्रजनन श मुख्य है । इसी से जहां स्त्रियों का ऋतुमती होना रुकता है और इसी से न्तान भी नहीं होते वहां सुश्रुतादि आयुर्वेदी लोग स्त्री को तिल खिलाने आज्ञा देते हैं । प्रधान चिकित्सा ग्रन्थों में ऐसा लेख स्पष्ट मिलता है । ति खिलाने से ऋतुकाल होता यह अनुभूत विषय है और तब ऋतुकाल होने सन्तानोत्पत्ति भी प्रायः अन्य किसी प्रबल रुकावट के न होने पर होती है । परन्तु दान देने और तिल खाने आदि प्रत्येक काम में मात्रा का बोध

होना ही चाहिये । जैसे पैसा भर अन्न का खाना भी कुछ भी न खाने की अपेक्षा खाना माना जायगा । परन्तु सेर भर खाने वाले को पैसा भर अन्न इतनी क्षुधा की शान्ति करेगा जो न खाया माना जाय । इसी के अनुसार तिलों का थोड़ा कभी कहीं दान और कभी पैसा धेला भर तिलों का खालेना वैसा उपकारी न होगा जिस को सफल हुआ कहा जाय । तिलों में चिकनाई स्नेह गुण प्रधान है । और स्निग्ध प्रिय लावण्यादि गुण युक्त ललित दर्शनीय सन्तान सब को इष्ट होता है । चिकनाई स्निग्धता ही दर्शनीय होने का कारण है । कारण गुण कार्य में आता और कारण के ठीक होने पर ही कार्य होता है और अन्य कारणों की अपेक्षा सन्तानोत्पत्ति के प्रधान कारण तिल हैं । इस प्रकार तिलदाता में तिलों का प्रधान गुण धीरे २ बढ़ता वा अन्यों के द्वारा आता है जिस का परिणाम अभीष्ट सन्तति होती है । घटपटादि दृश्य को देखने में प्रदीप अङ्ग वा रूप बोध के साधन का एक भाग है । इसी कारण केवल चक्षु वा केवल दीपक से रूप का बोध नहीं होता । सूर्यादि भी यौगिक अर्थ से प्रदीप शब्दवाच्य माने ही जायंगे इस कारण जो देखने के अङ्ग प्रकाश को देता है उस को प्रकाशरूप उत्तम चक्षु ही मिलते हैं । जिस से देखें वह चक्षु इस अर्थ से दीपक को भी चक्षु और जो दिखावे जतावे प्रदीप्त प्रसिद्ध करे वह दीपक इस अर्थ से चक्षु को भी दीपक मान सकते हैं क्योंकि दोनों तैजस हैं । जैसे गाली देने वाले लोग अन्य से गाली ही पाते हैं और प्रिय कोमल सत्य हित बोलने वाले भी अन्यों से वैसा ही वचन सुनते वा अन्य भी उन से वैसा ही बोलते हैं । सुवर्ण आयु को बढ़ाने वाला आयुर्वेद में प्रसिद्ध है कि " वचासाधितघी, सुवर्ण और विल्वचूर्ण ये तीनों बुद्धि, आयु, आरोग्य पुष्टि और सौभाग्य को बढ़ाने वाले हैं " सुवर्ण सार होने से स्वयं भी चिरस्थायी वा दीर्घायु है इसी कारण खाने वा पास रखने से आयु को बढ़ाता है । जिस में जो गुण होता उस के सङ्ग से वही गुण सङ्गी में आया करता है । जैसे कुआ जल को देता तो उस में इधर उधर से आकर अन्य जल संचित होजाता वैसे ही जो जिस वस्तु का दान लोभादि त्याग के धर्म बुद्धि से करता है उस के समीप अधिकता से वही वस्तु आता अथवा वह उसी को खेंचता है इस कारण उस के अधिक उस का मेल भी अधिक ही होता है और मेल से उस २ के गुण सङ्ग करने वाले में प्रविष्ट होते ही हैं । जो जिस को जिस वस्तु का दान करता वह स्वभाव से ही उस दाता को वही वस्तु देने का उत्साह करता है । जैसे किसान

लोग बोने के समय पृथिवी को अन्न देते और वह पृथिवी उसी अन्न को कि भी बहुत अधिक उत्पन्न करके किसान को देती है। इसी प्रकार जो मनुष्य को जैसा अन्न भोजन कराता है वह वैसे ही अन्न से अपने भोजन कराने को भोजन कराने के लिये चेष्टा करले इस प्रकार चराचर संसार में यह नि ही दीखता है। उसी के अनुसार यहां भी सुवर्ण दाता के लिये इस जन्म जन्मान्तर में सूक्ष्म संस्कारों से संस्कृत प्रतिग्रहीता लोग सुवर्ण ही देते हैं। की प्रधानता से ही रूप्य-रुपया कहाता, चन्द्रमा में जो रूप है वही मुख्य शब्द का वाच्यार्थ है। इसी कारण चन्द्रमुखी सुन्दरी स्त्रियों को ही मुख्य कवि लोग रूपवती कहते मानते हैं क्योंकि वेद में लिखा है कि "सोमो अधिश्रितः" सोमतत्त्व रूप चन्द्रमा गौरी स्त्रियों में अधिक ठहरा है। रूप सोमतत्त्व ही रुपया में प्रधान है इस से सामान्य कर रूपप्रधान रु दि वस्तुओं का दान शील दाता पुरुष उत्तम रूप को प्राप्त होता है। और रुई से उत्पन्न होने के कारण वस्त्रों में शुक्लता रूप प्रधान वा स्वाभा है। अन्य कृत्रिम रंग छूटने पर पुनरपि वस्त्र श्वेत ही निकल आते। और ता सोम का ऐकान्तिक गुण है इस से रूप प्रधान वस्तुओं का दान शील पु चन्द्र लोक सम्बन्धी सुख का भागी होता। अश्वनाम घोड़े में देवताद्वन्द्व धान है इस से अश्व को देने वाला देवताद्वन्द्व लोक सम्बन्धी सुख को पात कामासक्ति की अधिक प्रबलता घोड़े में चन्द्रमा का और शीघ्रगामी हो तथा रक्त—लाल वर्ण सूर्य का प्रधान गुण है इस प्रकार अश्व में देवताद्वन्द्व और अश्वि भी देवताद्वन्द्व हैं। बैल में पुष्टि प्रधान है। और अन्नादि को त्पन्न करने द्वारा श्री—लक्ष्मी भी है। गौ में सूर्य तत्त्व प्रधान है इस से गोदा शील वैसे सूर्यलोक के सुख को प्राप्त होता है। स्वयं वा अन्य के द्वारा वेद पढ़ाने वा पढ़वाने वाला ब्राह्मण नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वरूपतादि रूप ब्रह्म ईश्वर की तुल्यता को प्राप्त होता। विद्यारूप वेद के दान काही सब दुःख से छूटना सब से उत्तम फल है। इस कारण अन्य दानों की अपेक्षा ब्रह्म का विशेष उत्तम फल जानो। जिस २ प्रकार के दृढ़ शुद्ध उत्तम मध्यम नि भाव से दाता जिस २ वस्तु को देता है उस का वैसा ही उत्तम मध्यम नि फल भी होता जानो। मात्रा का बोध और तदनुसार सङ्ग से होने वाले की प्राप्ति पूर्व के तुल्य यहां भी सर्वत्र धर्मशास्त्र के तत्त्व जिज्ञासुओं को लग लेनी चाहिये ॥ २३४ ॥

योऽर्चितंप्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेवच ।
तावुभौगच्छतःस्वर्गं नरकन्तुविपर्यये ॥
नविस्मयेततपसा वदेदिष्ट्वाचनानृतम् ।
नार्त्तोऽप्यपवदेद्विप्रान् नदत्त्वापरिकीर्त्तयेत् ॥
यज्ञोऽनृतेनक्षरति तपःक्षरतिविस्मयात् ।
आयुर्विप्रापवादेन-दानंचपरिकीर्त्तनात् ॥२३७॥

अ०-यः सत्कारपुरस्सरं ददाति यस्तथा प्रतिगृह्णाति च तावुभौ शुभवासनासंचयाद्यथोचितं सुखविशेषमाप्नुतो विपर्यये तु दुःखविशेषम् । तपसा सह वर्त्तमानो न विस्मयेत सन्देहं भयं च न कुर्यात् किं भविष्यतीति । यज्ञं कुर्वाण आदौ मध्येऽन्त्ये चानृतं न वदेत् । आर्त्तो दुःखितोऽपि विप्रान्मेधाविनो ब्राह्मणान्नापवदेत् । दानं दत्वा च न परिकीर्त्तयेत् । यज्ञस्य मनसा प्रधानः सम्बन्धो मनश्चानृतभाषणेन दुष्यति तेनैव यज्ञः क्षरति । तपसः परिणामः शुद्धिः, सन्देहेन भयेन चाभ्यन्तरा शुद्धिर्नश्यति । शुद्धविप्राणां सङ्गेनायुर्वर्धते विप्रापवादी दुःसङ्गदोषात्क्षीणायुः सम्पद्यते । दानस्य फलं कालान्तरे स्वोपकारस्तच्च परिकीर्त्तनेन कीर्त्तिरेव सद्यः फलमापद्यते ॥

भा०-अत्र पूर्वं पद्यमुक्तदानविधौ दानग्रहणयोः सत्कारप्रकारबोधनार्थम् । द्वितीये विधिचतुष्टयमन्त्ये च निन्दार्थवादः । व्रतोपायनमेव यज्ञे प्रधानमिति कृत्वा शतप-

धब्राह्मणारम्भएव व्रतोपायनमुक्तम् । तच्च-अग्ने व्रत व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयमित्यादिरूपं सत्याचरणप्रतिज्ञान म्। सर्वेष्वेव साध्यकार्येषु प्रधानाङ्गापाये तस्य कार्यस्यासि द्धिरेव जायते । यज्ञे च बाह्याभ्यन्तरशुद्धिरूपं सत्यमेव प्र धानमङ्गं तदभावे स नष्टकल्पएव बोध्यः । तपसि सह शीलत्वं प्रधानं तस्मिन्सति निर्विकल्पं चेतः समाधीयते विस्मयेन च समाधानं व्याहन्यते तेन तपोवैयर्थ्यं स्फु मेव । सत्सङ्गेन सत्कर्मसु प्रवृत्तिर्वर्धते विप्रापवादी च प्रकर्माण्यप्यपवदत्येव न च तदा स शुभकर्मानुष्ठातुं शक्नो ति प्रत्युत दुःसङ्गेनाशुभं कर्मानुष्ठातुं प्रवर्त्तते तेनायुर्नश्य ति। दानस्य च हृदि सन्तोषादिरूपेण संचिताः शुभसंस्का रा बद्धमूलाः कालेन महान्ति फलान्युत्पादयन्ति । कीर्ति रूपफलस्य च सद्योभोगागतत्वाद् दानपरिणामस्तदैव न श्यति । तस्माद्यथोद्दिष्टफलावाप्तये यज्ञादय उक्तप्रकारेणै व साध्याः ॥ २३७ ॥

भाषार्थः-(योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति) जो आदर सत्कार प्रसन्नता वा श्रद्धा पू दिये पदार्थ का ही दान लेता किन्तु अश्रद्धा वा अनादर से दिये को नहीं ले (ददात्यर्चितमेव च) और जो श्रद्धा वा आदर प्रसन्नता से ही दान देता है श्रद्धा से नहीं (तावुभौ स्वर्गं गच्छतः) वे दोनों शुद्ध वासनाओं के संचयरूप से यथोचित सुख विशेष स्वर्ग को ही प्राप्त होते हैं (विपर्यये तु नरकम्) इस से उलटा अश्रद्धा अनादर के साथ दान लेने देने से नरक को प्राप्त होते (तपसा न विस्मयेत) तप करता हुआ पुरुष सन्देह वा भय न करे किन्तु तथा साहस और विश्वास के साथ दृढ रहे । ऐसा होजाय तो क्या होगा इत्यादि प्रकार सन्देह न किया करे (इष्ट्वा चानृतं न वदेत्) यज्ञ करता हु मिथ्या वा असंबद्ध अशुद्ध अनुचितादि वचन कदापि न बोले (आर्त्तोऽपि

प्राज्ञापवदेत्) अच्छे श्रेष्ठ धर्मात्मा विद्वान् प्राज्ञ ब्राह्मणों से अपने को कुछ दुःख पहुंचने पर भी उन की निन्दा न करे (दत्त्वा न परिकीर्त्तयेत्) दान देकर अपनी ओर से स्वयं प्रसिद्धि करने कराने का उद्योग न करे (अनृतेन यज्ञः क्षरति) मिथ्या भाषण से यज्ञ नष्ट होजाता है क्योंकि मन के साथ यज्ञ का मुख्य सम्बन्ध है "मनो यजुर्वेदः" यह शतपथ ब्राह्मण में लिखा है यजु, यज्ञ, मन, उपासना, संस्कृति, ये सब एकही के नाम हैं और मिथ्याभाषणादि से मन दूषित होता इसी कारण यज्ञ क्षीण होता है (विस्मयात्तपः क्षरति) विस्मय करने से तप क्षीण होजाता है क्योंकि तप का परिणाम वा उद्देश शुद्धि है सो सन्देह वा भय से भीतरी शुद्धि वा प्रसन्नता नष्ट होजाती (विप्रापवादेनायुः) ब्राह्मणों की निन्दा से आयु घटता क्योंकि शुद्ध विद्वान् बुद्धिमान् धर्मनिष्ठों के सङ्ग से शुभ गुण आने द्वारा आयु बढ़ता है इसी कारण विपरीताचरण से आयु का नाश होता है (दानं च परिकीर्त्तनात्) कीर्त्ति की चाहना से किया दान भी नष्ट हो जाता क्योंकि कालान्तर में अपना यथोचित उपकारक होना ही दान का मुख्य फल है। सो वह कीर्त्तन से वहीं समाप्त हो जाता है ॥

भा०-इन में पहिला श्लोक पूर्वोक्त दानविधि विषयक देने लेने के सम्यक् प्रकार को जताने के लिये है। द्वितीय श्लोक में चार विधिवाक्य हैं और अन्त्य में अर्थवाद है। यज्ञरूप कर्म में व्रतोपायनप्रधानाङ्ग मानकर शतपथ ब्राह्मण के आरम्भ में ही व्रतोपायन कहा है सो (अग्ने व्रतपते०) हे व्रतपति अग्नि मैं सत्याचरण रूप व्रत करूंगा उस को ठीक कर सकूं इत्यादि प्रकार सत्याचरण की प्रतिज्ञा करना ही व्रतोपायन कहाता है। सभी साध्य कार्यों में प्रधान अङ्ग के न होने पर उस कार्य का न होना ही माना जाता है। जैसे इंधन, चौका चूल्हा बर्त्तन पानी, पाचकादि सभी के होने पर भी केवल एक प्रधानाङ्ग आटा, चावल दाल के न होने पर भोजन नहीं बन सकता। और यज्ञ में बाह्याभ्यन्तर शुद्धिरूप सत्य ही प्रधान अङ्ग है उस के न होने पर यज्ञ को नष्टप्राय ही जानो। तप में सहन शीलता होना प्रधान इस कारण है कि शीतोष्णादि द्वन्द्वसहन का ही नाम तप है। शीतोष्णादि को सहलेने पर निस्सन्देह चित्त समाधिस्थ हो जाता है। और सन्देह होने से चित्त की एकाग्रता बिगड़ जाती है तिससे स्पष्ट ही तप व्यर्थ वा नष्ट हो जाता है। सत्सङ्ग से सत्कर्मों में प्रवृत्ति बढ़ती है। और ब्राह्मणों का निन्दक उन के सन्ध्यादि कर्मों की भी निन्दा क-

रता ही है तब वह शुभ कर्मों का सेवन भी नहीं करसकता प्रत्युत दुष्ट सङ्कल्प अशुभ कर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता उस से आयुक्षीणहोता जाता है। और संतोषादिरूप से हृदय में संचित हुए दान धर्म के शुभ संस्कार काल पाकर दृढ़ बद्धमूल हो के बड़े २ शुभ फलों को उत्पन्न करते हैं। और दान का कीर्ति फल शीघ्र भोग में आजाने से दान का परिणाम वहीं नष्ट हो जाता है। इस कारण पूर्वोक्त उत्तम फल प्राप्ति के लिये यज्ञादि उक्त प्रकार से ही करने चाहिये। ॥ २३७ ॥

धर्मंशनैःसंचिनुयाद्-वल्मीकमिवपुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं-सर्वभूतान्यपीडयन् ॥
नामुत्रहिसहायार्थं-पितामाताचतिष्ठतः।
नपुत्रदारानज्ञाति-र्धर्मस्तिष्ठतिकेवलः ॥
एकःप्रजायतेजन्तु-रेकएवप्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्तेसुकृत-मेकएवचदुष्कृतम् ॥
मृतंशरीरमुत्सृज्य-काष्ठलोष्टसमंक्षितौ।
विमुखाबान्धवायान्ति-धर्मस्तमनुगच्छति ॥
तस्माद्धर्मंसहायार्थं-नित्यंसंचिनुयाच्छनैः।
धर्मेणहिसहायेन तमस्तरतिदुस्तरम् ॥
धर्मप्रधानंपुरुषं तपसाहतकिल्बिषम्।
परलोकंनयत्याशु भास्वन्तंखशरीरिणम्॥२४३॥

अ०—नित्यंनित्यं यज्ञाध्ययनदानान्यल्पाल्पान्यपि सेवमानो महान्तं धर्मसंचयं करोति। यश्च भूतानि मनो-

वाक्कायैः पीडयति स यज्ञादिकं प्रत्यहं सेवमानोऽपि धर्म-संचयं नाप्नोत्येव । जन्मान्तरे सहायार्थं पिता माता पुत्रो दारा ज्ञातयश्च नहि तिष्ठन्ति किन्त्वेको धर्मएव तिष्ठति । तस्मात्पित्रादिपालनपोषणप्रसादाद्यर्थमप्यधर्ममकुर्वन् धर्म-मेवाचरेत् । सर्वो जन्तुर्जीवः प्रसवकाले एकएवोत्पद्यते एकएव च म्रियते न कोऽपि तेन सह जायते म्रियते वा त-थाचैकएव स्वनिष्पादितसुकृतदुष्कृतयोः शुभमशुभं च फलं भुङ्क्ते यः कुपथ्यमन्नं भुङ्क्ते तस्यैवोदरं पीड्यते नान्यस्य तस्माद्दुःखफलभोगभयेनाधर्मं हित्वा धर्मः सेव्यः । मृतं श-रीरं श्मशानादिषूत्सृज्य बान्धवाः प्रत्यावर्त्तन्ते नतु देहा-न्निस्सृतजीवेन सह बान्धवा गन्तुं शक्ताः, धर्मश्च सूक्ष्मत्वा-ज्जीवेन सह गच्छत्येव । तस्मात्पूर्वतः शनैः संचितं सहा-यार्थं प्रदीपमिव धर्ममुपादाय गच्छन्देहान्निःसरन् दुस्तर-मन्यप्रकारेण तर्त्तुमशक्यं तमस्तरति । धर्मपरायणं तपसा शोधनप्रकारेण हतकल्मषमलं भास्वन्तं शुद्धं खशरीरिण-माकाशवन्निर्लिप्तं पुरुषं पुंस्त्वविशिष्टं जीवात्मानं शनैः संचितो धर्म आश्वेव परलोकं नयति ॥

भा०—सर्वाण्येव कार्याणि शनैः संचितानि बद्धमूला-नि बृहदुत्तमफलानि च भवन्त्येव । यथामहानपि वृक्षः कुतश्चिदुत्थापितोन्यत्र धृतोऽप्यबद्धमूलत्वाच्छुष्यति । तत्रै-व शनैः संचितो बद्धमूलश्चैकदा जलादिसाधनाभावेऽपि ति-ष्ठत्येव । शनैः क्रियमाणं कालेन प्रत्यङ्गं व्याप्नोति । प्रत्य-

ङ्क्व्याप्तिरेव विशिष्टदार्ढ्यस्य कारणम् । यः कोऽपि यज्ञा-ध्ययनदानादिरूपं धर्ममारचन्नपि हिंसाद्यधर्मं न जहाति नासौ सम्यगुचितं धर्मफलं लभते । अत्र प्रथमपद्ये वि-धिरन्येषु च प्रशंसार्थवादाएव सन्ति । ते च सम्यगालोच-नेन सत्याएव प्रतीयन्ते ॥२४३॥

भाषार्थः-(परलोकसहायार्थम्) जन्मान्तर, देशान्तर लोकान्तर में सहायता मिलने दुःख से बचने के लिये (सर्वभूतान्यपीडयन्) सब प्राणियों को पीड़ा वा दुःख न देता हिंसारूप अधर्म को बचाता हुआ ब्राह्मणादि पुरुष (पुत्तिका वल्मीकमिव) चीटी आदि जन्तु जैसे एक २ छोटा २ दाना जोड़ २ अपने बि-ल [भिले] रूप घर को भर लेती वैसे (शनैर्धर्मं संचिनुयात्) धीरे २ धर्म का संचय करे अर्थात् वेदाध्ययन, यज्ञ और दानरूप तीनों प्रकार के धर्म को थो-ड़ा २ यथाशक्ति नित्य करता हुआ जन्म भर में वहुतसा धर्म संचित कर लेता है और अन्य प्राणियों को दुःख पहुंचाने वाला ब्रह्मयज्ञादि करता हुआ भी धर्म में संचय नहीं करपाता (अमुत्र सहायार्थं पिता माता च न तिष्ठतः) जन्मान्तर वा लोकान्तर में सहायता देने के लिये पिता माता नहीं पहुंचते (न पुत्र दारा न ज्ञातिः) न स्त्री न पुत्र न कुटुम्बी पहुंचते हैं किन्तु (केवलो धर्मस्तिष्ठति) एक धर्म ही वहां सहायता कर सकता है (जन्तुरेकः प्रजायतएकएव प्रलीयते) प्रत्येक जीव प्रसव के समय अकेला उत्पन्न होता और मृत्युकाल में अकेला ही मरता है उस के साथ कोई भी स्त्री पुत्रादि जन्मता मरता नहीं तथा (एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्) अकेला ही अपने किये शुभ कर्म का अच्छा फल भोगता और अकेला ही दुष्कर्म का बुरा फल भोगता है । जो कुपथ्य अन्न को खाता उसी का पेट पिड़ाता स्त्री पुत्रादि पीड़ा को नहीं ले सकते । तिस से पितादि के पालन पोषण और प्रसन्नतादि के लिये भी अधर्म को न करता हुआ धर्म करे और दुःख फल भोग के भय से भी अधर्म को छोड़ के धर्म का सेवन करे (काष्ठलोष्ठ-समं मृतं शरीरं क्षितावुत्सृज्य) लकड़ी ढेलादि के समान मरे हुए मुर्दा शरीर को श्मशानादि भूमि में छोड़ वा जलाके (बान्धवा विमुखा यान्ति) कुटुम्बी लोग मुख फेर के लौट आते हैं (धर्मस्तमनुगच्छति) परन्तु धर्म उस मृतक जीव के पीछे

साथ जाता ही है (तस्मात्सहायार्थं धर्मं शनैर्नित्यं संचिनुयात्) तिस से बहुत काल तक धीरे २ संचित किये दीपक के तुल्य प्रकाश स्वरूप शुद्ध धर्म का सहायता के लिये नित्य संचय करता रहे क्योंकि (धर्मेण हि सहायेन दुस्तरं तमस्तरति) धर्म की सहायता से ही अज्ञानान्धकाररूप अगाध पाप समुद्र के पार हो सकता है (धर्मप्रधानं पुरुषम्) धर्मपरायण धर्मनिष्ठ (तपसा हतकिल्बिषम्) शोधनार्थ किये तपाने रूप तप से नष्ट हुआ है पाप रूप मल जिस का ऐसे (भास्वन्तं खशरीरिणम्) आकाश के तुल्य निर्लिप्त प्रकाशमय शुद्ध सूक्ष्म शरीर वाले पुरुष नाम पुंस्त्व शक्ति प्रधान जीवात्मा को धीरे २ संचित किया धर्म (परलोकमाशु नयति) शीघ्र ही उत्तम लोक वा उत्तम दशा में पहुंचाता है ॥

भा०—सभी संसार के कार्य धीरे २ किये जिन की मूल वा जड़ ठीकदृढ बंध गयी ऐसे हुए बड़े उत्तम फल वाले होते हैं। जैसे बड़ा और अच्छा भी वृक्ष कहीं से खोदकर कहीं अन्यत्र लगाया जाय तो जड़ न बंधने से जलादि सामान मिलने पर भी सूख जाता और वहां धीरे २ बढ़ा जड़ पकड़ा एकसमय नैमित्तिक जलादि साधन के न मिलने पर भी हरियाता रहता है। जो काम धीरे २ किया जाता है वह अधिक काल में सर्वांश में व्याप्त हो जाता और प्रत्यङ्ग व्याप्ति ही सर्वत्र अधिक दृढ़ता का कारण है। जो कोई वेदाध्ययन, यज्ञ और दानादिरूप धर्म का आचरण करता हुआ भी हिंसादि अधर्म को नहीं त्यागता उसको धर्म का उचित सम्यक् फल नहीं मिलता यदि कुछ मिलता है तो वह इतना कम जो न मिलने में गिनाजाय। यहां पहिले एक श्लोक में विधिवाक्य है तथा अगले सब श्लोकों में धर्म संचय के प्रशंसार्थवाद हैं। वे सब प्रशंसा विचार पूर्वक सोचने से सत्य ही हैं ॥ २४३ ॥

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह ।
निनीषुःकुलमुत्कर्ष मधमानधमांस्त्यजेत् ॥
उत्तमानुत्तमान्गच्छन् हीनान्हीनांश्चवर्जयन् ।
ब्राह्मणःश्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेनशूद्रताम् ॥

दृढकारीमृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् ।
अहिंस्रोदमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गंतथाव्रतः॥२४

अ०—कुलमुत्कर्षं निनीषुर्ब्राह्मणादिर्द्विजः स्नातक उ
त्तमैरुत्तमैः सहैव नित्यं ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेदध
मानधमांश्च त्यजेत्तद्द्वयं कुर्वन् सत्सङ्गेन श्रेष्ठतां दुःसङ्गेन
शूद्रतामेति । यथा शुद्धं भोज्यमप्यन्नं मलसङ्गेन दूषि
त्याज्यं सम्पद्यते। यथा वा कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति
सतां शिरः । दृढकारी दृढमेव कर्म कर्त्तुं तच्छीलो मृदुः
निष्ठुरो दान्तो जितेन्द्रियः क्रूराचारैस्त्यक्तसङ्गोऽहिंस्रो हिं
सातो निवृत्तो दमेन मनोनिग्रहेण दानेन च युक्तस्तथाव्रत
सर्वेष्वेव तत्परस्तच्छीलस्तन्निष्ठः स्वर्गं जयेद्विशिष्टं सुखमा
प्तुं शक्तः स्यात् ॥

भा०—सर्वधर्माङ्गेषु द्वयमेव प्रधानं निकृष्टचराचरतो
निवृत्तिरुत्कृष्टसङ्गश्च तेन सहैव दृढकारित्वादिकं च॥२४६

भावार्थः—(कुलमुत्कर्षं निनीषुः) कुल की उत्तमता वा प्रशंसा चाहता
हुआ ब्राह्मणादि स्नातक द्विज (उत्तमैरुत्तमैः सह नित्यं सम्बन्धानाचरेत्) उ
त्तमों उत्तमों के साथ नित्य ही विद्या, धर्म विषयक वा विवाहादि नामक स
म्बन्धों का आचरण करे अर्थात् अपने से उत्तमों के साथ सदा मेल करता रहे
और (अधमानधमांस्त्यजेत्) अपने से विद्या कुल, वा प्रतिष्ठा में छोटों २ के
साथ सम्बन्ध त्यागता रहे (उत्तमानुत्तमानूगच्छन् हीनान्हीनांश्च वर्जयन्) उत्त
उत्तमों से मेल करता हुआ और छोटों २ को छोड़ता हुआ (ब्राह्मणः श्रेष्ठता
मेति) ब्राह्मण श्रेष्ठता को प्राप्त होता और (प्रत्यवायेन शूद्रताम्) इस से उलटा
करता अर्थात् उत्तमों से मेल न करके नीचों २ का संग करता हुआ नीचता
शूद्रभाव को प्राप्त होता है। जैसे भोजन करने योग्य शुद्ध भी अन्न मल के स
मीप धरने से दूषित हुआ त्याज्य हो जाता है अथवा जैसे अति नीच कीड़ा

फूलों के साथ मेल करके अच्छे श्रेष्ठ पुरुषों के शिर पर पहुंचता है वैसे प्रत्येक मनुष्य सङ्ग के गुण दोषों से बढ़ता घटता है (दृढकारी मृदुर्दान्तः) दृढ़ता के साथ कर्म करने, कठोरता निठुरता से रहित जितेन्द्रिय (क्रूराचारैरसंवसन्) दुष्ट दुराचारी लोगों का सङ्ग न करता हुआ (अहिंस्रो दमदानाभ्याम्) हिंसादि पाप से पृथक् वर्त्तमान तथा मन के वशीकरण और दानधर्म से युक्त (तथाव्रतः स्वर्गं जयेत्) सब दृढ़कारित्वादि गुणों में तत्पर तत्स्वभाव और तन्निष्ठ हुआ स्वर्ग नाम विशेष सुख को प्राप्त कर सकता है ॥

भा०–धर्म के सब अङ्गों वा अंशों में दो बातें प्रधान हैं–जड़, चेतन–सब नीचों का सङ्ग छोड़ना और अच्छे शुद्धों का सङ्ग करना अर्थात् कुसङ्ग से बचना और सत्सङ्ग करना इस के साथ ही दृढ़कारी, कोमल, क्षमाशील, जितेन्द्रिय होना, मन को वश में करना हिंसा का त्याग और दानशील परोपकारी होना वर्तने में अधिकांश धर्म का सेवन आ जाता है ॥ २४३ ॥

एधोदकंमूलफल–मन्नमभ्युद्यतंचयत् ।
सर्वतःप्रतिगृह्णीयान्–मध्वथाभयदक्षिणाम् ॥
आहृताभ्युद्यतांभिक्षां–पुरस्तादप्रचोदिताम्
मेनेप्रजापतिर्ग्राह्या–मपिदुष्कृतकर्मणः ॥
नाश्नन्तिपितरस्तस्य–दशवर्षाणिपञ्चच ।
नचहव्यंवहत्यग्नि–र्यस्तामभ्यवमन्यते ॥

[चिकित्सककृतघ्नानां शिल्पकर्त्तुश्चवार्द्धुषेः ।
षण्ढस्यकुलटायाश्च उद्यतामपिवर्जयेत् ॥
नविद्यमानमेवंवै प्रतिग्राह्यंविजानता ।
विकल्प्याविद्यमानेतु धर्महीनःप्रकीर्तितः ॥ २ ॥]

शय्यांगृहान्कुशान्गन्धा–नपःपुष्पंमणीन्दधि ।
धानामत्स्यान्पयोमांसं शाकंचैवननिर्णुदेत् ॥

२८

गुरून्भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्-नर्चिष्यन्देवताति
थीन्। सर्वतःप्रतिगृह्णीयान्नतुतृप्येत्स्वयंततः
गुरुषुत्वभ्यतीतेषु-विनावातैर्गृहेवसन्।
आत्मनोवृत्तिमन्विच्छन्-गृह्णीयात्साधुतःस
॥ २५२ ॥

भा०—इन्धनमुदकं मूलं फलमन्नं मधु च यदभ्युद
मयाचितेन स्वयमेव श्रद्धया दीयमानमथाभयदक्षिणां
सर्वतो निकृष्टान्निषिद्धादपि प्रतिगृह्णीयात्। आहृता चास
वभ्युद्यता तां दात्रा दूरतो दातुमानीतां सम्मुखे कृत्वा गृह्ण
त्विति प्रार्थनया दीयमानां पूर्वं प्रतिग्रहीत्रा स्वयमन्यद्वार
वाऽयाचितामेवं भूतां दुष्कृतकर्मणोऽपि जनस्य भिक्षामन्न
वस्त्रधनादिरूपां प्रजापतिः प्रजापालकः प्रामाणिकानामु
त्तमकोटिमाप्तो मनुर्ग्राह्यां मेने स्वीकृतवानिति भृगुराह
पूर्वपद्यस्यैव स्पष्टार्थोऽयमनुवादः। यईदृशां तां भिक्षामभ्य
वमन्यते तिरस्करोति नादत्ते तस्य पञ्चदशवर्षाणि पित
कव्यं नाश्नन्ति देवेषु प्रधानोऽग्निर्हव्यं च न वहति। पूर्व
पद्यस्यायं निन्दार्थवादः। अस्यैवाग्रे चिकित्सकस्येत्यादि
पद्यद्वयं केषुचिदेव पुस्तकेषूपलभ्यते तस्यार्थविशेषः प्राक्
द्रष्टव्यः। शय्यां गृहान् कुशान्कर्पूरादिगन्धप्रधानद्रव्याणि
जलं पुष्पं मणीन्दधि धाना भृष्टमन्नं मत्स्यान् पयः क्षी
मांसं शाकं चैव न निर्णुदेत्प्राप्तमयाचितमागतं नैव निरा
कुर्यादपितु गृह्णीयादेव। गुरून् पित्राचार्यादीन्भृत्यान्पुत्र
कलत्रादींश्चोज्जिहीर्षन् क्षुत्पीडातउद्धर्तुमिच्छन् देवताति

र्थीश्चार्चिष्यन्सर्वतः शूद्रातिशूद्रेभ्योऽपि धनान्नादिकं प्रतिगृह्णीयात्तेनान्नधनादिना स्वयं न तृप्येत्तेषामेवार्चनं पालनं च कुर्यात्। गुरुषु पित्रादिष्वभ्यतीतेषु मृतेषु तेषां जीवत्कालेऽपि तैर्विना गृहे वसन् स्नातकः स्वस्यैवोपजीवनमन्विच्छन्सदा साधुत एव गृह्णीयान्नतु सर्वतइति ॥

भा०—प्रथमपद्येऽभ्युद्यतमिति पदं प्रत्येकैधादिना संबद्धं बोध्यम्। अन्नं चात्रानापद्याममेव विज्ञेयमापदि तु पक्वस्यापि सर्वतो ग्रहणं नानुचितम्। अमृतं स्यादयाचितमिति पूर्वमुक्तं याचितापेक्षया तस्योत्तमत्वं नतु शिलोञ्छापेक्षयाऽतोऽयाचितवृत्तेरेवायं सर्वः प्रपञ्चो बोध्यः। अत्र २४९। २५० पद्ये चिन्त्ये,तत्र पूर्वपद्ययोर्या विधिस्तेनादानविधानादेवानादाननिषेधोऽर्थापत्तितएव सिद्धः। तथापि कश्चिन्नाददीत चेन्नासौ पापभाग् भवति। प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यतइति मनुनैवोक्तत्वादादानापेक्षयाऽनादानं श्रेष्ठमेव। याचनापुरस्सरनीचादितश्चादानापेक्षया चायाचितादानमाधिक्येन धर्मसम्बद्धं सन्तोषरक्षणादिति ग्रन्थकाराशयः। द्वितीयं च शय्यामिति पद्यं निरर्थकमिव भाति। एधोदकमित्यादौ श्लोकएधादीनामुपलक्षणार्थत्वाच्छय्यादीनामप्ययाचितानामादानमागतमेवेति पुनरुक्तम्। मत्स्यमांसयोरभक्ष्यत्वं च यक्षरक्षःपिशाचान्नमित्यादिनैकादशे वक्ष्यति। तयोरादानं भक्षणार्थं चेच्छास्त्राशयविरुद्धम्। कश्चिद्गृहीत्वा मांसभक्षिश्वादिजन्तुभ्यो दद्यात्तदा नायं दोषः। शिलोञ्छवृत्त्यपेक्षयाऽयाचितप्रतिग्रहो निकृ-

ष्टोऽपि गुर्वादिक्षुत्पीडनापेक्षया वरएवेति गुरूनित्यादिना प्रदर्शितम् । अयाचितादानेऽप्युत्कृष्टधर्म्यवृत्त्यपेक्षया यो दोषस्तस्य गुर्वाद्यर्थस्वीकारे दोषापेक्षया गुर्वादिसेवनपालनयोः पुण्याधिक्यमिति सूचितम् । कर्त्ता दोषेण लिप्यतइति कथनाद्गुर्वादीनां दोषाभावएव बोध्यः । शिलोञ्छवृत्त्या चाल्पएवान्नलाभस्तेन बहूनां पालनमसंभवम् । भिक्षादिवृत्त्यापि पूर्ववृत्त्यभावे गुर्वादयः सेव्याइति सर्वं शास्त्रे व्यवस्थितमेव बोध्यम् ॥ ५२ ॥

भाषार्थः-(एधोदकं मूलफलमन्नं मधु) ईंधन समिधादि, जल, मूल, फल, अन्न और मधु-शहद इत्यादि पदार्थों को (अभ्युद्यतं च यत्) कोई श्रद्धालु दाता विना मांगे देने के लिये सामने उपस्थित करके कहे कि लीजिये (अथाभयदक्षिणाम्) और अभय-निर्भयतारूप दान को (सर्वतः प्रतिगृह्णीयात्) गृहस्थ ब्राह्मण सब किसी नीच वा निषिद्ध शूद्र वा अन्त्यज से भी लेलेवे (पुरस्तादप्रचोदिताम् आहृताभ्युताम्) पहिले से लेने वाले ने स्वयं वा अन्य द्वारा प्रसिद्ध वा संकेतमात्र भी जिस की चाहना प्रकट नहीं की हो ऐसी दूरसे दाता ने लाई सामने करके लीजिये इस प्रकार प्रार्थना पूर्वक दी हुई (दुष्कृतकर्मणोपि भिक्षाम्) दुष्ट कर्म वाले की भी अन्न धन वस्त्रादिरूप भिक्षा को (प्रजापतिर्ग्राह्यां मेने) प्रामाणिक पुरुषों में उत्तम कोटि को प्राप्त प्रजारक्षक मनु नामक ब्रह्मा जी ने ग्रहण करने योग्यमानी स्वीकार की है यह भृगु जी श्रोता ऋषि लोगों से कहते हैं। पूर्व श्लोक का ही आशय स्पष्ट खोलने के लिये द्वितीय श्लोक में अनुवादमात्र कथन किया है (यस्तामभ्यवमन्यते) जो उस भिक्षा का अपमान तिरस्कार करता अर्थात् स्वीकार नहीं करता (दश वर्षाणि पञ्च च) पन्द्रह वर्ष तक (तस्य पितरो नाश्नन्ति न चाग्निर्हव्यं वहति) उस के यहां पितर नहीं खाते और न अग्नि हविष्य को पहुंचाता है प्रयोजन यह कि विना मांगे श्रद्धा से दी हुई भिक्षा के अनादर में श्रद्धा का ही अनादर होता है और श्रद्धा का अनादर करने वाले के श्रद्धा के हट जाने से देवयज्ञ पितृयज्ञ भी फिर उस से नहीं हो सकते । इस दशा में पन्द्रह वर्ष कहना उपलक्षणार्थ माना जायगा कि पांच दश पन्द्रह वर्ष

आदि वर्णोंतक जैसा श्रद्धा का विघात करेगा वैसी ही पितृयज्ञादि धर्म की हानि होगी । पितर उस के यहां नहीं खाते इस का अभिप्राय यह हो सकता है कि श्रद्धा के न रहने से वह पितरों को खिलाता ही नहीं इसी से नहीं खाते इत्यादि । पूर्व श्लोकों में कहे विधिवाक्य का यह अर्थवाद है [इसी के आगे किन्हीं २ लिखित पुस्तकों में दो श्लोक अधिक मिलते हैं उन का अर्थः–(चिकित्सककृतघ्नानाम्) चिकित्सक वैद्य, कृतघ्न (शिल्पकर्त्तुश्च वार्द्धुषेः) कारीगर राज, मिस्त्री आदि (षण्ढस्य कुलटायाश्च) नपुंसक और व्यभिचारिणी स्त्री इन सब की (उद्यतामपि वर्जयेत्) विना मांगे श्रद्धा पूर्वक लाई हुई भिक्षा को भी त्याग देवे स्वीकार न करे (विज्ञानतैवं विद्यमानं नवै प्रतिग्राह्यम्) समझदार मनुष्य को उचित है कि इस प्रकार चिकित्सकादि नीच के विद्यमान वस्तु का भी ग्रहण कदापि न करे (अविद्यमाने तु विकल्प्य) और वैसे नीच का पदार्थ न हो तो विकल्प वा अनादर करने से (धर्महीनः) धर्म से हीन (प्रकीर्त्तितः) कहा जाता है] (शय्यां गृहान् कुशान् गन्धान्) शय्या स्त्री कन्या कुश और कपूरादि गन्धद्रव्यों (अपः पुष्पं मणीन् दधि) जल, फूल, मणि, दही, (धाना मत्स्यान् पयो मांसम्) चबेना, मछली, दूध, मांस (शाकं चैव न निर्णुदेत्) और शाक को भी अकस्मात् श्रद्धा से प्राप्त हुए का नकार वा अनादर न करे (गुरून् भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्) आचार्य पितादि गुरुलोगों की सेवा तथा स्त्री पुत्रादि भरणपोषण योग्यों का पालनादि द्वारा क्षुधादि की पीड़ा से उद्धार चाहता और (देवतातिथीनर्चिष्यन्) अतिथि देवताओं का पूजनसत्कार आदर करना चाहता हुआ गृहस्थ पुरुष (सर्वतः प्रतिगृह्णीयात्) सब शूद्र वा अतिशूद्र से भी अन्न धनादि का दान ले लेवे (ततः स्वयं न तृप्येत्) उस से स्वयं अपनी तृप्ति न करे किन्तु उस लिये दान से उन्ही गुरु आदि का पूजन और पोषण करे (गुरुषु त्वभ्यतीतेषु) गुरु पितादि वा स्त्री आदि न रहे हों अर्थात् मरगये हों (विना वा तैर्गृहे वसन्) अथवा वे भिन्न देश में हों तब घर में वसता हुआ पुरुष (आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन्सदा साधुतो गृह्णीयात्) अपने ही लिये जीविका खोजता हुआ स्नातक सदा श्रेष्ठ पुरुषों से ही दान लेवे अर्थात् साधुनाम सच्चे परोपकारी श्रद्धालु सर्व वर्णस्थ धर्मात्माओं से ही ले कर निर्वाह करे असाधुओं से नहीं ॥

भा०–यहां प्रथम श्लोक में कहे अभ्युद्यत पद का एधादि प्रत्येक के साथ सम्बन्ध जानो । अन्न कहने से आपत्काल न होने पर कच्चे अन्न का ही ग्रहण

जानो पर आपत्काल में पके हुए रोटी पूरी आदि अन्न का भी सब से ग्रहण ना अनुचित नहीं। विन मांगे मिले को पूर्व अमृत कह चुके हैं। मांगे हुए भि क्षान्न की अपेक्षा उस की उत्तमता अपेक्षित है किन्तु शिलोञ्छवृत्ति की अपेक्षा से अयाचित उत्तम नहीं किन्तु उस से निकृष्ट है। इस से अयाचित वृत्ति की ही यह सब विशेष व्याख्यान है। यहां २४९। २५० ये दो श्लोक विचार साध्य हैं। इन से पूर्व के दो श्लोकों में जो विधिवाक्य है उसी से दान के स्वीकार का विधान आजाने से स्वीकार न करने का निषेध अर्थापत्ति से ही सिद्ध है। तो भी यदि कोई दान न ले या लेने की आवश्यता ही जिसने मेट दी हो वह न लेने से पापी नहीं होता "सब कामनाओं की प्राप्ति से उन का परित्याग करना विशेष है," इस प्रकार मनु जी के ही कहने से लेने की अपेक्षा न लेना अच्छा अवश्य है। और मांगने पूर्वक नीच शूद्रादि से दान लेने की अपेक्षा बिन मांगे मिलने पर लेना अधिक कर धर्म से सम्बन्ध रखने वाला है क्योंकि सन्तोष के साथ धैर्यरूप धर्म के विद्यमान रहने से, यह ग्रन्थकार का आशय है। और द्वितीय (शय्यां०) यह श्लोक निरर्थकसा इस कारण दीखता है कि (एधोदकं०) इत्या- दि श्लोक में इन्धनादि का ग्रहण उपलक्षणार्थ होने से विना मांगे शय्यादि का स्वीकार भी आ ही गया इस से पुनरुक्त दोष है। मछली और मांस का अभक्ष्य होना "मद्य मांस, यक्ष राक्षस पिशाचों का अन्न है ब्राह्मणादि आर्यों का नहीं," इत्यादि प्रकार अ० ११ में कहा है उन मछली मांसों का ग्रहण यदि भक्षण के लिये है तो शास्त्र के सिद्धान्त से विरुद्ध है। और यदि कोई मांसादि को लेकर मांसभक्षी कुत्ते आदि जन्तुओं को देदेवे तब यह दोष नहीं है। शिलोञ्छवृत्ति की अपेक्षा विन मांगे मिलने वाले वस्तु का लेना निकृष्ट भी है पर गुरु आदि भूखे रहने की अपेक्षा उत्तम ही है यह आशय--गुरून्० इत्यादि कथन द्वारा दिखाया है। विन मांगे लेने पर भी धर्मानुकूल उत्तम शिलोञ्छवृत्ति की अपेक्षा जो दोष है उस को गुरु आदि के लिये स्वीकार करने में दोष की अपेक्षा गुरु आदि के सेवन पालन में पुण्य का अधिक होना सूचित किया गया "कर्त्ता को दोष लगता" इस कथन से भोगने वाले गुरु आदि को दोष नहीं लगता जानो। शिलोञ्छवृत्ति से थोड़ा अन्न मिल सकता उस से बहुतों का पालन होना असम्भव है। पहि- ली २ अच्छी वृत्ति के अभाव में पर २ भिक्षादि वृत्ति से भी गुरु आदि की सेवा करनी चाहिये यह सब शास्त्र से व्यवस्थित ही जानो ॥ २५२ ॥

आर्द्धिकःकुलमित्रंच–गोपालोदासनापितौ ।
एतेशूद्रेषुभोज्यान्ना–यश्चात्मानंनिवेदयेत् ॥
यादृशोऽस्यभवेदात्मा--यादृशंचचिकीर्षितम् ।
यथाचोपचरेदेनं--तथात्मानंनिवेदयेत् ॥
योऽन्यथासन्तमात्मान--मन्यथासत्सुभाषते ।
सपापकृत्तमोलोके--स्तेनआत्मापहारकः ॥
वाच्यर्थानियताःसर्वे–वाङ्मूलावाग्विनिःसृताः।
तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं--ससर्वस्तेयकृन्नरः ॥

अ०–आर्द्धिकोऽर्द्धभागी कृषिगोरक्षवाणिज्यादि वृत्तिकर्मणि येन सहार्द्धभागो यस्य यश्च स्वस्य कुलस्य पारम्पर्येण मित्रं गोपालआभीरो दासः स्वसेवकउदकहारो नापितश्चैते शूद्रेषु भोज्यान्ना भोज्यं भोक्तुमुचितमन्नमेषामिति भोज्यान्नाः । यश्च शूद्र आत्मानं निवेदयेच्छूद्रभावेन स्वस्य शरणागतः स्यात्सोऽपि भोज्यान्नएव । अस्य शूद्रस्य यादृश आत्माऽन्तःकरणं यो यो भावो मनसि वर्त्तते यादृशं चास्य चिकीर्षितमिष्टं कर्त्तव्यं यथाचायमेनं द्विजं सेवयितुं प्रतिजानीत तथा तादृशरीत्यैव यश्चात्मानं निवेदयेत्स सम्यक्शरणागतो बोध्यः । योऽन्यथाऽऽत्मानं सन्तं सत्स्वन्यथा भाषते मनसि यद्वर्तते ततो विरुद्धं यो वाचा वदति स आत्मापहारक आत्मानं निकृष्टदशायां नेता स्तेनो लोके पापकृत्तमो गणयते । पापं करोतीति पापकृत् ततोऽधिकः पा-

पी पापकृत्तरस्ततोऽप्याधिक्येन पापिष्ठः पापकृत्तमः। य
र्वेऽर्था वाचि नियताः सर्वाण्यीष्टानि प्रयोजनानि वस्तूनि
च तत्तन्नामजन्यवाग्व्यापारसाध्यानि बुभुक्षितोऽहं पिपा
सितोऽहमिति सर्वं शब्देनैवावसीयते वागेव सर्वेषां मूलं स
र्वथा सत्या वेदवागेव सर्वस्य मूलमस्ति । वेदशब्देभ्यएवा
दौ दिवं भूमिं च निर्ममइत्युक्तपूर्वम् । अतएव मूलादङ्कु
रइव सर्वं वाचो निस्सरति । तामीदृशीं वाचं यो निवेदक
शूद्रादिः स्तेनयेत्स सर्वस्तेयकृन्नरो विज्ञेयो यथा मत्स्याद
सर्वमांसादो भवति ॥

भा०-नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नमित्युक्तमामन्त्रवतिशूद्रा
देरपि ग्राह्यमुक्तमामेन सह शूद्रसहचरितदोषाणां न्यूनाग
गमनसम्भवात्। अत्र त्वार्द्धिकादिशूद्राणां पक्वमप्यन्नं भो
ज्यमिति विधिः। आर्द्धिकादिशूद्राणां ब्राह्मणादिसान्निध्येन
केचिद्दोषाः सङ्गादेवापयन्ति ब्राह्मणादीनां च केचिद्गुण
नश्यन्ति। एवं सङ्गजन्यगुणदोषैरुभयोर्बह्वंशे साम्यं जाय
तस्मात्तेषामन्नं भोज्यं तेन सङ्गिना नतु सर्वेणेति। गोपा
लश्च वैश्यकल्पः संकरोऽपि बीजोत्कर्षात्कथमपि द्विजत्
धारयत्येव तस्मात्स कुलमैत्र्यादिसङ्गाभावेऽपि भोज्यान्न
भवत्येव। अत्र भोज्यपदेन घृतपक्वं विशेषेण भोज्यमिति
गम्यते तदपेक्षया रोटिकादीनां च भक्ष्यत्वमवगन्तव्यम्
यश्चात्मानं यथार्थतया निवेदयति सत्यमेव सर्वं हार्दं भा
प्रकाशयति स सत्यभाषणपरीक्षायामुत्तीर्णः कर्मणा ब्राह्मण
त्वं प्राप्तउत्तमकोटिस्थो भोज्यान्नो जायते। आर्द्धिकगोपा

भा०—हविःशेषमल्पस्नेहयुक्तमपि पर्युषितं भक्ष्यं स्नेहसंयुक्तमन्यत्तु विशेषतः स्नेहेन व्याप्तमेवाद्यम् । अयं तु पर्युषिते प्रधानोऽपवादः । मध्यदशायां तु यवगोधूमजं स्नेहरहितमपि तादृशं तक्रादिकं च कदाचित्ततो निकृष्टाभक्ष्यापेक्षया मध्यस्थैर्भक्ष्यं यावता कालेनान्यान्नविकारो यादृशो विक्रियतेऽभक्ष्यो जायते न तावता तादृशं यवगोधूमजं विकृतं भवत्यतोऽन्यान्नापेक्षया तस्य कदाचित्कस्यचिद्भक्ष्यत्वमुक्तम् । न सद्यः पक्वापेक्षया तस्य प्राशस्त्यं साम्यं वात्र ग्रन्थकृता विवक्षितम् । अत्रावधि द्विजातीनां भक्ष्यमभक्ष्यं चोक्तमग्रे मांसभक्षणस्य वर्जने विधिं प्रवक्ष्यामीतिप्रतिज्ञा, द्वन्द्वसमासे द्विवचनेन भाव्यं प्रथमाद्वितीययोर्द्विवचनार्थएव नास्ति सप्तमी चात्र निमित्तार्थेऽवगन्तव्या । मांसभक्षणस्य वर्जनार्थं विधिं वक्ष्यामि, एवं पूर्वोक्तानां ११—२३ पद्यानां वक्ष्यमाणानां २७–४४ पद्यानां च प्रक्षिप्तत्वसिद्धावितः पूर्वं नास्ति मांसभक्षणविषयको विचारोऽग्रेऽपि पूर्वपक्षस्थो विचारः सर्वः खण्डितएवातो मांसभक्षणवर्जनस्यैव विधानं तु क्वापि भक्षणस्येति ॥ २६ ॥

भाषार्थः–(यत्किंचिद्गर्हितं स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यम्) जो कुछ वाल, कीड़ा पड़ने वा कुत्ता आदि से दूषित न होने के कारण लोक वा शास्त्रानुकूल निन्दित न हो ऐसा घी आदि चिकनाई के संयोग से पकाया सेव, पापड़ आदि कड़ा भक्ष्य और मोहनभोग आदि कोमल भोज्य (तत्पर्युषितमप्याद्यम्) ऐसा वासी धरा हुआ भी अन्न भक्ष्य खाने योग्य है (हविःशेषं च यद्भवेत्) और यज्ञ करने से शेष हविष्यान्न थोड़ी चिकनाई से युक्त हो तो भी भक्ष्य है (द्विजातिभिर्यवगोधूमजं सर्वमस्नेहाक्तं चिरस्थितमपि त्वाद्यम्) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों को गेहूं

जौ से बना चिकनाई से रहित अधिककाल का धरा हुआ वासी भी सब खा लेना चाहिये (पयसश्चैव विक्रिया) और दूध से बना खीर आदि धरा हुआ अन्न भी भक्ष्य है । परन्तु कभी २ शीतकालादि में ऐसा धरा अन्न खावे किन्तु ग्रीष्म और वर्षा में वह भी शीघ्र विकारी होजाने से अभक्ष्य है । तथा पूर्वोक्त अगर्हित पद की भी अनुवृत्ति इस में माननी चाहिये कि जो दूषित न हुआ हो (द्विजातीनामेतद् भक्ष्याभक्ष्यमशेषतउक्तम्) द्विजातियों के लिये यह पूर्वोक्त भक्ष्याभक्ष्य सब कहा गया (अतः परं भक्षणवर्जने विधिं प्रवक्ष्यामि) इस से आगे मांस खाने के निषेध में विधि कहेंगे कि मांस खाना क्यों निषिद्ध है ॥

भा०—अल्पस्नेह युक्त वा सर्वथा स्नेहरहित भी वासी धरा शेष हविष्यान्न भक्ष्य है यही जताने के लिये हविः को यहां पृथक् कहा है । इसी के अनुसार हविष्य से भिन्न अन्न विशेष कर स्नेह से व्याप्त होने पर भक्ष्य माना जायगा वासी अन्न न खाने के उत्सर्गरूप निषेध का यह तो मुख्य अपवाद है सो भी तत्काल पकाये घृतयुक्त पूरी आदि की अपेक्षा धरा हुआ स्नेहयुक्त अन्न भी निकृष्ट वा अभक्ष्य ही माना जायगा पर चिकनाई रहित धरे अन्न की अपेक्षा अच्छा और भक्ष्य होगा । परन्तु जौ गेंहूं से बना रोटी आदि स्नेह रहित भी धरा अन्न मध्य कक्षा में भक्ष्य है क्योंकि अन्य अन्नों की अपेक्षा इन में स्वाभाविक भी चिकनाई अधिक है इसी कारण धरे रहने पर भी अन्यों के समान गेंहूं जौ की रोटी आदि नहीं बिगड़ते पर तत्काल पकाये की अपेक्षा तो ये निकृष्ट ही माने जावेंगे। और धरे चावल दाल आदि की अपेक्षा बीच की कक्षा में भक्ष्य भी माने जायंगे। इस लिये अन्य धरे हुए अन्नों की अपेक्षा गेंहू जौ से बना कोई २ रोटी आदि अन्न कभी २ शीतकालादि में किसी मध्यम के लिये भक्ष्य है जिस को सद्यः पक्व प्राप्त न होसके किन्तु सब को सब समय सब अन्न भक्ष्य नहीं । यहां तक द्विजातियों का भक्ष्याभक्ष्य कहा । अब आगे मांस खाने के निषेध में विधि कहेंगे। यदि यहां भक्षण वर्जन शब्दों का द्वन्द्व समास करें तो द्विवचन विभक्ति होनी चाहिये। और प्रथमा द्वितीया विभक्ति के द्विवचन का अर्थ यहां घटता नहीं इस लिये निमित्तार्थ में सप्तमी विभक्ति माननी चाहिये कि भक्षण के वर्जनार्थ विधि कहेंगे। इस प्रकार पूर्व कहे ११ से २३ तक और आगे कहे २६ से ४४ तक श्लोकों के प्रक्षिप्त ठहर जाने पर इस से पूर्व मांसविषयक विचार आता है ही नहीं इसी से (अब मांस के विषय में कहेंगे ऐसी प्रतिज्ञा करना बन सकता है और यदि पूर्व से ही मांस के विषय में विचार चला मानें तो (अब

हैंगी) ऐसा कथन प्रमत्तवाक्य के समान होजावे । और आगे भी पूर्वपक्षस्थ विचार का उत्तरपक्ष में स्वयं खण्डन करेंगे इस कारण निषेध का ही विधान है भक्षण का नहीं ॥ २६ ॥

[प्रोक्षितंभक्षयेन्मांसं–ब्राह्मणानांचकाम्यया ।
यथाविधिनियुक्तस्तु–प्राणानामेवचात्यये ॥
प्राणस्यान्नमिदंसर्वं–प्रजापतिरकल्पयत् ।
स्थावरंजङ्गमंचैव–सर्वंप्राणस्यभोजनम् ॥
चराणामन्नमचरा–दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।
अहस्ताश्चसहस्तानां–शूराणांचैवभीरवः ॥
नात्तादुष्यत्यदन्नाद्यान्–प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।
धात्रैवसृष्टाह्याद्याश्च–प्राणिनोऽत्तारएवच ॥
यज्ञायजग्धिर्मांसस्ये–त्येषदैवोविधिःस्मृतः ।
अतोऽन्यथाप्रवृत्तिस्तु–राक्षसोविधिरुच्यते ॥
क्रीत्वास्वयंवाप्युत्पाद्य–परोपकृतमेववा ।
देवान्पितॄंश्चार्चयित्वा–खादन्मांसंनदुष्यति ॥
नाद्यादविधिनामांसं–विधिज्ञोऽनापदिद्विजः ।
जग्ध्वाह्यविधिनामांसं–प्रेत्यतैरद्यतेऽवशः ॥
नतादृशंभवत्येनो–मृगहन्तुर्धनार्थिनः ।
यादृशंभवतिप्रेत्य–वृथामांसानिखादतः ॥
नियुक्तस्तुयथान्यायं–योमांसंनात्तिमानवः ।
सप्रेत्यपशुतांयाति–संभवानेकविंशतिम् ॥
असंस्कृतान्पशून्मन्त्रै–र्नाद्याद्विप्रःकदाचन ।
मन्त्रैस्तुसंस्कृतानद्या–च्छाश्वतंविधिमास्थितः ॥

कुर्याद्घृतपशुंसङ्गे-कुर्यात्पिष्टपशुंतथा ।
नत्वेवतुवृथाहन्तुं-पशुमिच्छेत्कदाचन ॥
यावन्तिपशुरोमाणि-तावत्कृत्वोहमारणम् ।
वृथापशुघ्नःप्राप्नोति-प्रेत्यजन्मनिजन्मनि ॥
यज्ञार्थंपशवःसृष्टाः-स्वयमेवस्वयंभुवा ।
यज्ञस्यभूत्यैसर्वस्य-तस्माद्यज्ञेवधोऽवधः ॥
ओषध्यःपशवोवृक्षा-स्तिर्यञ्चःपक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थंनिधनंप्राप्ताः-प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितीःपुनः ॥
मधुपर्केचयज्ञेच-पितृदैवतकर्मणि ।
अत्रैवपशवोहिंस्या-नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥
एष्वर्थेषुपशून्हिंसन्-वेदतत्त्वार्थविद्द्विजः ।
आत्मानंचपशुंचैव-गमयत्युत्तमांगतिम् ॥
गृहेगुरावरण्येवा-निवसन्नात्मवान्द्विजः ।
नावेदविहितांहिंसा-मापद्यपिसमाचरेत् ॥
यावेदविहिताहिंसा-नियतास्मिंश्चराचरे ।
अहिंसामेवतांविद्या-द्वेदाद्धर्मोहिनिर्बभौ ॥ ४४ ॥]

अ०-प्रोक्षितं यज्ञे मन्त्रैः पूतम्, नियुक्तः शास्त्रतः प्राप्तानुज्ञः, अत्यये-भक्ष्येऽनुपलब्धे प्राणेषु निःसरत्सु-चराणां मनुष्यादीनामचराः स्थावरा वृक्षादयोऽन्नम्, दंष्ट्रिणामतिशयेन छेदनसाधना दशना येषां विद्यन्ते तेन सामान्यदशनवतां हरिणादीनां व्यावृत्तिः सिंहादीनां चोपादानम्, अदंष्ट्रिणो हरिणादयः, सहस्तानां मनुष्यादीनामहस्ता मत्स्यादयोऽन्नम् । अत्ताऽऽद्यान् प्राणिनोऽहन्यहन्यप्यदन्न दु-

ष्यति यतोऽत्तार आद्याश्च धात्रैव सृष्टाः। परोपकृतं परेणान्येनानीय प्रत्तम्, विधिज्ञो द्विजोऽनापद्यविधिनामांसं नाद्यादपित्वनापदि विधिनाऽद्यादापदि चाविधिनाप्यद्यादित्येतद्द्वयमर्थादापद्यते। वृथा यज्ञमन्तरेण खादतो हन्तुरपेक्षयापि पापाधिक्यम्। नियुक्तस्तु यथान्यायमित्ययं निन्दार्थवादः। सङ्गे यज्ञे घृतपशुं कुर्यात्पशुविकारभूतं घृतमेव पशुस्तं पिष्टमेव पशुरूपं वा कुर्य्यात्। वृथा पशुं हन्तुमन्यथा सिद्धेऽपि प्रयोजने कदापि न त्वेव त्विच्छेत्। वृथा पशुघ्नः प्रेत्य जन्मनि जन्मनि यावन्ति म्रियमाणस्य पशोरोमाणि भवन्ति तावत्कृत्वस्तावद्वारं मारणं ह्यावश्यं प्राप्नोति। निधनं मरणमुच्छ्रितीरुत्कृष्टा जातीः। अवेदविहितां हिंसां नाचरेदपितु वेदविहितां कामं समाचरेदित्यर्थापत्तिः। सुखेन ज्ञातुं शक्यमन्यत्॥

भा०–इमान्यष्टादश पद्यानि केषामप्यन्येषां मतप्रकाशनपराणि पूर्वपक्षत्वेन ग्रन्थकृता धृतानि, अतएवोत्तरपक्षे सर्वथैव मांसभक्षणनिषेधं वक्ष्यति। यत्र हि पूर्वकथनादपरं कथनं सकारणं भिद्यते तत्र भवत्येव पक्षद्वयम्। अतो यज्ञे मांसप्रयोगो भक्षणं वा कार्यमिति नेदं मनोर्भृगोर्वा मतमपि त्वहिंसाधर्ममर्माविजानतः कस्याप्यन्यस्यैवेदं कथनमिदम्। तथाचोक्तं महाभारतमोक्षधर्मपर्वणि "सर्वकर्मस्वहिंसां हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्। कामकाराद्विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून्नराः"॥ ग्रन्थनिर्माणादनन्तरं वा कैश्चिन्मांसभक्षणलोलुपैर्हिंसाऽत्र यज्ञमिषेण प्रवेशिता। पक्षद्वयेऽपि सिद्धानुवाद-

रूपं प्राणस्यान्नमित्यादिपद्यद्वयं मांसभक्षणपोषणाया
लिखितमतो हेयत्वमापद्यते । यदि चैतदेव पद्यद्वयमन्य
त्रोपलभ्येत तदा नैव हेयं स्यात् । यथा च स्तेना अस्तेनाश्च
पदार्थाश्च धात्रैव सृष्टास्तथापि धातृसृष्टत्वहेतोश्चौरा निर्दो
षा न भवन्ति तथैव धातृसृष्टत्वं मांसभक्षणदोषापगमे हे
तुर्न सम्भवति । एवं यद्यपि विशिष्टहिंसाऽपवित्रतादिदो
षयुक्तमांसभक्षणापेक्षया कस्याप्यल्पहिंसादिदोषयुक्तं मां
सभक्षणं दैवरूपमस्तु तथापि मांसत्यागापेक्षया तस्य सर्व
स्यैव राक्षसविधित्वमस्त्येव । एवं च न यज्ञमिषेण मांस
भक्षणं कदापि दैवं सम्भवति । सर्वत्रैव मांसत्यागापेक्षया
भक्षणं तस्य दोषकरमधर्मजनकं चेति सर्वानुमतं सुस्थि
चैषां पद्यानां कथमपि प्रक्षिप्तत्वाभावपक्षेऽपीति सिद्धान्तो
व्याहतः ॥ ४४ ॥

भाषार्थः–(यथाविधि नियुक्तस्तु) शास्त्रोक्त नियम से बद्ध हुआ गृहस्थ
पुरुष (प्रोक्षितं मांसं भक्षयेत्) यज्ञ में मन्त्रों से पवित्र किये मांस को खावे (ब्रा
ह्मणानां च काम्यया) ब्राह्मणों की कामना से–खाने की आज्ञा जताने से और
(प्राणानामेव चात्यये) खाने को कुछ न मिलने पर प्राण निकले जाते हों तो इन
तीन दशाओं में मांस खालेवे (प्रजापतिरिदं सर्वं प्राणस्यान्नमकल्पयत्) प्रजा
पति परमात्मा ने इस सब रयिपद वाच्य संसार को प्राण का अन्न नाम भोजन
नियत किया है (स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वम्प्राणस्य भोजनम्) अर्थात् स्थावर-
अचर और जङ्गम चर सभी प्राण नाम तैजस शक्तिरूप जाठराग्नि का भोजन है
कोई किसी को और कोई किसी को खाता है इस प्रकार सभी खाने वाले और
सभी खाये जाते हैं । उन में प्राण भक्षक और रयि भक्ष्य है (चराणामचरा अन्नम्)
मनुष्य वा गौ आदि चर प्राणियों का स्थावर ओषधि वनस्पति घास तृणादि
अन्न है (दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः) प्रबल वा बड़े २ दांतों–डाढ़ों वाले सिंह व्याघ्र
भेड़िया, बिल्ली आदि का निर्बल वा छोटे दांतों वाले हिरण, भेड़ी, बकरी आ

मूषा आदि अन्न नाम भक्ष्य है । अतिशयार्थ में मत्वर्थ इन् प्रत्यय होने से सामान्य दांतों वाले हिरन आदि यहां दंष्ट्री नहीं कहाते (महस्तानामहस्ताश्च) हाथों वाले नाम पकड़ने की अच्छी प्रबल जालादि शक्ति रखने वाले मनुष्यादि का अन्न बिन हाथों वाले मछली आदि जीव जन्तु हैं (शूराणां चैव भीरवः) शूर नाम बलवान् हिंसकों का अन्न भीरु डरपोक प्राणी हैं (आद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपदन्नत्ता न दुष्यति) मांस खाने वाला खाने योग्य प्राणियों को प्रति दिन खाता हुआ भी दोषी वा पापी नहीं होता (हि) क्योंकि (आद्याश्च प्राणिनोऽत्तारएव च धात्रैव सृष्टाः) भक्ष्य तथा भक्षक दोनों प्रकार के प्राणी धाता विधाता ईश्वर ने ही रचे हैं [इस का आशय यदि यह माना जाय कि मनुष्य का भक्ष्य ओषधि फल—अन्न, कन्द, मूल, शाकादि हैं, सिंह के भक्ष्य मृग, बिल्ली के भक्ष्य मूषे इत्यादि प्रकार जो २ जिस २ का भक्ष्य है वह २ उसी २ से जीवित रह सकता है इस-कारण जिस का जो भक्ष्य है वह उस के लिये निषिद्ध होता तो ईश्वर उस २ का वह २ भक्ष्य क्यों नियत करता इस कारण अपना २ भक्ष्य उस २ को खानेमें दोष वा पाप नहीं है जानो उस २ प्राणी को वह २ खावे यह ईश्वर की आज्ञा ही है इस कारण उस २ को दोष नहीं तो यह श्लोक निर्दोष माना जासकता है] (यज्ञाय मांसस्य जग्धिः) यज्ञ करने में मांस का खाना (इत्येष दैवो विधिः स्मृतः) यह दैव नाम उत्तम विधि-आज्ञा मानी गई है (अतोऽन्यथाप्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते) इस से भिन्न लालच आदि से मांस खाना अर्थात् केवल खाने के लोभ से हिंसा करना कराना राक्षसी विधान वा रीति है (क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य) किसी से मूल्य दे मांस लेकर वा स्वयं मार के सम्पादित किये मांस को (परोपकृतमेव वा) वा किसी ने लाकर दिये मांस को (देवान् पितृंश्चार्चयित्वा) होम वा श्राद्ध करने पश्चात् (मांसं खादन्न दुष्यति) मांस को खाता हुआ पुरुष दूषित नहीं होता (विधिज्ञो द्विजोऽनापद्यविधिना मांसं नाद्यात्) कहां किस का मांस खाने की आज्ञा है कहां नहीं इस को जानने वाला ब्राह्मणादि द्विज आपत्काल से भिन्न समय में यज्ञ वा श्राद्ध किये विना मांस न खावे किन्तु आपत्काल न होने पर यज्ञ में मांस खावे और आपत्काल में यज्ञ किये विना भी प्राणरक्षार्थ मांस खालेवे यह दो प्रकार का विचार यहां अर्थापत्ति से सिद्ध है (अविधिना मांसं जग्ध्वा) यज्ञ किये विना जिन प्राणियों का मांस यहां खाता है (तैरवशः प्रेत्याद्यते) जन्मान्तर में उन्हीं प्राणियों.

से वह पराधीन हुआ खाया जाता है (धनार्थिनो मृगहन्तुस्ताद्रृशमेनो न भव
मांस चर्म वेच कर धनार्जन करने के लोभ से मृगादि पशुओं को मारने वाले
वैसा अपराध वा पाप नहीं लगता (यादृशं वृथा मांसानि खादतः प्रेत्य भव
जैसा कि पाप विना यज्ञ किये मांस खाने वाले को जन्मान्तर में होता है (यथा
नियुक्तस्तु) योग्यतानुसार यज्ञ करने में नियत हुआ (यो मानवो मांसं ना
जो मनुष्य मांस नहीं खाता (स प्रेत्य पशुतां याति संभावनेकविंशतिम्) वह पु
मरने पश्चात् इक्कीस जन्मों तक पशु योनि में जन्मता मरता है (मन्त्रैरसंस्कृता
पशून् विप्रः कदाचन नाद्यात्) मन्त्रों के द्वारा जिन की शुद्धि न की गई हो
पशुओं के मांस को ब्राह्मण कभी न खावे (शाश्वतं विधिमास्थितो मन्त्रैस्तु
स्कृतानद्यात्) और सनातन शास्त्र की आज्ञा पर चलता हुआ मन्त्रों द्वारा प
वित्र हुए पशुओं के मांस को भले ही खावे (सङ्गे घृतपशुं कुर्यात्तथा पिष्ट
कुर्यात्) यज्ञ में पशु के शरीर से उत्पन्न हुए घृत को ही पशु मान कर प्रयो
करे अथवा पिष्टनाम पिसान–आटा को ही पशु मान कर यज्ञ करे (
पशुं हन्तुं कदाचन न त्वेव दिच्छेत्) प्रयोजन के अन्यथा सिद्ध हो जाने पर
अर्थात् घृत वा पिसान को पशु मान कर यज्ञ हो सकता है तब साक्षात् प
को मारने की कदापि इच्छा न करे (वृथा पशुघ्नः प्रेत्य जन्मनि जन्मनि) प्रयो
जन के विना व्यर्थ यज्ञादि के वहाने से पशुओं को मारने वाला पुरुष मरने प
श्चात् प्रत्येक जन्म में (यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो मारणं ह प्राप्नोति) मा
गये पशु पर जितने रोम होते वा होवें उतने वार अवश्य मारा जाता है (य
ज्ञार्थं स्वयम्भुवा स्वयमेव पशवः सृष्टाः) स्वयंभू नाम ब्रह्मा जी ने अपने आप
ही किसी की प्रेरणा के विना यज्ञ के लिये पशुओं को वनाया है (सर्वस्य य
ज्ञस्य भूत्यै) इस संसाररूप सब यज्ञ की शोभा वा पुष्टि के लिये भी ब्रह्मा ने
यज्ञार्थ पशुओं को रचा (तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः) तिस से यज्ञ में पशुवध कर
ना हिंसा नहीं है (ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा) ओषधियां
पशु, वृक्ष, सांप, गोह आदि तिर्यच् और पक्षी इत्यादि सब प्राणी (यज्ञार्थं नि
धनं प्राप्ताः) यज्ञ के लिये मृत्यु को प्राप्त हुए (पुनरुच्छ्रितीः प्राप्नुवन्ति) फिर
जन्मान्तर में उत्तम योनियों वा जातियों में जन्म पाते हैं अर्थात् यज्ञ के लिये
मारे जाने में नीच योनि छूट जाती है (मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि अ
त्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः) मधुपर्क में यज्ञ में श्राद्धरूप पितृयज्ञ

में और देवकर्मोद्देश से किये सामान्य होम ब्रह्मभोजादि में इतने ही अवस-
रों पर पशुओं की हिंसा करनी चाहिये अन्यत्र नहीं यह मनु जी ने कहा है
(वेदतत्त्वार्थविद् द्विज एष्वर्थेषु पशून् हिंसन्) वेद के तत्त्व सिद्धान्त को ठीक जानने
वाला ब्राह्मणादि इन मधुपर्कादि प्रयोजनों के लिये पशुओं को मारता हुआ
(आत्मानं च पशुं चैवोत्तमां गतिं गमयति) अपने आप और पशु दोनों को उ-
त्तम गति को प्राप्त कर देता है (आत्मवान् द्विजो गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्)
जितेन्द्रिय विचारशील ब्राह्मणादि जन घर में, गुरु के समीप वा तपोवन में वसता
हुआ (आपद्यप्यवेदविहितां हिंसां नाचरेत्) आपत्काल में भी वेद में न कही हुई
हिंसा को कदापि न करे (या वेदविहिता हिंसाऽस्मिंश्चराचरे नियता) जो वेद
में कही हिंसा इस चराचर जगत् में नियत हो रही है (अहिंसामेव तां वि-
द्यात्) उस को अहिंसा ही जानो क्योंकि (वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ) वेद से ही
धर्म निकला प्रकाशित हुआ है [यदि इन अन्तिम दोनों श्लोकों का आशय यह
ठहर जावे कि हिंसा का सामान्यार्थ अन्य प्राणियों को कष्ट पहुंचाना है केवल
मार डालना ही हिंसा नहीं । इसी के अनुसार योगभाष्य में कहा व्यास जी
का "सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनतिद्रोहः" सब प्रकार सब काल में सब प्रा-
णियों से द्रोहबुद्धि का छूटना अहिंसा है यह कथन संघटित होता है । किसी
को कष्ट पहुंचाना अधर्म है सो यदि वेद में कहे सर्वोपरि प्रधान सर्वोपकारी सर्व-
व्याप्त महत् फल के हेतु यज्ञ की पूर्त्ति के लिये किन्हीं मनुष्यादि के साथ कुछ अ-
धर्म भी करने पड़े वा किन्हीं प्राणियों को कष्ट भी पहुंचे तो भी यज्ञ अवश्य करे
क्योंकि उस छोटे अधर्म की अपेक्षा यह धर्म बहुत बड़ा होगा । इसी लिये व्यर्थ
पड़े मक्खीचूष कंजूस के धन को बलात्कार लेकर यज्ञ में लगाने की आज्ञा मनु
जी ने ११ अध्याय में दी है इत्यादि तो ये दोनों श्लोक निर्दोष ठहर सकते हैं] ॥

भा०—ये अठारह श्लोक किसी अन्य के एक देशी मत को प्रकाशित कर-
ने के लिये पूर्व पक्ष में ग्रन्थकार ने धरे हैं । इसी लिये ग्रन्थकार ने उत्तर प-
क्ष में सर्वथा ही मांसभक्षण का निषेध आगे किया है । सर्वत्र ग्रन्थकारों में
यह नियम हो रहा है कि जहां पूर्व कथन से पर कथन कारणसहित विरुद्ध
किया है वहीं पूर्वोत्तर दो पक्ष होते हैं । इस से यज्ञ में मांस का प्रयोग वा भ-
क्षण करना चाहिये यह मनु जी वा भृगु जी का मत नहीं है किन्तु अहिंसा ध-
र्म के मर्म को न जानने वाले किसी अन्य का ही यह कथन है । सो महाभा-
रत मोक्षधर्म पर्व में मनु जी का मत यों लिखा है कि " (सर्वकर्मस्व०) ध-

र्मात्मा धर्मतत्त्वज्ञ मनु जी ने सब कर्मों अर्थात् यज्ञादि शुभ वा अशुभ सभी कर्मों में अहिंसा को ही धर्म कहा और माना है कहीं भी हिंसा करना नहीं कहा किन्तु अपनी इच्छा और लालच से अन्य लोग वेदि में वा वेदि से बाहर पशुओं को मारते हैं। धूर्त्त लोगों ने यज्ञ में मांस चढ़ाने पशु मारने का विचार चलाया है किन्तु वेद में ऐसा नहीं कहा गया कि यज्ञ में पशुओं को मारना चाहिये। „ और मनुस्मृति के आरम्भस्थ प्रस्ताव में यह लिखा है कि (त्वमेकोह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः। अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो) अनादि सिद्ध अचिन्त्य, अप्रमेय इस सब वेद के तत्व को जानने वाले एक तुम्ही हो अर्थात् मनु जी के समान वेद का तत्त्वज्ञाता अन्य कोई नहीं माना गया यह सब वेदमतानुयायी आर्य मानते हैं कि इस वर्त्तमान कल्प में सर्वोपरि वेदवेत्ता मनु जी हुए। और मनु जी का मत वही है जो वेद का सिद्धान्त है इस से यज्ञ में पशुवध करना वेद और मनुस्मृति दोनों से निषिद्ध सिद्ध हो गया। और ये सब श्लोक पूर्वपक्ष में खण्डन के लिये यहां लिखे गये हैं। अथवा किन्ही मांस भक्षण के लोभियों ने यज्ञ के बहाने से मांस खाने के अर्थ ग्रन्थ बनने पश्चात् यहां हिंसा मिला दी हो यह भी असम्भव नहीं। यद्यपि इन दोनों पक्षों का आशय अधिकांश मिलता है तथापि पहिला पक्ष यहां अच्छा प्रतीत होता है। दोनों पक्ष में सिद्धानुवादरूप से कहे (प्राणस्यान्नमि०) इत्यादि दो श्लोक मांस भक्षण की पुष्टि के लिये लिखे होने से त्याज्य ठहरते हैं। यदि ये ही दोनों पद्य अन्य प्रकरण में जहां मांसभक्षण को सिद्ध करना न होता पढ़े होते तो त्याज्य नहीं थे किन्तु अच्छे ठहर जाते। जैसे चोर, साहूकार और खाने के पदार्थ तीनों को सर्वधर्त्ता ईश्वर ने ही रचे हैं तो भी ईश्वररचित होने के कारण चोर निर्दोष नहीं हो सकते। वैसे ही ईश्वररचित होना मांसभक्षण का दोष हटाने में हेतु नहीं हो सकता। इस प्रकार यद्यपि बड़ी हिंसा और अधिक अपवित्रतादि दोष युक्त मांसभक्षण की अपेक्षा किसी अल्प हिंसादि दोष युक्त मांसभक्षण अच्छा माना जाय जैसे कि बड़ी चोरी की अपेक्षा थोड़ी चोरी कम बुरी वा अच्छी है तथापि सर्वथा मांसभक्षण के त्याग की अपेक्षा किन्हीं जाङ्गल जीवों का वा कम उपकारी बकरा आदि का मांस खाना भी राक्षसी विधान ही माना जायगा। इस प्रकार यज्ञ के बहाने से मांस भक्षण दैवी सम्प्रदाय कदापि नहीं हो सकता। सर्वत्र ही मांस को त्यागने की अपेक्षा उस

नाना दोषकारी अधर्मोत्पादक ही है यही सिद्धान्त सर्वानुमत सुस्थिर हो गया इस दशा में ये श्लोक प्रक्षिप्त न ठहरें तो भी सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं दोनों दशा में सिद्धान्त यही रहा ॥ ४४ ॥

योऽहिंसकानिभूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
सजीवंश्चमृतश्चैव नक्वचित्सुखमेधते ॥
योबन्धनवधक्लेशान् प्राणिनांनचिकीर्षति।
ससर्वस्यहितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥
यद्ध्यायतियत्कुरुते धृतिंबध्नातियत्रच।
तदवाप्नोत्ययत्नेन योहिनस्तिनकंचन ॥
नाकृत्वाप्राणिनांहिंसां मांसमुत्पद्यतेक्वचित्।
नचप्राणिवधःस्वर्ग्य-स्तस्मान्मांसंविवर्जयेत् ॥
समुत्पत्तिंचमांसस्य वधबन्धौचदेहिनाम्।
प्रसमीक्ष्यनिवर्त्तेत सर्वमांसस्यभक्षणात् ॥
नभक्षयतियोमांसं विधिंहित्वापिशाचवत्।
सलोकेप्रियतांयाति व्याधिभिश्चनपीड्यते ॥
अनुमन्ताविशसिता निहन्ताक्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ताचोपहर्त्ताच खादकश्चेतिघातकाः ॥
स्वमांसंपरमांसेन योवर्धयितुमिच्छति।
अनभ्यर्च्यपितॄन्देवां-स्ततोऽन्योनास्त्यपुण्यकृत्

वर्षेवर्षेऽश्वमेधेन योयजेतशतंसमाः ।
मांसानिनचखादेद्य-स्तयोःपुण्यफलंसमम् ॥
[सदायजतियज्ञेन सदादानानियच्छति ।
सतपस्वीसदाविप्रो यश्चमांसंविवर्जयेत् ॥]
फलमूलाशनैर्मेध्यै-र्मुन्यन्नानांचभोजनैः ।
नतत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥
मांसभक्षयितामुत्र यस्यमांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्यमांसत्वं प्रवदन्तिमनीषिणः ॥५५॥

भा०—यो मांसभक्षणजन्यस्वसुखेच्छयाऽहिंसकानि कपोतमृगादीनिभूतानि प्राणिनो हिनस्ति स जीवन् मृतश्चैव न क्वचित्सुखं यथा भवेत्तथा वर्धते । यश्च हिंसकानि हिनस्ति तत्र मन्युस्तन्मन्युमृच्छति, नाततायिबधे दोषो० इत्यादि प्रमाणेषु दोषाल्पत्वमेव दोषाभावः । यः प्राणिनां बन्धनवधक्लेशान् न चिकीर्षति स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सन्नत्यन्त सुखमश्नुते । यः कंचन न हिनस्ति स यद्ध्यायति यत्कुरुते यत्र च धृतिं बध्नाति तदयत्नेनावाप्नोति । प्राणिनां हिंसामकृत्वा मांसं क्वचिन्नोत्पद्यते । नच प्राणिवधः स्वर्ग्योऽपि तु नरकहेतुरस्ति तस्मान्मांसं विवर्जयेत् । मांसस्य समुत्पत्तिं देहिनां दयाधर्मविरुद्धौ वधबन्धौ च प्रसमीक्ष्य सर्वमांसभक्षणान्निवर्त्तेत । यो विधिं हित्वाऽहिंसाधर्मपालनाज्ञामनादृत्य पिशाचवन्मांसं न भक्षयति स लोकेऽन्येषां प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते । पशुमारणायानुमतिदाता, मृतपशोर्गात्रविभाजकश्छित्त्वा मांसनिस्सारकः विशसिता,

प्राणवियोजको निहन्ता,मांसस्य क्रेता,विक्रेता च, संस्कर्त्ता मांसपाचकः, सूनास्थानान्मांसस्यानायक उपहर्त्ता, खादको भक्षकश्चैतेऽष्टौ घातका हिंसादोषेण लिप्यन्ते । यः पितॄन्देवां श्चानभ्यर्च्य वेदोक्ते ज्ञाने तत्पराः पितरो वेदोक्ते कर्मणि रताश्च देवास्तेषामाप्तानामुपदेशमनादृत्य परमांसेन स्वमांसं वर्धयितुमिच्छति ततोऽन्योऽपुण्यकृन्नास्ति तस्मादन्यो न कोऽपि पापिष्ठो वर्त्ततइति। वर्षेवर्षे योऽश्वमेधेन यजेत यश्च मांसानि न खादेत्तयोः समं पुण्यफलं भवति । यः सदा यज्ञैर्यजति यश्च सदा दानानि ददाति । यश्च मांसं विवर्जयति स विप्रः सदा तपस्वी भवति । इत्ययं श्लोकः पश्चात्प्रक्षिप्तः क्वचिदेवोपलभ्यते । फलमूलादिशुद्धाशनेन न तादृशं फलमवाप्नोति यादृशं मांसपरिवर्जनात् । स प्राणीनाममुत्र भक्षयिता यस्य मांसमिहाहमद्मि। एतदेव मनीषिणो मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति ॥

भा०—सर्वः प्राणी प्रायेणान्यप्राणिभ्य एव सुखं दुःखं वोपलभते तर्पिताश्च सर्वे स्वतर्पकाय सुखं दातुमुत्सहन्ते पीडिताश्च पीडकाय दुःखं ददतीति नियमएवोपलभ्यते । स्वस्य वधात्परं च न किमपि दुःखं मन्यन्ते देहिनस्तस्माद्धिंसारता न कदापि कुतोऽपि क्वापि सुखं लभन्तेऽपितु दुःखमेवाप्नुवन्ति । यश्च न किमपि पीडयति नच पीडयितुमिच्छति स कुतोऽपि पीडामनवाप्नुवन्सर्वेभ्यः सुखमुपलभमानः सुखेन जीवति । यो न किमपि दुःखयति तस्य सर्वमभीष्टं प्रयोजनमनायासेन सिध्यति । प्राणिपीडनम-

न्तरेण न केनापि कदापि क्वापि मांसं भक्षयितुमुपलभ्यते। अन्यजन्तुवधश्च स्वस्य दुःखहेतुरस्त्येव तस्मात्सुखेप्सुः सदैव मांसभक्षणं जह्यादेव। दयावन्तः सुखिनो दृश्यन्ते नच मांसभक्षका दयालवः सम्भवन्ति तस्मात्करुणयापि सुखमीक्षमाणो दयां रक्षयेन्मांसं च वर्जयेत्। अनुमतिदात्रादयोऽपि पश्वादिवधे प्रयोजककर्त्तारः स्वतन्त्रकर्त्तृवत्ततोऽपि विशिष्टं वा कर्त्तृत्वमाप्ता हिंसाफलभाजः स्फुटं युक्तितोऽपि भवन्त्येव न केवलः प्राणवियोजकएव हिंसकः सम्भवति यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवमिति कथयता स्पष्टं प्रदर्शितं यक्षराक्षसादयोऽनुमोदन्ते मद्यमांसभक्षणं यद्वा तदनुमोदन्ते ते यक्षराक्षसपिशाचास्तादृशकर्मयोगादेव भण्यन्ते। येषां यदन्नादिकं यैः सम्बद्धं च भवति तएव तदनुमोदन्तेऽपि च। यक्षराक्षसादिभ्यो विरुद्धाश्च पितृदेवा अतः स्वभावेनैव न ते मद्यमांसे इच्छन्ति। तेषामिच्छाया उपदेशतश्च विरुद्धमाचरणमनभ्यर्चनमनादरश्च। बहुमेधापेक्षयापि हिंसात्यागान्मांसखादननिषेधो नित्यधर्मत्वात्प्रधानधर्मत्वाच्च विशिष्टपुण्यफलहेतुकः। यथा च देवयज्ञादिक्षत्रियधर्मापेक्षया ब्रह्मयज्ञादिब्राह्मणधर्मस्य प्राधान्यं विशिष्टफलकत्वं च। हिंसात्यागस्य च ब्रह्मयज्ञेन साकं प्रधानः सम्बन्धः। यादृशउपकारोऽपकारो वा कस्यापि केनापि क्रियते स तादृशमेव तस्मादुपकृतादपकृताद्वा शुभमशुभं वा फलमाप्नोति। यथा पांसुताडकउदकक्षेप्ता च पांसूदकैरेवोत्थितैस्ताडयते। एवं यो यस्य मांसम्

यैवान्योऽपि कालापगमे जन्मान्तरे वा मांसमत्तुं प्रवर्त्तते
तदेव मांसभक्षणस्य प्रधानतयाऽनिष्टत्वम् ॥५५॥

भाषार्थः-(य आत्मसुखेच्छयाऽहिंसकानि भूतानि हिनस्ति) जो पुरुष मां-
सभक्षणस्वन्धी अपने सुख की चाहना से सीधे अहिंसक किसी प्राणी को न
सताने वाले कबूतर भेड़ वकरी आदि प्राणियों को मारता वा मरवाता है (स
जीवंश्च मृतश्चैव क्वचित्सुखं नैधते) वह जीवित रहता हुआ इस जन्म में वा
मरणानन्तर जन्मान्तर में कहीं भी सुखपूर्वक नहीं बढ़ता अर्थात् धनादि सुखहेतु
पदार्थ प्राप्त होने पर भी अन्योंसे नाना प्रकार के भयादिजन्य दुःखों से पीड़ित
रहता ही है । और जो हिंसक जीवों को अपनी वा अन्य निर्बलों की रक्षा के
लिये मारता है किन्तु मांसभक्षणार्थ नहीं वहां "क्रोध २ की लड़ाई होती, वा आ-
ततायी के मारने में दोष नहीं " इत्यादि मनुवचनों के अनुसार थोड़ा दोष ही
दोष का अभाव उचित की अपेक्षा से माना जायगा (यः प्राणिनां बन्धनवध-
क्लेशान् न चिकीर्षति) जो प्राणियों को बांधना, मारना और पीड़ित करना
नहीं चाहता (स सर्वस्य हितप्रेप्सुरत्यन्तं सुखमश्नुते) वह सब का सुख चाहने
वाला अत्यन्त सुख भोगता है (यः कंचन न हिनस्ति यद्ध्यायति यत्कुरुते यत्र
धृतिं बध्नाति) जो पुरुष किसी प्राणी को नहीं सताता दुखाता वह जिस
कर्त्तव्य को शोचता जिस काम को करता और जहां धीरज बांधता है (त-
दवाप्नोत्ययत्नेन) विशेष परिश्रम वा कष्ट उठाये विना ही उस इष्ट को प्राप्त वा
सिद्ध कर लेता है (प्राणिनां हिंसामकृत्वा मांसं क्वचिन्नोत्पद्यते) प्राणियों को
मारे विना अन्य किसी प्रकार से मांस कहीं उत्पन्न नहीं होता (न च प्राणिवधः
स्वर्ग्यः) और प्राणियों को मारना सताना वा दुःखाना सुख का हेतु नहीं है
क्योंकि सताये हुए प्राणी स्वभाव से ही आगे २ उस अपने शत्रु को सताने का
जन्मजन्मान्तरों तक उद्योग करते हैं तब जिस के बहुत शत्रु हों जिन से प्रति-
क्षण भय उपस्थित रहे उस को सुख कहां यदि कुछ हो तो वह सुखाभास माना
जायगा (तस्मान्मांसं विवर्जयेत्) इस कारण संसार में सुख चाहने वाला पुरुष
मांसभक्षण का सर्वथा त्याग अवश्य करे यह भी एक प्रधान धर्म है (मांसस्य
समुत्पत्तिं देहिनां वधबन्धौ च) मांस की उत्पत्ति रुधिर से होती [रसाद्रक्तं ततो
मांसं मांसान्मेदः प्रजायते) रस धातु से रुधिर उससे मांस और उस से मेदा बनता
है]। रस में से ही कुछ भाग मल बनता है जैसे दूध में मलाई पड़ती वैसे खाये
पिये में से रस रुधिर मांस मलाई के समान और शेष मल भाग दूध के समान

होता इस कारण मल का संसर्ग मांस के साथ सदा ही रहता है पर म
रुधिर का खाना जैसे अतिघृणित है वैसे उन्हीं में मांस भी उत्पन्न हुआ
द्वितीय प्राणियों को मारने बांधने में दया को सर्वथा छोड़ के दुःख देना
त् मांस की मलिनता और अतिघृणित होने तथा निर्दयता कठोरता को
समीक्ष्य) अच्छे प्रकार मन में शोच विचार कर (सर्वमांसस्य भक्षणानि
सब प्रकार के अर्थात् यज्ञादि के बहाने से होने वाले भी मांस भक्षण से,
जित न किये पांच नख वाले पांच जीवों के मांस भक्षण से भी अवश्य हट
कदापि कैसे ही मांस न खावे (विधिं हित्वा पिशाचवद्यो मांसं न भक्षयति
हिंसा धर्म को ठीक पालन करने की शास्त्र में जो आज्ञा है उस को छोड़
नादर करके जो पुरुष राक्षस पिशाच सर्वथा निर्दयियों के तुल्य मांस
खाता (स लोके प्रियतां याति) वह लोक में अन्य प्राणियों को प्रिय हो
उस को सब प्राणी मित्र की दृष्टि से देखने लगते हैं और (व्याधिभिश्च
ड्यते) और मांसभक्षण से होने वाली विषमतारूप व्याधियों रोगों से भी
ड़ित नहीं होता (अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी) पश्वादि को
की अनुमति सलाह देने वाला, मारे हुए पशु को काटने खाल आदि उ
वाला, प्राणवियोग करने गला काटने वाला, बेचने वाला, मूल्य देकर लेने
(संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च) पकाने वाला और मारने के स्थान कसावखाने
उठा कर लाने वाला (खादकश्चेति घातकाः) और खाने वाला ये आठ
सक हत्यारे माने जाते हैं (यः पितॄन्देवाननभ्यर्च्य) जो पुरुष वेदोक्त
तत्पर पितरों और वेदोक्त कर्म में तत्पर देवों आप्त शुद्ध पुरुषों के मांस
ध पर किये उपदेश का अनादर करके (परमांसेन स्वमांसं वर्धयितुमिच्छति)
प्राणियों के मांस को खा २ कर अपना मांस बढ़ाना चाहता है (ततोऽन्
ण्यकृन्नास्ति) उस से और अधिक पापी कोई नहीं है (यो वर्षेवर्षे शतं
अश्वमेधेन यजेत) जो वर्ष २ में सौ वर्ष पर्यन्त अश्वमेध यज्ञ करे और
मांसानि न खादेत्) जो मांसों को सौ वर्ष पर्यन्त कभी न खावे (तयो
ण्यफलं समम्) उन दोनों का बराबर पुण्य फल है । इसी के आगे कि
पुस्तक में एक श्लोक अधिक मिलता है उस का अर्थ (सदा०) जो
यज्ञ करता जो सदा दान देता और जो सदा ही मांसभक्षण का त्याग
ता है ये तीनो तपस्वी ब्राह्मण हैं (मेध्यैः फलमूलाशनैर्मुन्यन्नानां च भोज
पवित्र बुद्धिवर्धक फल मूलों के भोजन और मुन्यन्नों के भोजनों से (

नाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात्) जो कि मांस के त्यागमात्र से फल होता वैसे फल को नहीं प्राप्त होता (मां-स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्) मुझ को वह जन्मान्तर में खायेगा कि जिस का मांस मैं यहां खाता हूं (एतन्मांसस्य मांसत्वं मनीषिणः प्रवदन्ति) विद्वान् लोग यही मांस में मांसपन कहते हैं कि मां-मुझको-सः-वह ऐसे मां-स इन दो पदों के योग से मांस पद बना है॥

भा०-सब प्राणी प्रायः अन्य प्राणियों से ही सुख वा दुःख पाते हैं। किसी के सुख देने से तृप्त प्रसन्न हुए अपने प्रसन्न करने वाले को सुख देने का उत्साह करते और ऐसे ही किसी से पीड़ा को प्राप्त हुए उस पीडा देने वाले को दुःख देते हैं यह नियम ही सर्वत्र दीखता है। परन्तु मार डालने से परे अन्य कोई दुःख देहधारी नहीं मानते इसी कारण हिंसा में तत्पर रहने वाले कभी किसी से सुख नहीं पाते किन्तु दुःख ही पाते हैं। और जो किसी को दुःख नहीं देता वा न देना चाहता है वह किसी से दुःख नहीं पाता और सब से सुख को प्राप्त करता हुआ सुख से जीवित रहता है। जो किसी को दुःखित नहीं करता उस का सब अभीष्ट प्रयोजन अनायास सिद्ध होता है। प्राणियों को पीडा पहुंचाये विना कोई कभी कहीं भक्षणार्थ मांस को प्राप्त नहीं कर सकता और अन्य प्राणियों को सताना अपने दुःख का हेतु है ही इस से सुख चाहने वाला सदा ही मांसभक्षण का त्याग ही करे। दयालु पुरुष सुखी दीखते और मांसभक्षी दयालु होते नहीं इस कारण दया से भी सुख होना जानता हुआ दया की रक्षा करे मांस भक्षण को त्यागे। अनुमति (सलाह) देने वाले भी पश्वादि के मारने में प्रयोजक कर्त्ता बनते स्वतन्त्र कर्त्ता के तुल्य वा उस से भी अधिक कर्तृपन को प्राप्त हुए हिंसा फल के भागी युक्ति से भी स्पष्ट सिद्ध होते हैं। जैसे चोर के साथी वा मारने की अनुमति देने वाले भी राजदण्ड भोगते ही हैं किन्तु केवल प्राणवियोग करने वाला ही हत्यारा नहीं हो सकता। "यक्ष राक्षस और पिशाचों का अन्न मद्य मांस है" इस कथन से ग्रन्थकार ने स्पष्ट दिखाया कि मद्य मांस भक्षण का राक्षसादि ही अनुमोदन करते अथवा जो लोग मद्य मांस का अनुमोदन करते हैं वे ही वैसा कर्म करने से यक्ष राक्षस कहाते हैं और जिन का स्वाभाविक अन्नादि होता है वे ही उस का अनुमोदन भी करते हैं। यक्ष राक्षसादि से विरुद्ध में पितृ और देव हैं इस कारण स्वभाव से ही वे मद्य मांस को नहीं चाहते-उन की इच्छा और उपदेश से विरुद्ध आचरण करना उन का अनादर है। बहुत अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा मांस खाने का नि-

षेध रखना हिंसा के त्याग से तथा नित्य धर्म वा अहिंसा के प्रधान धर्म है से विशेष पुण्य फल का हेतु है । जैसे कि देव यज्ञादि क्षत्रिय धर्म की अपेक्षा ब्रह्मयज्ञादि ब्राह्मण का धर्म प्रधान और विशेष पुण्य फल देने वाला है हिंसात्याग के साथ ब्रह्मयज्ञ का प्रधान सम्बन्ध है । जैसा उपकार वा अपकार किसी का कोई करता है । वह उस उपकृत अपकृत से वैसा ही शुभ वा अशुभ फल को प्राप्त करता है । जैसे धूलि को ताड़ने वा जल को क्षोभित करने वाले के ऊपर ताड़ित हुई धूलि और जल उछल कर पड़ता है ऐसे ही जिस का मांस खाता है वह अपने खाने वाले का मांस खाने को स्वभाव से कालान्तर में वा जन्मान्तर में प्रवृत्त होता है यही मांसभक्षण में सर्वोपरि अनिष्ट फल है इस से सर्वथा मांसभक्षण का त्याग करना चाहिये ॥ ५५ ॥

[न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥५६॥]

अ०—मांसभक्षणे दोषो नास्ति मद्ये मद्यपाने दोषो नास्ति मैथुने च सेव्यमाने दोषो नास्ति । भूतानां प्राणिनामेषा स्वाभाविकी प्रवृत्तिरस्ति तथापि निवृत्तिस्तेभ्यो महाफला विशिष्टफलप्रदा विज्ञेया ॥

भा०—अत्र केचिद्दोषपदात्पूर्वं लुप्ताऽकारप्रश्लेषं मन्यन्ते तेन मांसभक्षणे मद्ये मैथुने च-अदोषो नापितु विहितेऽपि सेव्यमाने दोषएव तस्मादेव तेभ्यो निवृत्तिस्तु महाफलेति कथनं संघटते। अन्येतु यज्ञे-अग्नीषोमीयं पशुमालभेत, सौत्रामण्यां सुरां पिबेत् । ऋतौ भार्य्यामुपेयादित्यादिविधिवचोभिर्विहिते प्रसङ्गप्राप्ते मांसभक्षणादौ न दोषोऽपितु भूतानां प्रवृत्तिरेषा ततोऽपि निवृत्तिर्महाफला । ततोऽन्ये मन्यन्ते मनुष्यमात्रेऽहिंसायाः सामान्यधर्मत्वान्मनुष्यमात्रस्य मांसभक्षणं प्रतिषिद्धम् । मद्यं च-"न पातव्या द्विजातिभिः" द्विजात्यर्थं विशेषेण प्रतिषिद्धं मैथुनस्य च द्वि

जात्यर्थो नियमस्तृतीये विशेषेण कृतस्तत्रावशिष्टप्राणिविषयकं पद्यमिदम् । यथा सिंहव्याघ्रश्वशृगालमार्जारपक्ष्यादीनां मांसभक्षणे न दोषोऽर्थादल्पो दोषोऽदोषवत्परिगण्यते तेषां मांसभक्षणे स्वाभाविकी प्रवृत्तिस्तथापि निवृत्तिर्महाफलप्रदा । अवशिष्टशूद्रातिशूद्रादीनां मद्यपानेऽपि न दोषोऽपि तु प्रमादस्तेषां स्वाभाविकस्तथापि ततो निवृत्तिर्भाविशुभहेतुका । एवमन्त्यजयवनम्लेच्छादीनां पश्वादीनां चागम्यागमने न दोषस्ते स्वभावेनैवागम्यागमने प्रवृत्तास्तथापि निवृत्तिर्महाफलेत्येवं द्विजेभ्योऽन्यार्थं पद्यं सिद्धानुवादपरं वर्णयन्ति । यद्यपि विशेषेण शास्त्रमिदं ब्राह्मणार्थं द्विजार्थं वा प्रवृत्तं तथापि--न शूद्रे पातकं किञ्चिन्नच संस्कारमर्हति ॥ कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च । स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात् ॥ इत्यादिप्रकारेणान्यप्राण्यर्थत्वमपि शास्त्रस्यास्त्येवेति सङ्गतिमाहुः । अन्ये चतुर्थास्तु पश्चात्केनापि प्रक्षिप्तं पद्यमिदमाहुः--अदोषइति क्लिष्टकल्पनं,यज्ञादौ मांसमद्ययोर्विधानं च साध्यं न सिद्धम् । धूर्त्तैः प्रवर्त्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कथ्यतइत्यादिभारते दर्शनात् । मैथुनं च रागादेव प्राप्तं तत्र न दोषइतिकथनं मैथुनासक्तिवर्धनेन हानिकरमेवेति । एवं च मद्यमांसमैथुनासक्तेः स्वावलम्बपरं पद्यमिदं मध्ये पश्चाद् धृतं मांसप्रकरणं तु पूर्वपद्यउपसंहृतमेव ग्रन्थकृता । अत्र पक्षचतुष्टयउत्तरोत्तरः पक्षः साधुः प्रतीयते । सर्वमतेषु चिन्त्यमेवेदं पद्यं बुधैरिति प्रदर्शनाय मयेदं यथादर्शनमुपन्यस्तमित्यलमनल्पजल्पनेन ॥

भावार्थः-(मांसभक्षणे दोषो न) मांस भक्षण में दोष नहीं है (न मद्ये) मद्य पीने में दोष नहीं (मैथुने च न) मैथुन करने वा परस्त्रीगमनादि में भी दोष नहीं (भूतानामेषा प्रवृत्तिः) प्राणियों की मांस भक्षणादि कामों में स्वाभाविक प्रवृत्ति है [अग्नि में स्वाभाविक गुण जलादेना है उस से अग्नि को दोष नहीं लगता] तथापि (निवृत्तिस्तु महाफला) उन कामों से निवृत्ति होना प्राणियों को अधिक फल देने वाली है ॥

भा०-इस श्लोक में कोई भाष्यकार दोषपद से पूर्व एक अकार का लोप वा पूर्वरूप एकादेश हुआ मानते हैं इस से यह अर्थ होता है कि-मांसभक्षण, मद्यपान और मैथुन करने में अदोष नाम दोष नहीं सो नहीं किन्तु विधान किये पञ्च नख वाले पांच प्राणी आदि के मांस में, सौत्रामणी यज्ञान्तर्गत मद्य पीने में और ऋतु समय पर स्वभार्यागमन में भी साधारण दोष अवश्य ही है इसी कारण उन से बचना निवृत्त होना महाफल—सर्वोत्तम परमार्थ सुख का देने वाला है यह पहिला पक्ष हुआ । द्वितीय पक्ष वाले मानते हैं कि-सोमयागों में "अग्नीषोम देवता वाले पशु का वध करे" "सौत्रामणी यज्ञ में मद्य पीवे" और "ऋतुकाल में अपनी स्त्री के समीप जावे" इत्यादि शास्त्र में विधान किये प्रसङ्ग से प्राप्त हुए मांसभक्षणादि कामों में दोष नहीं है किन्तु प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है परन्तु उन से बचना विशेष फल का हेतु है [जब कि उन से बचना महाफल वाला है तो अर्थात् सिद्ध हुआ कि दोष नहीं कहने का अभिप्राय यह हुआ कि विशेष दोष नहीं और इस से पहिले पक्ष में अदोष नहीं कहने का भी यही आशय हुआ कि सामान्य दोष अवश्य है । इस कारण इन दोनों पक्षों में अधिक समता अवश्य ही शोचने से ज्ञात होगी] तृतीय पक्ष वाले कोई लोग मानते हैं कि (अहिंसा सत्यमस्तेय०) इत्यादि द्वारा मनु जी ने अहिंसा धर्म सब वर्णों नाम मनुष्यमात्र के लिये और इसी अध्याय में यह भी कह चुके हैं कि प्राणियों की हिंसा किये विना मांस कहीं उत्पन्न नहीं होता तो मांसभक्षण मनुष्यमात्र के लिये मनु जी के सिद्धान्त से निषिद्ध हो चुका (न पातव्या द्विजातिभिः) ब्राह्मणादि तीन वर्णों को मद्य कभी नहीं पीना चाहिये। इस कथन के अनुसार तीन वर्ण को मद्यपान का निषेध किया शूद्र वा अन्त्यजादि के लिये विधि निषेध दोनों ही नहीं आये किन्तु शूद्रातिशूद्र के लिये कामचार रह गया और मैथुन का द्विजातियों के लिये तृतीयाध्याय में विशेष नियम कर चुके किन्तु शूद्र वा पश्वादि के विषय में मैथुन का कोई विशेष नियम नहीं किया इस कारण द्विजों से भिन्न प्राणियों के

लिये यह श्लोक कहा गया है कि सिंह, व्याघ्र, कुत्ता, शृगाल, बिलाव और पक्षी आदि तिर्यग् जन्तुओं को मांस भक्षण में दोष नहीं अर्थात् थोड़ा दोष दोष में नहीं गिना जाता क्योंकि उन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है वे मांस खाये विना बच ही नहीं सकते तो भी सिंहादि का मांस खाने से बचना वा बचाना जन्मान्तर के लिये उत्तम फल का हेतु अवश्य है। द्विजों से भिन्न शूद्र अन्त्यजादि मनुष्यों को मद्य पीने में विशेष दोष नहीं [जैसे कोई कहे कि प्रथम से अधिक मलिन वस्त्र में और मैल लगजाना कुछ हानिकर नहीं क्योंकि स्वयं ही अतिमलिन था मलिनता में मलिनता मिलगई वैसे शूद्र में तमोगुण की अधिकता होने से कर्त्तव्य का विस्मरण प्रमाद—नशा स्वभाव सिद्ध ही था उसी में मद्यादि का भी मल मिल गया। अर्थात् कोई अधिक सचेत विचारशील मदकारी द्रव्य खाने पर भी जितना उन्मत्त नहीं होता उस से अधिक स्वाभाविक उन्मत्त कोई वा अनेक शूद्रादि नशा किये विना संसार में स्पष्ट दीखते हैं। क्योंकि प्रमादरूप नशा उन में स्वाभाविक ही है तथापि मद्यपान से बचना शूद्रों के लिये भी भविष्यत् में शुभ फल का हेतु अवश्य है। इसी प्रकार अन्त्यज यवन म्लेच्छादि वा पशुपक्ष्यादि को अगम्यागमनादि मैथुन में विशेष दोष नहीं क्योंकि वे स्वभाव से ही अगम्यागमन में प्रवृत्त हैं व्यभिचार को पाप वा दोष ही नहीं मानते जिस स्त्री से जिस पुरुष का मेल मिल जावे वही उस की हो जावे। कोई सहोदर भगिनी को छोड़ सब से विवाह कर लेते, उसी गौ से उत्पन्न हुए बैलसे वही गौ वर्दाती है। इत्यादि प्रकार पश्वादि के तुल्य नीच मनुष्यों में भी निर्दोष के तुल्य स्वभाव से ही अगम्यागमन प्रवाह से चल रहा स्वाभाविक हो गया है तो भी अविवेक के साथ प्रवृत्त मैथुन से उन की निवृत्ति होना बहुत अच्छी है आगे २ उस से नीचों वा पश्वादि का भी कुछ २ सुधार ही होता चलेगा। इस प्रकार द्विजों से भिन्नों के लिये सिद्धानुवादपरक इस श्लोक का वर्णन करते हैं। यद्यपि यह धर्मशास्त्र मुख्य कर ब्राह्मण के लिये और द्वितीय कोटि में वर्णत्रय के लिये प्रवृत्त हुआ है तथापि "शूद्र के लिये तीनों वर्णों की सेवा ही एक कर्म प्रभु ने कहा, शूद्र में कोई पातक नहीं, इस को धर्म में अधिकार नहीं, शूद्र को धर्म का निषेध नहीं। तथा कीड़ा, सांप, पतङ्ग, पशु, पक्षी और स्थावर वृक्ष वनस्पत्यादि भी तपनाम द्वन्द्व सहनादि उत्तम कृत्य से उत्तम दशा को प्राप्त हो जाते हैं" इत्यादि कथनानुसार अन्य प्राणियों के सुधार के लिये भी शास्त्र का उद्देश अवश्य है। ऐसे विचार से सब शा-

न्त्र की ठीक २ सङ्गति लग जाती है और यह तीसरा पक्ष ही सब से अच्छा निर्दोष भी शोच विचार करने से ज्ञात होता है। और चौथे पक्ष वाले कहते हैं कि ग्रन्थ बने पश्चात् यह श्लोक किसी अन्य ने बीच में प्रक्षिप्त किया मिला दिया है। अदोष निकालना क्लिष्ट कल्पना है और यज्ञादि में मांसमद्य का विधान भी साध्यकोटि में है सिद्ध नहीं और साध्य का प्रमाण होता नहीं। यज्ञ में मांसमद्यादि का प्रयोग धूर्त्तों ने चलाया है किन्तु वेदों में ऐसा नहीं कहा गया इत्यादि कथन महाभारतादि में दीखता है। और मैथुन तो राग से ही प्राप्त है उस में दोष नहीं ऐसा कहना मैथुन में फसावट बढ़ा के हानि करने वाला ही है। इस प्रकार मांसमद्य और मैथुन के लोभी लोगोंने अपने सहारे के लिये यह श्लोक पीछे से बीच में प्रक्षिप्त किया—धरदिया है मांस का प्रकरण तो पूर्व श्लोक में ही ग्रन्थकार ने समाप्त कर दिया है इन चार पक्षों में पिछला पक्ष अच्छा प्रतीत होता है। सब मतों में यह श्लोक विद्वानों को शोचने ध्यान देने योग्य है यह दिखाने के लिये ही हमने अपने विचारानुसार इतना लेख किया है और अधिक लिखना आवश्यक नहीं ॥ ५६ ॥

प्रेतशुद्धिंप्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिंतथैवच ।
चतुर्णामपिवर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥५७॥

अ०—चतुर्णामपि ब्राह्मणादीनामनुपूर्वशः क्रमेण प्रेतशुद्धिं तथैव द्रव्यशुद्धिं च यथावद्वक्ष्यामीति भृगुः प्रतिजानीते।

भा०—प्रधाना सती प्रेतशुद्धिः सूतकशुद्धेरुपलक्षिका अन्यत्र वर्णत्रयस्यैव प्रायेण कृत्यनिर्देशादत्र चतुर्थस्यापि ग्रहणमिष्टमिति ज्ञापयितुं चतुर्णामिति ग्रहणम् ॥५७॥

भावार्थः—(चतुर्णामपि वर्णानामनुपूर्वशः) यहां से आगे चारो वर्णों की क्रम से (प्रेतशुद्धिं तथैव द्रव्यशुद्धिं च) मृतक शुद्धि और पदार्थों की शुद्धि (यथावद्वक्ष्यामि) ठीक २ कहेंगे मह भृगु जी प्रतिज्ञा करते हैं ॥

भा०—प्रधानता को प्राप्त हुई मृतकशुद्धि सूतक शुद्धि के भी उपलक्षक है। अन्यत्र तीन वर्णों के लिये ही प्रायः कर्त्तव्य की आज्ञा दी गयी है और इस प्रकरण में चारो वर्ण का ग्रहण करना इष्ट है यह जताने के लिये चार वर्ण कहे गये हैं ॥ ५७ ॥

दन्तजातेऽनुजातेच कृतचूडेचसंस्थिते ।
अशुद्धाबान्धवाः सर्वेसूतकेचतथोच्यते ॥५८॥

अ०—दन्तजाते जातेषूत्पन्नेषु दन्तेषु—अनुजाते पूर्वदुग्धदन्तपतनानन्तरं द्विजातेषु दन्तेषु, चूड़ाकर्मणि कृते त्रिवार्षिके च बाले संस्थिते मृते सर्वे बान्धवा अशुद्धा भवन्ति तथा सूतकेप्यशुद्धिरुच्यते ॥

भा०—षण्मासाभ्यन्तरे दन्तोद्भवमन्तरेण मृते शिशौ सद्यःशौचं दन्तोद्भवानन्तरं चूडाकर्मावधि–एकाहोरात्रेण शुद्धिः परं च त्रिभिरहोभिः सूतकउत्पन्नेऽपि बाले बान्धवा अशुद्धा भवन्त्येव विशेषं त्वग्रे स्वयमेव वक्ष्यति ॥ ५८ ॥

भावार्थः–(दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते) पहिले दूध के दांत निकल आने पर, पहिले उखड़ के दूसरे दांत जम आने पर और चूड़ाकर्म मुण्डन संस्कार हो जाने पर कोई बालक मरजावे तो (सर्वे बान्धवा अशुद्धाः) सब बान्धव अशुद्ध होते हैं उनको घर वा वस्त्रादि की यथोचित शुद्धि करनी चाहिये (तथा सूतके चोच्यते) और ऐसे ही सन्तानोत्पत्ति होने पर भी सब कुटुम्बियों को अशुद्धि लगती है ॥

भा०–छः महीने पश्चात् ही प्रायः दन्त निकलते हैं । इस कारण छः महीने के भीतर कोई बालक मरे तो तत्काल शुद्धि कर लेनी चाहिये । दांत निकलने पश्चात् मुण्डन पर्यन्त मरने पर एकदिन रात अशुद्धि मानी जावे । इस से आगे तीन दिन की अशुद्धि और उपनयन संस्कार होने पश्चात् मरा हो तो दश दिन की अशुद्धि माने । और सूतक नाम उत्पत्ति में भी कुटुम्बी लोग अशुद्ध होते ही हैं विशेषता आगे २ ग्रन्थकार स्वयमेव कहेंगे ॥ ५८ ॥

दशाहंशावमाशौचं–सपिण्डेषुविधीयते ।
अर्वाक्संचयनादस्थ्नां–त्र्यहमेकाहमेववा ॥

सपिण्डतातुपुरुषे–सप्तमेविनिवर्त्तते ।
समानोदकभावस्तु–जन्मनाम्नोरवेदने ॥
यथेदंशावमाशौचं–सपिण्डेषुविधीयते ।
जननेप्येवमेवस्या–न्निपुणांशुद्धिमिच्छताम् ॥

[उभयत्रदशाहानि–कुलस्यान्नंनभुज्यते ।
दानंप्रतिग्रहोयज्ञः–स्वाध्यायश्चनिवर्त्तते ॥]

सर्वेषांशावमाशौचं–मातापित्रोस्तुसूतकम् ।
सूतकंमातुरेवस्या–दुपस्पृश्यपिताशुचिः ॥६२॥

[सत्रधर्मप्रवृत्तस्य–दानधर्मफलैषिणः ।
त्रेताधर्मापरोधार्थ–मरण्यस्यैतदुच्यते ॥]

भा०–सपिण्डेषु मृतेषु शावमाशौचं दशाहं विधीयते सामान्येन ब्राह्मणपदवाच्यानामिति शेषः । अस्थ्नां संचयनादर्वाक् चत्वारि दिनानि सामान्यविदुषाम् । त्र्यहं धर्मशास्त्रदर्शनशास्त्रज्ञानामेकाहमेव वा विशेषेण सर्ववेदविदामिति शेषः । स्वतः पूर्वेषु पितृपितामहादिषु षट्सु सपिण्डतानुवर्त्तते सप्तमे च पुरुषे विशेषेण निवर्त्तेत । प्रक्षालनादिकर्मान्तरेणैकपात्रेणोदकपानन्तु जन्मनाम्नोरवेदने निवर्त्तते नतु सप्तमे पुरुषे तच्च पूर्वं परं चोभयत्र निवर्त्तनं सम्भवति । स्वकुटुम्बित्वेन प्रसिद्धस्यापि यस्य काभ्यां मातापितृभ्यां क्वजन्माभूत्किञ्च तस्य नामास्तीति ज्ञानाभावे तस्य समानपात्रोदकं नादेयम् । यथा शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते निपुणां शुद्धिमिच्छतां जननेप्येवमेव स-

पिण्डेष्वाशौचं स्यात् । अस्याग्रएकं पद्यं पश्चात् क्षिप्रमुपलभ्यते। उभयत्र द्विविधेऽप्याशौचे कुलस्याशुद्धस्य सपिण्डस्यान्नमन्यैर्दशाहावधि न भुज्यते। अशौचकुले-दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च दशाहावधि निवर्त्तते। सर्वेषां सपिण्डानां शावमाशौचं मन्तव्यं मातापित्रोस्तु विशेषेण सौतकमाशौचं पित्रपेक्षयापि मातुरेवाधिक्येनाशौचं पिता तु जातकर्मणि कृते स्नात्वा शुध्यति। अस्याग्रेऽप्येकं पद्यं पश्चात् क्षिप्रमुपलभ्यते-सत्रधर्मप्रवृत्तस्य दानधर्मफलैषिण आरण्यस्य वानप्रस्थस्य त्रेताधर्मापरोधार्थं वानप्रस्थधर्मस्यावरोधो न स्यादेतदर्थं चैतदुच्यते ॥

भा०—अत्र प्रथमं पद्यं सामान्यं तेन शौचाशौचतत्त्वं सम्यग्विजानता यस्य यावत्कालेन यदाऽऽशौचापगमेन शौचं सम्भवति तदा तस्य तावत्कालिकमाशौचं मन्तव्यम्। जननाशौचस्य तुल्यत्वस्यादिष्टेऽपि सति भेदे तुल्यत्वं सम्भवति। तेनाशौचमात्रसाम्यम्। अन्यव्यापारेष्वशुचिरपि पिता सूतके स्नानानन्तरं स्पर्शादिव्यवहारार्हो जायते ॥६२

भाषार्थः—(सपिण्डेषु शावमाशौचं दशाहं विधीयते) सात पीढ़ी के भीतर किसी कुटुम्बी के मरने पर मुर्दा सम्बन्धिनी अशुद्धि दश दिन तक मानना शास्त्र में कही गयी है पर यह विचार सामान्य कर ब्राह्मणों के लिये है क्योंकि क्षत्रियादि की अधिक २ दिनों की अशुद्धि आगे कहेंगे (अस्थ्नां सञ्चयनार्वाक्) वा अस्थि संचय करने से पूर्व २ अशुद्धि मानी जावे अर्थात् दाहकर्म से चौथे दिन अस्थि संचय करना कहा गया है तो चार दिन अशुद्धि माने और (त्र्यहमेकाहमेव वा) तीन दिन अथवा एक ही दिन रात अशुद्धि माने [सामान्य लोग १० दिन, सामान्य जानकार पण्डित ४ दिन, धर्मशास्त्र वा दर्शनशास्त्रों को अच्छा जानने वाले विशेष विद्वान् तीन दिन और वेद तथा अन्य-

शास्त्रों को बहुत अच्छा जानने वाले तत्त्ववेत्ता सार्वभौम महाविद्वान् वेद धर्मर्मज्ञ १ दिन ही अशुद्धि मानें यही विवेक है] (सपिण्डता तु सप्तमे पुरुषे विनिवर्त्तते) अपने से पूर्व सातवें पुरुष में सपिण्डता निवृत्त हो जाती है अर्थात् अपने सहित सात पुरुषों में रस रुधिरादि धातु कम बदलते हैं इस से सात पीढ़ियों वाले समान—एक—पिण्डनाम शरीर वाले होते उन सब के शरीरों में धातुओं की एकता होने से एक ही माने जाते हैं और सात से आगे शरीरों में इतना परिणाम बदल जाता है जिन को अधिक दूरस्थों की अपेक्षा समीपस्थ होने पर भी भिन्न २ मानते हैं (समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने) और एक पात्र में जल पीना जन्म और नाम का ज्ञान न होने पर छूट जाता है। अर्थात् पात्र को माजे धोये विना एक पात्र से जल पी लेना वहां छोड़ देना चाहिये कि जो प्रसिद्धि में अपना कुटुम्बी भी हो पर यह न ज्ञात हो कि किन माता पिता से इस का जन्म हुआ और क्या नाम है यह बात कहीं किसी कारण सात पीढ़ी के भीतर भी हो सकती है (सपिण्डेषु यथैतच्छावमाशौचं विधीयते) सात पीढ़ी में जैसे यह मुर्दा सम्बन्धी आशौच कहा गया है (निपुणं शुद्धिमिच्छतां जननेऽप्येवमेव स्यात्) ठीक शुद्धि चाहने वालों के जनने में भी ऐसे ही सात पीढ़ी में अशुद्धि माननी चाहिये। इस के आगे एक श्लोक पीछे से प्रक्षिप्त किया किसी २ पुस्तक में लिखा मिलता है (उ० यत्र०) जन्म, मरण दोनों प्रकार की अशुद्धि में दश दिन तक उस अशुद्धि वाले कुल का अन्न अन्य लोगों को नहीं खाना चाहिये और उस कुल में दान देना, दान लेना, यज्ञ करना और वेदाध्ययन का अनध्याय हो जाता है ये सब काम उतने दिनों तक नहीं होने चाहिये (शावमाशौचं सर्वेषाम्) मरने की अशुद्धि सब कुटुम्ब को लगती है पर (मातापित्रोस्तु सूतकम्) जनन की अशुद्धि केवल माता पिता को ही विशेष लगती है अन्य कुटुम्बी अलग रहते हैं वरन् प्रसूता के निकट कार्यार्थ वार २ जाने आने वाले स्त्री पुरुषों को अन्यापेक्षा अशुद्धि अधिक पहुंचती है (सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः) उस में भी माता अधिकांश अशुद्ध होती है और जातकर्म संस्कार करने पश्चात् स्नान करके पिता शुद्ध हो जाता पीछे प्रसूता के पास जाने का उस को कुछ काम नहीं रहता इस कारण पिता के साथ शुद्ध का सा व्यवहार अन्य लोग कर सकें

हैं। इस के आगे भी पीछे मिलाया एक श्लोक लिखा है (सत्रधर्म०) दान धर्म का फल चाहनेवाले यज्ञादि धर्म में विशेष प्रवृत्त हुए वानप्रस्थ के धर्म में विक्षेप वा विघ्न न हो इस लिये पिता को अशुद्धि न लगना कहा है । अर्थात् स्त्री के गर्भवती हो जाने पश्चात् वानप्रस्थाश्रम धारण करले और स्त्री साथ में ही हो तो सन्तानोत्पत्ति होने पर वह वानप्रस्थ अपने व्रत को न छोड़े ॥

भा०– यहां प्रथम श्लोक सामान्य है उस में शुद्धि अशुद्धि के तत्त्व जानने वाले पुरुष को चाहिये कि इस प्रथम श्लोक में कहे चार भेदों में से जिस की जितने काल में अशुद्धि निवृत्त हो के शुद्धि होनी सम्भव हो उस को उतना आशौच माने । जनने के आशौच की तुल्यता कही जाने पर भी भेद के विद्यमान होते ही तुल्यता रह सकती है इस से अशुचिपनमात्र की समता अपेक्षित है किन्तु उस के अवान्तर भेदों की समता दिखाना इष्ट नहीं । अन्य खास २ व्यापार वा कामों में भी सूतक में स्नान करने पश्चात् पिता छूने आदि व्यवहार के योग्य हो जाता है ॥ ६२ ॥

निरस्यतुपुमाँ१छुक्र–मुपस्पृश्यैवशुध्यति ।
बैजिकादभिसम्बन्धा–दनुरुन्ध्यादघंत्र्यहम् ॥
अह्ना चैकेनरात्र्याच–त्रिरात्रैरेवचत्रिभिः ।
शवस्पृशोविशुध्यन्ति–त्र्यहादुदकदायिनः ॥
गुरोःप्रेतस्यशिष्यस्तु–पितृमेधंसमाचरन् ।
प्रेतहारैःसमंतत्र–दशरात्रेणशुध्यति ॥
रात्रिभिर्मासतुल्याभि–र्गर्भस्रावेविशुध्यति ।
रजस्युपरतेसाध्वी–स्नानेनस्त्रीरजस्वला ॥
नृणामकृतचूडानां–विशुद्धिर्नैशिकीस्मृता ।
निवृत्तचूडकानांतु–त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥

[प्राक्संस्कारप्रमीतानां-वर्णानामविशेषतः ।
त्रिरात्रात्तुभवेच्छुद्धिः-कन्यास्वह्नोविधीयते ॥
अदन्तजन्मनःसद्य-आचूडान्नैशिकीस्मृता ।
त्रिरात्रमाव्रतादेशा-द्दशरात्रमतःपरम् ॥
परपूर्वासुभार्यासु-पुत्रेषुप्रकृतेषुच ।
मातामहेत्रिरात्रंतु-एकाहंत्वसपिण्डतः ॥ ३ ॥]

ऊनद्विवार्षिकंप्रेतं-निदध्युर्बान्धवाबहिः ।
अलंकृत्यशुचौभूमा-वस्थिसंचयनादृते ॥
नास्यकार्योऽग्निसंस्कारो-नचकार्योदकक्रिया ।
अरण्येकाष्ठवत्त्यक्त्वा-क्षपेयुस्त्र्यहमेवच ॥
नात्रिवर्षस्यकर्त्तव्या-बान्धवैरुदकक्रिया ।
जातदन्तस्यवाकुर्यु-र्नाम्निवापिकृतेसति ॥
सब्रह्मचारिण्येकाह-मतीतेक्षपणंस्मृतम् ।
जन्मन्येकोदकानान्तु-त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥
स्त्रीणामसंस्कृतानान्तुत्र्यहाच्छुध्यन्तिबान्धव
यथोक्तेनैवकल्पेन-शुध्यन्तितुसनाभयः ॥
अक्षारलवणान्नाःस्यु-र्निमज्जेयुश्चतेत्र्यहम्
मांसाशनंचनाश्नीयुः-शयीरंश्चपृथक्क्षितौ

अ०-पुमान् योनावयोनौ वा शुक्रं निरस्य त्यक्त्वो
पस्पृश्यैव स्नात्वैव शुध्यति । अगम्यागमने ब्रह्मचारिव्रत
लोपे च मानसदोषापगमार्थं भिन्नमेव प्रायश्चित्तं बोध्यमत्र तु

शारीराशौचनिवृत्तौ तात्पर्यम् । वैजिकादभिसम्बन्धादन्यस्त्रीषु जायमानतन्मरणयोस्त्र्यहमाशौचं मन्तव्यम् । शवस्पृशः सर्वे दशभिरहोरात्रैः शुध्यन्ति । उदकदायिनः समानोदका यद्वोदकाय ददत्युदकं वास्मै ददति ते जलाशये नि-क्षेपकास्तु त्र्यहाच्छुध्यन्ति । प्रेतस्य मृतस्य गुरोः स्वजनकवदन्त्येष्टिं कुर्वाणः शिष्यस्तु गुरुशवनेतृवद्दशाहोरात्रैः शुध्यति । षण्मासावधि गर्भपतनं गर्भस्रावपदवाच्यं तत्र यावन्मासिको गर्भः स्रवति तावद्भिरहोरात्रैः स्त्रीविशुध्यति साध्वी रजस्वला स्त्री रजस्युपरते निवृत्ते स्नानेन शुध्यति असाध्वी तु रजस्वला भूत्वापि न शुध्यत्यपितु यथोचितप्रायश्चित्तैरेवेति ध्वनितम् । अकृतचूडानां नृणामेकाहोरात्रेण शुद्धिः । निवृत्तचूडकानान्तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते । अत्रैव पद्यत्रयं पश्चात् क्षिप्तमुपलभ्यते तेषां विशिष्टोऽर्थः प्राकृते द्रष्टव्यः । यस्य द्वे वर्षे न संपूर्णे तमूनद्विवार्षिकं प्रेतं मृतं बालं बान्धवा गृहाद्ग्रामाद्वा बहिः शुचौ भूमावलंकृत्य निदध्युः । अग्निसंस्कारमन्तरेण तस्यास्थिसंचयनं च न कार्यम् । तस्याग्निना संस्कारो दाहोऽपि न कार्यो नचोदक्रियोदके प्रक्षेपणं कार्यम् । अपित्वरण्ये शुद्धएकान्तदेशे गर्त्तं कृत्वा तस्मिन्काष्ठवज्जडवस्तुवदपिधाय काष्ठापिधाने यथा शोको न भवति तथा शोकत्यागपुरस्सरं मृतं शिशुशवं त्यक्त्वा त्र्यहं क्षपेयुः क्षीणा उदासीना अशुद्धा बान्धवा भवेयुः । अत्रोनद्विवार्षिकमित्यस्यार्थमन्ये मन्यन्ते -उपनयनसंस्काराय यस्य द्वे वर्षे ऊने अवशिष्टे सऊनद्विवार्षिकः षड्वार्षिकइति यावत् । प्रथमाब्दे चूडाकर्मण्यकृते

द्विवर्षावधि संस्थिते च सप्तषष्टितमपद्येन सहास्य विकल्पो बोध्यः । अत्रिवर्षस्य बान्धवैरुदकक्रिया न कर्त्तव्या । अपूर्णवर्षत्रयस्य बान्धवैरुदके जलाशये प्रक्षेपो न कार्योऽतऊर्ध्वं द्विजसंस्कारादर्वागुदकक्रिया कर्त्तव्येति केषांचिन्मतमपरेषां तु मते जातस्य नाम्नि वापिकृतेसति मृतस्य शिशोरुदकक्रिया कर्त्तव्या । समाने ब्रह्मचारिणि मृते—एकाहमाशौचं मन्तव्यम् । स्ववर्णस्थसमानोदकमित्रादीनां गृहे सौतकाशौचे त्रिरात्रं शुद्धिः कार्या । असंस्कृतानामविवाहितानां वाचा दत्तानां वा स्त्रीणां कन्यानां मरणे बान्धवास्त्र्यहाच्छुध्यन्ति । वाग्दाने सति पत्यादिभिरपि त्र्यहमाशौचं विधेयम् । चूडाकर्मावधि कन्यामरणे सद्यः, तदनन्तरं वाग्दानावधयेकाहोरात्रमात्रं पित्रादिभिरेवाशौचं मन्तव्यम् । सर्वत्रैव शावाशौचकाल इदं कार्यम्—कृत्रिमलवणविहीनं सैन्धवलवणयुतं वाऽन्नमश्नीयुः, नदीतडागादौ बृहति जलाशये च त्र्यहं स्नानं कुर्युः, मांसाद्यभक्ष्यं च किमपि नाश्नीयुः । क्षितौ पृथक् २ च शयीरन् । स्त्रियाः समीपे कोऽपि न शयीत ब्रह्मचारिभिः सर्वैर्भाव्यम् ॥

भा०—अह्ना चैकेनेति पद्येन विचित्रकथनप्रकारेणादशाहोरात्रं भणितम् । पितृमेधपदेनात्र सामान्यतया शवदाहस्य नरमेधत्वमागतमेव तथा च यज्ञाय मनुष्यवधं मन्यमाना भ्रान्ताएव । अश्वमेधादिवदन्त्यकर्मणि यज्ञविधिनैव शवदाहो मन्त्रोच्चारणपुरस्सरं घृताहुतिभिरेव कार्यः । निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिरित्यन्यत्रापि दर्शितमेव । प्रेतपदेन चात्र शवस्य ग्रहणं स्पष्टमेव तेन प्रेत

द्वाद्यर्थैऽपि बहवो लोके भ्रान्ताएव मन्तव्याः। सर्वत्रैव-शावाशौचे यादृशसन्निकृष्टः संतिष्ठते तादृशएवस्थूलः सूक्ष्मश्च देहांशः सपिण्डिनां हीयते यथा च कस्यापि हस्तपादाद्यङ्गे छिन्ने हानिस्तथा तत्रापि सर्वेषामेकांशत्वात्। सत्यां च हानौ शोकएवाशौचम्। तच्च मानसं शारीरं वाशौचं व्रतचर्यया कालेन च हीयते—वायुः कर्मार्ककालौ चेति—कालस्य शोधकत्वं स्वयमेव वक्ष्यति। सौतकं त्वाशौचं मालिन्यजनितं हर्षजनितं च प्रधानं मालिन्यं जनन्याएव सदपि सम्बन्धात्परम्परयान्येष्वप्यायात्येव। हर्षेनापि शोकवत्ततोऽप्याधिक्येन वा व्याकुला भवन्त्येव न तदाऽन्यानि कर्माणि सम्यक् सिध्यन्ति। अतएवोत्सवेषु नित्यकार्येभ्योऽवकाशमङ्गीकुर्वते जनाः ॥७३॥

भावार्थः–(पुमाञ्छुक्रं निरस्य तूपस्पृश्यैव शुध्यति) पुरुष किसी स्त्री में वा कहीं वीर्य को गिरा कर स्नान करके ही शुद्ध होता है। अगम्या स्त्री से व्यभिचार करने और ब्रह्मचारी का नियम टूटने में मानस दोष को हटाने के लिये प्रायश्चित्त इस से भिन्न ही जानो यहां तो केवल शारीरिक अपवित्रता दूरकरने के लिये ही स्नानमात्र कह दिया है (बैजिकादभिसम्बन्धादघं त्र्यहमनुरुन्ध्यात्) अपने वीर्य से अन्य किसी विजातीय वा सजातीय अविवाहित स्त्री में सन्तान के उत्पन्न होने वा उत्पन्न हुए के मरने में तीन दिन की अशुद्धि माननी चाहिये (अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः शवस्पृशो विशुध्यन्ति) एकदिन रात और तीन दिन रात तीन वार करने से नव ऐसे दश दिनरात में मुर्दा को छूने वाले सब लोग कुटुम्बी से भिन्न भी शुद्ध होते हैं अर्थात् किसी विजातीय मुर्दा का स्पर्श करने वाले भी दश दिन अशुद्धि मानें (त्र्यहादुदकदायिनः) साथ में जल पीने वाले वा मुर्दा को जल में गिराने वाले तीन दिन रात अशुद्धि मानें (प्रेतस्य गुरोः पितृमेधं समाचरन् शिष्यस्तु) गुरु के मृतक देह का विधिपूर्वक पिता के समान अन्त्येष्टि संस्कार करता हुआ शिष्य (तत्र प्रेतहारैः समं

दशरात्रेण शुध्यति) उस नरमेध में अन्य मुर्दा को ले चलने वालों के समान दश दिन रात में शुद्ध होता है (मासतुल्याभीरात्रिभिर्गर्भस्रावे विशुध्यति) छः महिने पर्यन्त गर्भ का गिर जाना गर्भस्राव कहाता है सो छः के भीतर जितने मास का गर्भस्राव हुआ हो उतने ही दिन में वह स्त्री स्पर्शादि के योग्य होती (साध्वी रजस्वला स्त्री रजस्युपरते स्नानेन) अच्छे चाल चलन वाली रजस्वला हुई स्त्री रजस् नामक रुधिर गिरना बन्द हो जाने पश्चात् स्नान करके शुद्ध होती है । पर व्यभिचार करने वाली रजस्वला होके स्नान कर लेने पर शुद्ध नहीं होती किन्तु उस के लिये यथोचित दण्डरूप प्रायश्चित्त ही शुद्धि का हेतु होगा ग्रन्थकार का यह भीतरी आशय झलकता है (अकृतचूडानां नृणां नैशिकी विशुद्धिः स्मृता) चूड़ाकर्म संस्कार न होने तक बालक के मर जाने पर एक दिनरात में शुद्धि मानी गयी (निवृत्तचूड़कानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते) और चूड़ाकर्म संस्कार होजाने पर मृत्यु हुआ हो तो तीन दिन रात में शुद्धि होना अभीष्ट है । इसी के आगे तीन श्लोक पीछे से मिलाये हुए किन्ही पुस्तकों में मिलते हैं उन का संक्षेपार्थ "यज्ञोपवीत संस्कार होने से पूर्व मरे हुए वर्णस्थ बालकों की तीन दिन में शुद्धि करे । वाग्दान से पूर्व अविवाहित कन्याओं के मृत्यु में एक दिन रात के पश्चात् शुद्धि कर लेवे, दांत न जमने से पूर्व ही बालक के मरने पर तत्काल शुद्धि, तदनन्तर चूड़ाकर्म पर्यन्त मरने पर एक दिन रात में, वेदारम्भ संस्कार से पूर्व २ तीन दिन में और इस से आगे दश दिन में शुद्धि करे। जो स्त्री अपने साधारण योग्यता वाले वा निकृष्ट पति को छोड़ के अन्य बड़े धनवान् बलवान् आदि योग्य पुरुष को पति बनाती है वह पूर्वा कहाती ऐसी स्त्रियों में उत्पन्न हुए पुत्रों के वा नियोगादि से अन्यत्र में उत्पन्न किये अन्य पुत्रों के मरने पर तथा नाना के मरने पर तीन दिन शुद्धि करे और सात पीढ़ी से भिन्न किसी कुटुम्बी की गमी में एक दिन अशुद्धि माने" (बान्धवा ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं बहिः शुचौ भूमावलंकृत्य निदध्युः) कुटुम्बी वा वारिस लोग दो वर्ष से न्यून आयु के मरे हुए बालक को घर तथा ग्राम से बाहर शुद्ध भूमि में शृङ्गार कज्जलादि लगाके गाड़ देवें और (अस्थिसंचयनं न कृते) अग्नि में दाह न होने के कारण अस्थि संचयन न करें (अस्याग्निसंस्कारो न कार्यो नचोदकक्रिया कार्या) उस बालक का दाह और जलप्रवाह न करें किन्तु (काष्ठवदरण्ये त्यक्त्वा त्र्यहमेव च क्षपेयुः) लकड़ी के समान एकान्त में छोड़ के तीन दिन उदासीनतारूप अशुद्धि मानें अर्थात् जैसे जड़ पदार्थ काष्ठादि के ले

ने वा गाड़ देने में कुछ शोक नहीं होता वैसे शोक के त्यागपूर्वक मृतक बालक मुर्दा को एकान्त देश में गाड़ देवें। यहां ऊनद्विवार्षिक पद का अन्य कोई लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि जिस के उपनयन संस्कार में दो वर्ष समय शेष रह गये हों वह छः वर्ष का बालक ऊनद्विवार्षिक है। यदि प्रथम वर्ष में चूड़ाकर्म न हुआ हो और दो वर्ष के भीतर मर जावे तो सरसठवें श्लोकानुसार एक दिन वा इस के अनुसार तीन दिन अशुद्धि मानना ये दोनों पक्ष विकल्प से माने जावेंगे सो जहां जैसा उचित हो वहां वैसा किया जाय। किन्हीं का मत है कि (अत्रि-वर्षस्य वान्धवैरुदकक्रिया न कर्त्तव्या) तीन वर्ष के भीतर मरे बालक का मुर्दा कुटुम्बियों को जल में नहीं डालना चाहिये (जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वा-पि कृते सति) दांत उत्पन्न हो जाने पर अथवा नामकरण संस्कार हो जाने पर जलप्रवाह कर देना चाहिये यह किन्हीं अन्य लोगों का मत है (सब्रह्मचारि-ण्यतीतएकाहं क्षपणं स्मृतम्) एक गुरु के पास पढ़ने वाले ब्रह्मचारियों में से किसी के मर जाने पर अन्य ब्रह्मचारी लोग एक दिन अशुद्धि मानें (एकोद-कानां जन्मनि तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते) एक साथ वा एक पात्र से जल पीने वाले अपने सजातीय मित्रादि के घर में सन्तानोत्पत्ति होने पर तीन दिन में शुद्धि करे (असंस्कृतानां स्त्रीणां तु वान्धवास्त्र्यहाच्छुध्यन्ति) अविवाहित वा वाग्दानमात्र हुई कन्याओं के मरजाने पर कन्या के पित्रादि तीन दिन में शुद्ध होते और वाग्दान मात्र हुई कन्याओं के मृत्यु में तीन दिन दोनों पक्ष वालों को अशुद्धि लगती है इस से पत्यादि भी वहां शुद्धि करें [अन्यस्मृतियों में स्प-ष्ट लिखे अनुसार कन्या के मृत्यु में व्यवस्था यह है कि—चूड़ाकर्म संस्कार से पूर्व २ कन्या के मरने पर तत्काल शौच, तत्पश्चात् वाग्दान से पूर्व २ एक दिन रात में पित्रादि को ही शुद्धि करनी चाहिये। और वाग्दान से विवाह पर्यन्त कन्या के मरने पर पिता भाई तथा श्वशुर पति आदि दोनों पक्ष वालों को अ-शुद्धि मनानी चाहिये और चतुर्थी कर्म से आगे २ केवल पति आदि कन्या के मरने में दश दिन अशुद्धि मानें] मृतक अशुद्धि गमी के समय में निम्न प्रकार का वर्त्ताव सब को सदा करना चाहिये (अक्षारलवणान्नाःस्युः) खार और कृ-त्रिम लवण न खावें वा खार और लवण मात्र का त्याग उन दिनों में रक्खें (...ति त्र्यहं च निमज्जेयुः) और वे अशुद्धि मानने वाले सब लोग तीन दिन तक ...भी नदी तालाब आदि जलाशय में घुस कर स्नान करें (मांसाशनं च नाश्नी-युः) मांसादि अभक्ष्य पदार्थ का भोजन न करें (क्षितौ पृथक् शयीरंश्च) पृथिवी

में अलग २ सोया भी करें अर्थात् खटिया पर कोई न सोवे और भूमि पर स्त्री के पास कोई न सोवे किन्तु सब लोग ब्रह्मचारी बन के ब्रह्मचर्य के नियमों से रहें ॥

भा०—(अह्नाचैकेन०) इत्यादि श्लोक में विलक्षण रीति से दश दिनादि कहे हैं। पितृमेध कहने से यहां सामान्य मुर्दा जलाने का नाम नरमेध आया। इस कारण नरमेध में यज्ञ के लिये मनुष्य का वध करना मानने वाले भ्रान्ति में ही हैं। अश्वमेधादि के तुल्य अन्त्येष्टि कर्म में यज्ञ विधि से ही मन्त्रोच्चारण पूर्वक मुर्दा को घी आदि की आहुतिओं द्वारा जलाना चाहिये "गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त जिस का विधान वा कर्त्तव्य मन्त्रों द्वारा कहा गया है" इत्यादि प्रकार मनु जी ने अन्यत्र भी यही लिखा है। और प्रेत शब्द से यहां मुर्दा का ग्रहण स्पष्ट ही है। तिस से प्रेत पद के वाच्यार्थ में भी अनेक लोग भ्रान्त ही मानने चाहिये। सर्वत्र ही गर्भी सम्बन्धिनी अशुद्धि में जैसा समीपी पुरुष मरता है वैसा ही स्थूल और सूक्ष्म सपिण्डस्थों के शरीर का अंश हीन होता है। जैसे किसी के हाथ पग आदि किसी अङ्ग के कट जाने पर हानि होती वैसे वहां भी सब कुटुम्बियों के एक होने से हानि होती और उत्पत्ति से वृद्धि भी होती है। और हानि होने पर मुख्य कर शोक ही अशुद्धि है वह मानस वा शरीरसंबन्ध की अशुद्धि व्रत सेवन करने और काल बीतने पर घटती वा निवृत्त होती "वायु, कर्म, सूर्य, काल इत्यादि शरीरधारियों के शोधक पदार्थ हैं।" इस प्रकार काल का शोधक होना ग्रन्थकार ने स्वयमेव कहा है। जनने सम्बन्धी अशौच मलिनता हर्ष से होती और उस में सर्वोपरि मुख्य मलिनता माता को ही होने पर अन्यों का सम्बन्ध होने से परम्परा के साथ अन्यों में भी अशुद्धि आती ही है। और शोक के समान वा उस से भी अधिकता के साथ हर्ष में भी मनुष्य व्याकुल होते ही हैं उस दशा में अन्य काम ठीक २ रीति के साथ नहीं होते यही व्याकुलतारूप अशुद्धि है ॥ ७३ ॥

सन्निधावेषवैकल्पः शावाशौचस्यकीर्त्तितः

असन्निधावयंज्ञेयो विधिःसम्बन्धिबान्धवैः

विगतंतुविदेशस्थं शृणुयाद्योह्यनिर्दशम्।

यच्छेषंदशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥

[मासत्रयेत्रिरात्रंस्यात् षण्मासेपक्षिणींतथा ।

अहस्तुनवमादर्वा-गूर्ध्वंस्नानेनशुध्यति ॥]

अतिक्रान्तेदशाहेच त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।

संवत्सरेव्यतीतेतु स्पृष्ट्वैवापोविशुध्यति ॥

निर्दशंज्ञातिमरणं श्रुत्वापुत्रस्यजन्मच ।

सवासाजलमाप्लुत्य शुद्धोभवतिमानवः ॥

बालेदेशान्तरस्थेच पृथक्पिण्डेचसंस्थिते ।

सवासाजलमाप्लुत्य सद्यएवविशुध्यति ॥ ७८॥

अ०-समीपस्थानां शावाशौचं पूर्वमुक्तं संप्रति वि-देशस्थानां सम्बन्धिबान्धवानामाशौचमुच्यते । यो विदेशस्थं विगतं मृतमनिर्दशं दशाहाभ्यन्तरे शृणुयात्तत्र दशरात्रस्य यावच्छेषं तावदेवाशुचिर्भवेत् । अत्रैवैकं पद्यं पश्चात् क्षिप्तमुपलभ्यते । दशाहेऽतिक्रान्ते च दिनत्रयेण शुद्धिः कार्या संवत्सरे व्यतीते तु सद्यः स्नानमात्रेण शुद्धिः । ज्ञातेर्मरणं स्वस्य पुत्रस्य जन्म च दशाहानन्तरं श्रुत्वा सवासा तदानीं धारितसर्ववस्त्रैः सहैव स्नात्वा मानवः शुद्धो भवतीति केषांचिन्मतम् । देशान्तरस्थे बाले पृथक्पिण्डे मातुलस्याऽऽदिबन्धौ च संस्थिते मृते सति तच्छ्रुत्वा सवासा जलमाप्लुत्य सद्यएव विशुध्यति ॥

भा०-यथैकदेशस्थानामितरेतरं सम्बन्धः प्रीतिरूपकारश्च जायते न तथा दूरस्थानां तिष्ठति । तेनैवाशौचस्या-

पयल्पत्वं बोध्यम्। यथा च सन्निहितं मालिन्यं सन्निध्यासक्तं भवति न तथा दूरस्थमित्यादिकारणैराशौचभेदः सन्निहितासन्निहितयोः। यथा कालात्ययः सर्वानेव भावान् परिवर्त्तयति तथैव सन्निहितासन्निहितयोर्द्वयोरपि हर्षशोकौ कालेन परिवर्त्तेते। यादृशौ सन्निहितसम्बन्धिनां जन्ममरणयोर्हर्षशोकौ दृश्येते न तादृशौ विदेशस्थानामिति। तथापि यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सङ्गति मानससम्बन्धस्य विद्यमानत्वाद्धर्षशोकादिरूपमाशौचं विदेशस्थानामपि ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवानां दुर्वारम्। तस्माद्यथायोगं विदेशस्थैरप्याशौचं मन्तव्यमेवेति ॥ ७८ ॥

भाषार्थः—(शावाशौचस्यैव सन्निधौ वै कल्पः कीर्त्तितः) मुर्दा सम्बन्धी अशुद्धि–[गमी मानने का यह प्रकार] समीपस्थों के लिये हो पूर्व कहा (असन्निधावयं वैरसंनिधावयं विधिर्ज्ञेयः) कुटुम्बी और नातेदारों वा गुरु शिष्यादि विद्या धर्म्म सम्बन्धियों को मृतक के दूरस्थ होने पर यह आगे कहा विधि वा रीति जाननी चाहिये (यो हि विदेशस्थं तु विगतमनिर्दशं शृणुयात्) जो पुरुष विदेश में मरे को दश दिन के भीतर संदेशादि द्वारा सुने (दशरात्रस्य यच्छेषं तावदेवाशुचिर्भवेत्) तो दश दिन में जितना समय शेष रहा हो उतने ही काल तक अशुद्धि माने [इसी के आगे एक श्लोक पीछे मिलाया मिलता है उस का अर्थ (मासत्रये त्रिरात्रं स्यात्०) दश दिन के पश्चात् तीन महीने के भीतर कुटुम्बी आदि का मरण विदेश में सुने तो तीन दिन रात अशुद्धि माने तथा छः महीने के भीतर सुने तो दो दिन एक रात, नव मास तक सुने तो एक दिन रात और इस से आगे मृत्यु सुने तो तत्काल स्नान करने से शुद्ध हो जाता है] (दशाहेऽतिक्रान्ते त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्) दश दिन बीत जाने पर विदेशस्थ तीन दिन की अशुद्धि माने और (व्यतीते तु संवत्सरे–अपःस्पृष्ट्वैव विशुध्यति) गमी होना एक वर्ष बीत जाने पर सुनाजाय तो तत्काल स्नान से ही विदेशस्थ बन्धु शुद्ध हो जाता है। और किन्हीं का मत है कि (निर्दशं ज्ञाति

मरणं पुत्रस्य जन्म च श्रुत्वा) दश दिन के पश्चात् किसी कुटुम्बी का मरना और अपने पुत्र का जन्म हुआ सुने तो (मानवः सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति) मनुष्य उस समय धारण किये वस्त्रों सहित स्नान कर के शुद्ध हो जाता है अर्थात् अपने शरीर के सब वस्त्रों का प्रक्षालन भी अवश्य करे (देशान्तरस्थे वाले च पृथक्पिण्डे च संस्थिते) देशान्तर में रहते हुए बालक का तथा अपने कुलगोत्र से भिन्न मामा, श्वशुर, साले आदि सम्बन्धी का मरण सुन कर (सवासा जलमाप्लुत्य) वस्त्रों सहित जल में स्नान कर के (सद्यएव विशुध्यति) शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है॥

भा०—जैसा एक नगर ग्राम वा घर में रहने वालों का परस्पर मेल, प्रीति और उपकार होता है । वैसा दूरस्थों में नहीं होता इसी से कहा है कि (स्नेहः प्रवासाश्रयात्) विदेश में रहने वालों की प्रीति घट जाती है । इसी से अशुद्धिरूप शोक भी कम होना जानो। जैसी समीपस्थ मलिनता निकट रहने वाले में लगती है वैसी दूरस्थ को नहीं लगती इत्यादि कारणों से समीपस्थ दूरस्थों में अशुद्धि का भेद रक्खा गया है । और जैसे अधिक २ समय का बीतना सभी पदार्थों की दशा को बदलता है । वैसे ही सन्निहित असन्नित दोनों का हर्ष शोक व मलिनता काल बीतने से बदल जाती है । जन्म मरण होने में जैसे हर्ष शोक समीपस्थों को होते दीखते हैं वैसे दूरस्थों को नहीं होते । तो भी जिस का जिस के साथ जैसा जिस का निकट सम्बन्ध होता है वह दूरस्थ भी उसी का होता वा उसी के समीप है । इस प्रकार मानस सूक्ष्म तथा वीर्यादि कारण सम्बन्ध के विद्यमान होने से हर्ष शोकादिरूप अशुद्धि विदेशस्थ कुटुम्बी सम्बन्धी और बान्धवों को होती ही है । तिस से विदेशस्थों को भी यथायोग्य शुद्धि माननी ही चाहिये ॥ ७८ ॥

अन्तर्दशाहेस्यातांचेत्–पुनर्मरणजन्मनी ।
तावत्स्यादशुचिर्विप्रो–यावत्तत्स्यादनिर्दशम्॥

अ०–पूर्वाशौचे प्रवृत्ते तद्दशाहमध्ये पुनर्मरणं जन्म वा द्वितीयमापद्येत तदा पूर्वाशौचस्य दशमदिनेऽल्पकालिकस्य द्वितीयाशौचस्यापि शुद्धिः कर्त्तव्या॥

भा०–अत्र पक्षचतुष्टयं सम्भवति । मरणे मरणं, जन्मनि जन्म, मरणे जन्म, जन्मनि च मरणम् । एतदेक-

स्मिन् गृहे सपिण्डे वा स्यात्तत्रायं विशेषउशनसोक्तः-स्वल्पाशौचस्य मध्ये तु दीर्घाशौचं भवेद्यदि। न पूर्वेणैव शुद्धिः स्यात्स्वकालेनैव शुध्यति ॥ अङ्गिराश्चाप्याह-सूतके मृतकं चेत्स्यान्मृतके त्वथ सूतकम्। तत्राधिकृत्य मृतकं शौचं कुर्यान्न सौतकम् ॥ षट्त्रिंशन्मतेऽपि-शावाशौचे समुत्पन्ने सूतकं तु यथा भवेत्। शावेन शुध्यति सूतिर्न सूतिः शावशोधिनी ॥ यदि स्यात्सूतके सूतिर्मरणे वा मृतिर्भवेत्। शेषेणैव भवेच्छुद्धिरहःशेषे त्रिरात्रिकम् ॥ मातर्यग्रे प्रमीतायामशुद्धो म्रियते पिता। पितुः शेषेण शुद्धिः स्यान्मातुर्मातृकपक्षिणीम् ॥ प्रथमपक्षे पूर्वमृत्युकालेन परमृतस्यापि शुद्धिः। अग्रे मातरि मृतायां च दशाहमध्ये पितापि चेन्म्रियेत तदा मातुर्दशमदिने पूर्वं पितुराशौचं समाप्यानन्तरं मातुराशौचं सार्धैकेनैव दिवसेन समाप्यम्। द्वितीयपक्षे पूर्वजननाशौचकालेनैवेतरमप्याशौचं समाप्यम्। तृतीयचतुर्थयोस्तु शावाशौचकालेनैव सौतकमाशौचं समाप्यम्॥अ

भाषार्थः—(अन्तर्दशाहे पुनर्मरणजन्मनी स्यातां चेत्) पहिली गमी वा सूतक अशुद्धि बनी हो उस की शुद्धि न कर पाई हो तब तक दश दिन के भीतर ही अन्य किसी का मरण वा जन्म हो जाय तो (विप्रो यावत्तदनिर्दशं स्यात्तावदशुचिः स्यात्) वहां ब्राह्मण वा विचारशील विद्वान् द्विज तब तक अशुद्धि माने जब तक उस पहिले के दशदिन पूरे नहीं हों अर्थात् उसी प्रथम के तक के दशम दिन में दूसरे तीसरे जन्म मरणादि की अशुद्धि को समाप्त कर शुद्धि कर लेनी चाहिये ॥

भा०—यहां चार पक्ष वा प्रकार खड़े होते हैं। १-एक के मर जाने पर दश दिन के भीतर अन्य का मरजाना। २-एक का जन्म होने पर दश दिन के भीतर अन्य का जन्म होना। ३-एक के मरने पर दूसरे का जन्म होना और एक के जन्म होने पश्चात् दश दिनके भीतर किसीका मरजाना। यहसब एकघरमें वा सा

पीढ़ी कुटुम्ब में हो तो वहां यह विशेषता उशना की स्मृति में लिखी है कि "थोड़े आशौच नाम तीन चार आदि दिन मानने योग्य अशुद्धि के भीतर वा जनन की अशुद्धि के भीतर बड़ी अशुद्धि किसी अच्छे का मरण हो तो वहां पिछले के साथ में द्वितीय की शुद्धि न होनी चाहिये। जैसे कोई ऐसा बालक मरा जिस की पूर्व कथनानुसार तीन दिन अशुद्धि मानी जावे अथवा कोई बालक जन्मा तो उस की शुद्धि न हो जाने से पूर्व ही कोई मनुष्य मर जावे तिस की दश दिन अशुद्धि मानी जानी चाहिये तो वहां पूर्व के साथ में द्वितीय मरण की शुद्धि नहीं होनी चाहिये किन्तु वहां दूसरे की शुद्धि पूरे दश दिन होने पर मानी जावे और उसी के साथ पहिले की भी शुद्धि हो, और अङ्गिरा की स्मृति में भी कहा है कि-"जन्म में मरण वा मरण में जन्म पहिले की शुद्धि न होने तक हो जाय तो वहां मृतक के साथ में सूतक की शुद्धि करे किन्तु सूतक के साथ मृतक की शुद्धि न होनी चाहिये" और षट्त्रिंशन्मत में भी लिखा है कि "गमी हो जाने पर दश दिन के भीतर किसी का जन्म हो तो वहां गमी के साथ में जन्म की शुद्धि होगी किन्तु जन्म के साथ मरण की नहीं। और यदि जन्म में जन्म वा मरण में मरण हो तो पहिले के जितने दिन शेष हों उसी में दोनों की शुद्धि करली जावे और पहिली अशुद्धि का एक ही दिन बाकी रह गया हो तो पिछले को तीन दिन बढ़ा के दोनों की शुद्धि करलेवे। यदि माता पहिले मरे और उस की शुद्धि होने से पूर्व पिता भी मर जाय तो माता के दशवें दिन प्रथम पिता की शुद्धि करके डेढ़ दिन में माता की शुद्धि हो जावे। यहां प्रथम पक्ष में पूर्व मृत्यु काल के साथ पीछे मरे की शुद्धि हो जावे और इसी पक्ष के साथ माता पिता दोंनो के मरने में विशेषता है। द्वितीय पक्ष में पहिले जनन शौच के साथ परजनन की भी शुद्धि हो और तीसरे चौथे पक्ष में गमी के साथ में जनन की भी शुद्धि हो जानी चाहिये ॥७९॥

त्रिरात्रमाहुराशौच-माचार्येसंस्थितेसति।
तस्यपुत्रेचपत्न्यांच दिवारात्रमितिस्थितिः ॥
श्रोत्रियेतूपसम्पन्ने-त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्।
मातुलेपक्षिणींरात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषुच।

प्रेते राजनि सज्योति-र्यस्य स्याद्विषये स्थितः ।
अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्न-मनूचाने तथा गुरौ ॥
शुध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति ॥८३॥

[क्षत्रविट्शूद्रदायादाः स्युश्चेद्विप्रस्य बान्धवाः ।
तेषामशौचं विप्रस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते ॥
राजन्यवैश्ययोश्चैवं हीनयोनिषु बन्धुषु ।
स्वमेव शौचं कुर्वीत विशुध्यर्थमिति स्थितिः ॥
विप्रः शुध्येद्दशाहेन जन्महानौ स्वयोनिषु ।
षड्भिस्त्रिभिरथैकेन क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु ॥
सर्वे चोत्तमवर्णास्तु शौचं कुर्युरतन्द्रिताः ।
तद्वर्णविधिदृष्टेन स्वन्तु शौचं स्वयोनिषु ॥ ४ ॥]

अ०—उपपन्ने मैत्रीभावादिनातिसमीपस्थे सहवासिनि श्रोत्रिये संस्थिते त्रिरात्रम् । शिष्येषु—ऋत्विक्षु, बान्धवेषु पितृस्वसृमातृस्वसृसुतादिषु संस्थिते पूभयतो दिनद्वययुक्ता मेकां रात्रीमशुचिः स्यात् । यस्य विषये राज्यदेशे स्थितः स्यात् तस्मिन् राजनि प्रेते सज्योतिराशौचं स्यात् । रात्रौ दिवसे वा यत्र राजा म्रियेत तस्मिन्नेवान्त्ये शौचं विदधीत । अश्रोत्रिये ऽनूचाने साङ्गवेदाध्यापयितरि तथा गुरौ वेदार्थव्याख्यातरि संनिहिते च संस्थिते कृत्स्नमहो न तु रात्राववाशौचम् । त्र्यशीतितमपद्याग्रेऽत्र चत्वारि पद्यानि पश्चात् कैश्चित् क्षिप्तानि केषुचिदेव पुस्तकेषूपलभ्यन्ते । तेषामर्थः प्राकृते द्रष्टव्यः ॥ ८३ ॥

भा०—आचार्योऽपि गौण्या वृत्त्या गुरुपदवाच्यः। यदा शिष्येणैव तस्यान्त्येष्टिः क्रियते तदा दशाहमाशौचं पूर्वमुक्तम्। अत्र तु श्रवणमात्रेण त्रिरात्रमाशौचं मन्तव्यम्। पूर्वं चतुरहाद्याशौचकथनं ब्राह्मणस्यैव दशाभेदेन भिन्नं बोध्यम्। क्षत्रियादीनान्तु सामान्येन द्वादशाहादिरेवाशौचकालः। यथा च नीतिज्ञा मन्यन्ते—"न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं, नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।" अपित्वन्यस्य दुःखे यथायोगं दुःखितेन भाव्यमन्यस्य दुःखमपि दुःखं मत्वैव तस्य सहायो दयार्द्रचेताश्च भवति। अयं च दयामूलो धर्मएवास्ति तस्मादसपिण्डश्रोत्रियादिपुरुषे विपन्ने शोकरूपमाशौचं कुर्वाणस्य श्रोत्रियादित्वेन सह प्रीतिः प्रतीयते। आशौचकाले कामक्रोधलोभादिदोषेभ्योऽपि निवर्त्तते तेन चाधर्मान्निवृत्तिर्धर्ममार्गे च प्रवृत्तिरिति सर्वमेव शावाशौचं सुखस्य कारणमनिष्टवारकं च। क्षत्रियादयस्तु ज्ञानस्याप्राधान्यान्न विप्रवत्सद्यःशोकं हातुं शक्ताइति मत्वा तदर्थं कालाधिक्यमुक्तम्। शूद्रस्तु सर्वापेक्षया मूढस्तस्यापि मासपरिमितः कालः शोकमपगमयति ॥८३॥

भाषार्थः—(आचार्ये संस्थिते सति त्रिरात्रमाशौचमाहुः) उपनयन कराके वेद पढ़ाने वाले आचार्य—गुरु के मर जाने पर शिष्य को तीन दिन अशुद्धि माननी चाहिये [यदि आचार्य का दाह कर्म अन्य के अभाव में शिष्यही करे तो ६५ श्लोक में लिखे अनुसार उस को दश दिन आशौच मानना चाहिये] (तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः) उस आचार्य के पुत्र और पत्नी के मर जाने पर शिष्य को एक दिन रात गमी मनानी चाहिये (उपसंपन्ने श्रोत्रिये तु त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्) संहवासी मित्र समीपस्थ श्रोत्रिय वेदाध्येता किसी विद्वान् के मर जाने पर तीन दिन और (मातुले शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च

पक्षिणीं रात्रिम्) मामा, शिष्य, अपने ऋत्विज्-पुरोहितादि, बुआ वा मौसी
पुत्रादि वा श्वशुर साले आदि के मर जाने पर दो दिन एक रात गमी मानने
चाहिये (यस्य विषये स्थितः स्याद्राजनि प्रेते सज्योतिः) जिस के राज्य में बसता
हो उस राजा के मर जाने पर जब मृत्यु हो उस दिन भर वा रात्रि भर गमी
माननी चाहिये (अश्रोत्रिये त्वनूचाने तथा गुरावहः कृत्स्नम्) वेद से भिन्न ग्र-
न्थों के ज्ञाता साङ्गोपाङ्ग वेद के अध्यापक और सामान्य गुरु जिस से थोड़ा
भी शास्त्र पढ़ा हो ऐसे लोगों के मरने पर उन के साथ विशेष मेल वा सम्ब-
न्ध न होने पर भी एक दिन मात्र गमी माने (दशाहेन विप्रःशुध्येत्) साधारण
मध्यम कोटि का ब्राह्मण सामान्यदशा में दश दिन (द्वादशाहेन भूमिपः) क्षत्रिय
बारह दिन (वैश्यःपञ्चदशाहेन) वैश्य पन्द्रह दिन और (शूद्रो मासेन शुध्यति) शूद्र
महीने भर अशुद्धि माने। और ग्यारहवें दिन आदि में सब शुद्ध हो जावें। इस से
आगे चार श्लोक पीछे मिलाये किसी २ पुस्तक में मिलते हैं (क्षत्रविट्०) इत्या-
दि उन का अर्थः—[क्षत्रिय वैश्य और शूद्र यदि ब्राह्मण के सम्बन्धी हों अ-
र्थात् ब्राह्मण ने क्षत्रियादि की कन्या के साथ विवाह किया हो तो उन क्ष-
त्रिय कन्यादि में उत्पन्न हुए पुत्रादि के मरने पर ब्राह्मण को दश दिन शुद्धि
माननी चाहिये । और क्षत्रिय वैश्य शूद्र कन्याओं सम्बन्धी श्वशुर साले आदि
के मरने पर भी अपनी शुद्धि के लिये ब्राह्मण स्वयमेव शौच करे। अपने सजातीय
ब्राह्मण सम्बन्धियों में मरने पर ब्राह्मण दश दिन गमी माने । क्षत्रिय सम्ब-
न्धी के मृत्यु में ६ दिन वैश्य के मृत्यु में तीन दिन और शूद्र सम्बन्धी के मृत्यु
में एक दिन अशुद्धि माने । उत्तम वर्ण वाले सभी लोग निरालस्य हो के शुद्धि
करें और शूद्र वर्ण तो प्रारब्ध वश अच्छा हो तो अपनी जाति में स्वयं शुद्धि ठी-
क २ करेगा। ब्राह्मण पुरुष क्षत्रियादि कन्याओं से विवाह करे यह एकदेशी नी-
च पक्ष है जो ऐसा करे उस के लिये एकदेशी आशौच कथन है किन्तु सर्वदेशी
उत्तम पक्ष नहीं है] ॥

भा०—आचार्य भी गौण वृत्ति से गुरुपद वाच्य है । जब शिष्य ही आचार्य
की अन्त्येष्टि करे तब उस को दश दिन अशुद्धि माननी चाहिये यह पूर्व कह
चुके हैं । और यहां आचार्य का मृत्यु होना सुन ज्ञान के तीन दिन में शौच
करना कहा है । पूर्व चार दिन आदि अशुद्धि के भेद भिन्न २ दशा में ब्राह्मण
के लिये जानो । और क्षत्रियादि के लिये तो पूर्व कहा सामान्य कर बारह दि-

श्रादि का ही आशौच समय है । जैसे नीतिज्ञ लोग मानते हैं कि "अपने ही सुख में जो हर्ष नहीं करता और न अन्य के दुःख में सुख मानता है वह उत्तम आर्य है" यह दया मूलक धर्म ही है तिस से अपने विजातीय सपिण्ड से भिन्न श्रोत्रियादि पुरुष के मरने पर शोकरूप अशुद्धि मानने वाले की विद्वत्तादि शुभगुणों वा विद्या धर्म के साथ प्रीति प्रतीत होती है । अशुद्धि वा शोक मानने के समय काम क्रोध लोभादि दोषों से भी मनुष्य वचता है इस कारण अधर्म से निवृत्ति और धर्म में रुचि वा प्रवृत्ति होती इस से सभी गमी की अशुद्धि मानना सुख का कारण और अनिष्ट दुःख का निवारक होता है । और क्षत्रियादि लोग ज्ञान के कम होने से ब्राह्मण विद्वान् के तुल्य शोक को शीघ्र नहीं त्याग सकते ऐसा मान कर ही उन के लिये अधिक अशुद्धि मानना कहा है । और सब की अपेक्षा अधिक मूढ़ शूद्र कहाता है उस का भी महीना भर का समय धीरे २ शोक को निवृत्त कर देता है । कभी कहीं किसी ब्राह्मणादि को भी अधिक और शूद्रादि को भी कहीं कभी कम समय तक अशुद्धि मानने की आवश्यकता अपवादरूप यथावसर हो सकती है ॥ ८३ ॥

नवर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषुक्रियाः ।
नचतत्कर्मकुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥
दिवाकीर्त्तिमुदक्यांच पतितंसूतिकांतथा ।
शवंतत्स्पृष्टिनंचैव स्पृष्ट्वास्नानेनशुध्यति॥
आचम्यप्रयतोनित्यं जपेदशुचिदर्शने ।
सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहंपावमानीश्चशक्तितः
नारंस्पृष्ट्वास्थिसस्नेहंस्नात्वाविप्रोविशुध्यति
आचम्यैवतुनिस्स्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्यवा ॥
आदिष्टीनोदकंकुर्या-दाव्रतस्यसमापनात् ।
समाप्तेतूदकंकृत्वा त्रिरात्रेणैवशुध्यति ॥

वृथासंकरजातानां प्रव्रज्यासु चतिष्ठताम् ।
आत्मनस्त्यागिनांचैव निवर्त्तेतोदकक्रिया ॥
पाषण्डमाश्रितानांच चरन्तीनांचकामतः ।
गर्भभर्तृद्रुहांचैव सुरापीनांचयोषिताम् ॥
आचार्यंस्वमुपाध्यायं पितरंमातरंगुरुम् ।
निर्हृत्यतुव्रतीप्रेतान्न व्रतेनवियुज्यते ॥
दक्षिणेनमृतंशूद्रं पुरद्वारेणनिर्हरेत् ।
पश्चिमोत्तरपूर्वैस्तु यथायोगंद्विजन्मनः ॥८॥

अ०-एकाहाद्यल्पकालिकेऽशौचे विश्रामालस्यादिहेतोरा
स्यमालिन्यरूपाशौचस्य दिनानि न वर्धयेद् दशाहाशौचक
नोरीकुर्यात् । अग्निषु क्रिया न प्रत्यूहेन्न त्यजेत्सद्यः शौ
कृत्वा नैत्यिकं नियमितं कर्म कुर्यादेव । यस्य च कर्मणि
नियमो नास्ति तेन तु शौचानन्तरमेव वा नियतं कर्मानु
ष्ठेयम् । नियतमग्निहोत्रादिकं कर्म कुर्वाणः सनाभ्यः सपि
ण्डोऽन्यो वा न कोऽप्यशुचिर्भवति । शुभकर्मानुष्ठानका
ले चाण्डालादिकं समीपतो दृष्ट्वा यथोत्साहं यथाशक्ति सौ
रान्सूर्यदेवताकान्मन्त्रान्पावमानीश्चर्चो जपेत् । दर्शनमात्रे
ण वायुना सहापि वा काचिदशुद्धिरागच्छति । नारं नरस्य
मनुष्यस्य सस्नेहमस्थि स्पृष्ट्वा स्नायात् । निःस्नेहास्थि
स्पर्शने गां पृथिवीमालभ्य हस्तादिना संस्पृश्य हस्

तदङ्गं वा प्रक्षाल्य च सूर्यदर्शनं कृत्वा शुध्यति। आदिष्टी-आदिष्टव्रतानुष्ठायी ब्रह्मचारी मध्ये चान्द्रायणादिव्रतमारभमाणो वा जनो व्रतस्यासमापनादुदकमुदकेन विशिष्टशौचमपि न कुर्यात्। समाप्ते तु व्रते, उदकं कृत्वा त्रिरात्रेण शुध्यति। वृथा जाताः पञ्चमहायज्ञादिविहीना नपुंसकाश्च, हीनवर्णेनोत्कृष्टस्त्रीषु व्यभिचारेण जाताः संकरजाताः, प्रव्रज्यासु संन्यासाश्रमकृत्येषु तिष्ठतामात्मनस्त्यागिनां विषभक्षणादिना मृतानामुदकक्रियाऽशौचनियमो दशाहादिनियतो न कार्यः। तेषामाशौचं नैव मन्तव्यम्। वेदबाह्यशैववैष्णवादिपाषण्डमतलिङ्गधारिणां स्त्रीपुरुषाणां, कामतश्चरन्तीनां कुलटानां योषितां, गर्भद्रुहामौषधसेवनादिना गर्भपातिकानां भर्तृद्रुहां भर्तृताडनादिरतानां सुरापानरतानां च योषितां मरणे तत्सम्बन्धिभिराशौचं नैव मन्तव्यम्। स्वस्याचार्यादीन् प्रेतान्व्रती ब्रह्मचारी चान्द्रायणादिव्रतानुष्ठायी वा निर्हृत्य दाहादिकं कृत्वा स्वस्य व्रतेन न वियुज्यते स्वनियमं तथैव पालयेदाशौचलग्नेन तेन व्रतिना व्रतकृत्यं नैव हेयम्। मृतं शूद्रं दक्षिणेन पुरद्वारेण, वैश्यं पश्चिमेन, क्षत्रियमुत्तरेण, ब्राह्मणं च पूर्वेण द्वारेण निर्हरेन्निस्सारयेत्–श्मशानभूमिं नयेत्॥

भा०–यथा मलमूत्रत्यागादीन्यवश्यं कर्त्तव्यानि कर्माणि न केनापि कदापि त्यज्यन्ते तथैव नित्यसन्ध्योपासनादिकर्मणामपि शावाशौचे सूतके वा नास्ति निरोधः। चाण्डालादिजनानामशुद्धिः समीपतइन्द्रियार्थसंनिकर्षेणाया-

ति स्पर्शेतिसामीप्यादाधिक्येनागच्छति तत्र स्नानं दर्शना दौ न्यूनागमने मनोग्लानिनिवृत्तये मन्त्राणां जपउक्तः। गो पृथिव्याः स्पर्शः सूर्यस्य दर्शनं च जलाभावकाले गौणं वि कल्पार्थम् । सूर्यपृथिव्यादितत्त्वानामपिशोधकत्वमनिवा र्यमेव। अत्रोदकक्रियापदेन केचन तर्पणश्राद्धादिकं लोकसिद्धं वर्णयन्ति । स च मृतानन्तरमुदकप्रक्षेपस्य मृतेन सह न कोऽपि सम्बन्धो लक्ष्यते यदि च कथमपि सम्प्रयोजनं सयु क्तिकं चोदकप्रक्षेपणरूपं तर्पणं निष्पद्येत तदा तस्यैवोदकक र्मणः प्रतिषेधोऽस्तु न कापि नो हानिरन्यथोदककर्मपदेन त त्कृतमाशौचं मन्यमानैर्विशिष्टं स्नानं सर्ववासःप्रक्षालनं स र्वगृहस्य मार्जनं लेपनं चेत्यादि सर्वं जलेनैव क्रियमाणमु दककर्म जायते । शोकश्चाग्निगुणस्तस्य च जलेनैव शान्तिः सम्भवात् । वृथाजातादिषु पूर्वतएव प्रीतिर्हीयते तस्मात्त त्र शोकोऽपि न जायते । आचार्यादिभ्योऽन्येषां निर्हरणम पि व्रतिनो न धर्मत उपपन्नमेषां च निर्हरणे व्रतभङ्गो ना स्त्येवं सर्वथा सर्वदैव व्रतभङ्गस्तस्य नेष्यते । व्रतं च शङ्का द्विसर्गादिव देवनियतं कर्त्तव्यमेव जायते न तस्य त्याग शक्यते कर्त्तुम्। यच्च त्यज्यते मध्ये न तद्व्रतपदवाच्यम्। पूर्वादिदिग्भिः सह ब्राह्मणत्वादेः सम्बन्धोऽस्त्येव। पूर्वदि श्यग्निः प्रधानो लोकपालः । आग्नेयो वै ब्राह्मणः । ए वमुत्तरादिदिशा सह क्षत्रियत्वादेरपि सम्बन्धो युक्तएव बो ध्यः । सम्प्रति तु प्रायेण सर्वएव शूद्रीभूता दक्षिणमार्गे णैव मृतान्नयन्ति । यथा च सर्वे वर्णा बहुत्र दशदिनान्ये वाशौचं मन्यन्ते। इयं च शास्त्रविरुद्धान्धपरम्परा बोध्या॥९९॥

भावार्थः-(अघाहानि न वर्धयेत्) एक दिन आदि अल्प काल में समाप्त हो सकने वाली अशुद्धि वा शोक में विश्राम लेने वा आलस्य से पड़े रहने के लिये दिनों को न बढ़ावे अधिक दिनों तक अशुद्धि मानने का उद्योग न करे अ-र्थात् एक वा तीन दिन के आशौच में दश दिन आदि के कथन को न मान लेवे किन्तु अशुद्धि के दिनों को यथाशक्ति घटाने का उद्योग करे (अग्निषु क्रिया न प्रत्यूहेत्) अग्निहोत्रादि नियत कर्म को अशुद्धि के बहाने से न त्यागे किन्तु शीघ्र शुद्धि करके नियत समय पर नित्य कर्म को अवश्य करे। और जिस का अग्नि-होत्रादि ठीक नियम से न चलता हो उस को गमी में अग्निहोत्रादि न करना चाहिये किन्तु शुद्धि करके वह सन्ध्यादि करे (तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्नैव भवेत्) उस नियमित अग्निहोत्रादि कर्म को करता हुआ सपिण्डस्थ मनुष्य भी सम्बन्धी के मृत्यु में अपवित्र नहीं होता (दिवाकीर्त्तिमुदक्यां च) दिन में पुकार कर चलने वाले चाण्डाल [महतर] रजस्वला स्त्री (पतितं सूतिकां तथा) महापातकी वा उपपातकी जो पापी होने से जातिबाह्य किया गया हो, दश दिन के भीतर सूतिका स्त्री (शवं तत्स्पृष्टिनं चैव) मुर्दा शरीर और मुर्दा को छूने वाला इन सबका (स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति) स्पर्श करके मनुष्य स्नान करने से शुद्ध होता अर्थात् इन सब को छूकर स्नान करना चाहिये (अशुचिदर्शने प्रयत आचम्य) और शुभ कर्म का आरम्भ करने पर वा करते समय इन भङ्गी आदि सब अपवित्रों का समीप से दर्शन होजाय तो सावधान हो आचमन करके (यथोत्साहं यथाशक्ति सौरान् मन्त्रान् पावमानीश्च नित्यं जपेत्) उत्साह पूर्वक यथाशक्ति सूर्य देवता वाले [उदुत्यं जातवेदसं०] आदि मन्त्रों का तथा पवमानसूक्तों के मन्त्रोंका उक्त अवसरों पर नित्य जप किया करे (नारं सस्नेहमस्थि स्पृष्ट्वा विप्रः स्नात्वा शुध्यति) मांस मज्जादि लगी हुई मनुष्य की हड्डी को छूकर ब्राह्मण स्नान करे तो शुद्ध होता और (निस्नेहं तु आचम्यैव गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा) सूखी हड्डी के छूने पर हाथ में मट्टी लगाके धोवे और आचमन करके सूर्य का दर्शन वा मन से स्मरण करके शुद्ध होता यदि जल हाथ धोने को न मिले तो केवल हाथ मटिया कर सूर्य का दर्शनमात्र करले इसी पक्षान्तर को जताने के लिये यहां वा पढ़ा है (व्रतस्यासमापनादादिष्टी नोदकं कुर्यात्) शास्त्र में आज्ञा दिये हुए व्रत को करने वाला ब्रह्मचारी वा बीच२ चान्द्रायणादि व्रत करने वाला गृहस्थ पुरुष किसी सम्बन्धी के मरने पर व्रत पूरा होने से पहिलें व्रतक्रिया को छोड़कर गमी

न मनावे अर्थात् जल सम्बन्धिनी नई शुद्धि न करे (समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेण शुध्यति) और व्रत के समाप्त होने पर उदक क्रिया करके तीन ही दिन में शुद्ध होजाता है [जैसे किसी ने सात वा बारह दिन का व्रत किया हो उस के बीच में किसी का मृत्यु हो जावे तो व्रती अपने व्रत को न त्यागे और व्रत समाप्त होने पर तीन दिनगमी मान लेवे] (वृथासंकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम्) धर्मार्थ काम मोक्षों में से कोई भी जिस को प्राप्त नहीं हुआ बकरी के गले में निकले थन के तुल्य उस का जन्म व्यर्थ है, वा नपुंसक-हिजड़ा व्यभिचार से उत्पन्न हुए, संन्यासी होगये (आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्त्ततोदकक्रिया) विष खाके वा अन्य किसी प्रकार स्वयं आत्मघात करके मर जाने वाले मनुष्यों की गमी सम्बन्धियों को नहीं माननी चाहिये अर्थात् दश दिन आदि की अशुद्धि का नियम ऐसों के मरने पर मानना आवश्यक नहीं है (पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः) वेद विरुद्ध शैव वैष्णवादि पाखण्डमतों के चिह्नधारी मनुष्य पुरुषों, स्वेच्छा से विचरने वाली व्यभिचारिणी स्त्रियों (गर्भभर्त्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम्) गर्भ गिराने वाली तथा पति से वैर विरोध करने वाली और मद्य पीने वाली स्त्रियों के मरने पर उन के पूर्व सम्बन्धियों को गमी नहीं माननी चाहिये [अर्थात् पुण्यात्माओं का शोक मानने से अन्तःकरण में पुण्य के संस्कारों की पुष्टि होती है वैसे पापियों का शोक माने तो पाप के संस्कार (बलिष्ठ होंगे । इस से अच्छों के ही मरण में अशुद्धि मानना ठीक धर्मानुकूल है] (स्वमाचार्यमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम्) अपना संस्कार कराके वेद पढ़ाने वाले आचार्य, वेतन लेकर सामान्य ग्रन्थ पढ़ाने वाले उपाध्याय पिता माता और गुरु (प्रेतान् व्रती निर्हृत्य तु व्रतेन न वियुज्यते) इन सब मरे हुओं को ब्रह्मचारी वा चान्द्रायणादि व्रत का अनुष्ठान करने वाला व्रतधारी पुरुष ले जा के दाहादि क्रिया कर के भी अपने व्रत से च्युत नहीं होता किन्तु इन की अन्त्येष्टि क्रिया कर के भी अपने व्रत का पूर्ववत् ही पालन करे अशुद्धि लगने के भय से अपने व्रत को बीच में कदापि न त्यागे [क्योंकि संसार अनित्य और धर्म शुद्धस्वरूप होने से नित्य और बड़ा है इस प्रकार यहां भी धर्म की श्रेष्ठता दिखायी है) (मृतं शूद्रं दक्षिणेन पुरद्वारेण निर्हरेत्) मरे हुए शूद्र को नगर के दक्षिण दरवाजे से निकाले और ग्रामादि से दक्षिण दिशा में अन्त्येष्टि करे (पश्चिमोत्तरपूर्वैस्तु यथायोगं द्विजन्मनः) पश्चिम दरवाजे से

शूद्र को निकाले, उत्तर द्वार से क्षत्रिय को और पूर्व द्वार से ब्राह्मण मुर्दे को निकाल के नगर वा ग्राम से पूर्व में ही अन्त्येष्टि क्रिया करे ॥

भा०—जैसे अवश्य करने पड़ते मल मूत्र त्यागादि नियत कर्मों को कोई कभी गमी आदि के समय भी त्याग नहीं सकता वैसे नियत सन्ध्योपासनादि कर्मों की भी गमी के समय रुकावट नहीं है। चाण्डालादि मनुष्यों की अशुद्धि समीप मैल-संग होने से कीच के समान आकर लगती है स्पर्श होने में अति समीपता के कारण अधिक अशुद्धि लगती है इस से वहां स्नान करना कहा, और देखने आदि में कम अशुद्धि आती है इस से वहां मन की ग्लानि मेटने के लिये मन्त्रों का जप कहा है। गौ नाम पृथिवी का स्पर्श और सूर्य का दर्शन जल के अभाव में विकल्पार्थ गौण है। सूर्य पृथिव्यादि तत्त्व शोधन के हेतु अवश्य हैं [इसी कारण हाथ आदि में मट्टी लगाने से शुद्धि होती और गीले वस्तु आदि कों सुखाने आदि द्वारा भी सूर्य शुद्ध करता तमोगुणरूप अन्धकार का मेटना भी सूर्य से एक बड़ी शुद्धि होती है। जिस में जो स्वाभाविक गुण होता उस को देखने से भी वही गुण चक्षु के किरणों द्वारा देखने वाले में अवश्य आता है इसी कारण जल को देखने से भी कुछ शान्ति शीतलता आंख की किरणों द्वारा मनुष्य में आती है। वैसे अशुद्धि के सूक्ष्मांशों की निवृत्ति के लिये सूर्य का दर्शन अवश्य उपयोगी है] यहां उदक क्रिया शब्द से कोई लोग लोकप्रसिद्ध तर्पण श्राद्धादि का वर्णन करते हैं सो मरने पश्चात् तर्पणरूप जल छोड़ने का मृतक के साथ कोई सम्बन्ध नहीं दीखता। और यदि सूर्य दर्शन के समान जल छोड़ना रूप तर्पण का युक्तियुक्त कोई अच्छा प्रयोजन सिद्ध हो जाय तो उसी उदकक्रिया का निषेध रहो हमारी कुछ हानि नहीं है। और यदि ऐसा सिद्ध न हो तो उदक क्रिया शब्द से मृतक सम्बन्ध की अशुद्धि मानते हुए पुरुषों का विशेष स्नान करना, सब वस्त्रों का धोना, सब घर का लीपना पोतना छिड़कना धोना, आदि सब कर्म जल से ही होगा इस से यही सब उदकक्रिया मानी जायगी शोक वा सुखाना अग्नि का गुण है उस की शान्ति जल से ही होनी सम्भव है व्यर्थ उत्पन्न हुए नपुंसक वा धर्महीन पतितादि में पूर्व से ही प्रीति कम होती वा नहीं होती इसी से वहां शोक भी नहीं होता। आचार्यादि से भिन्न अन्य मुर्दों का उठाना भी व्रती के लिये धर्मानुकूल युक्त वा उचित नहीं है अर्थात् व्रत करने वाला आचार्यादि से भिन्नों का अन्त्येष्टि कर्म भले ही स्वयं न करे और

इन के उठाने जलाने में व्रत का भङ्ग नहीं होता इस प्रकार सब काल में सर्वथा व्रत की हानि अभीष्ट नहीं है। और मल मूत्र के त्याग के तुल्य अवश्य करने पड़े वैसा ही करे अन्यथा कदापि न हो वही स्वभाव के साथ सम्बद्ध व्रत कहाता है। और जो बीच में छूट जाय वा बदल जाय वह व्रत नहीं होगा। पूर्वादि दिशाओं के साथ ब्राह्मणपन आदि का सम्बन्ध स्पष्ट ही है। पूर्व दिशा में अग्नि प्रधान लोकपाल है और अग्नितत्त्वप्रधान ब्राह्मणपन है। इसी प्रकार उत्तरादि दिशाओं के साथ क्षत्रियपन आदि का युक्त सम्बन्ध जानो। वर्त्तमान समय में प्रायः सभी मनुष्य शूद्रमय हुए दक्षिण मार्ग से दक्षिण दिशा में मुर्दों को ले जाते हैं जैसे कि सभी मनुष्य चारो वर्ण अनेक प्रान्तों में दश ही दिन गमी मानते हैं पर शास्त्रानुसार १० । १२ । १५ । ३० दिन ब्राह्मणादि चारों वर्ण क्रम से गमी माने सो यह सब शास्त्र से विरुद्ध अन्धपरम्परा लोक में चल रही है ॥ ९२ ॥

नराणामघदोषोऽस्ति व्रतिनांनचसत्त्रिणाम्।
ऐन्द्रंस्थानमुपासीना ब्रह्मभूताहितेसदा ॥
राज्ञोमाहात्मिकेस्थाने सद्यःशौचंविधीयते।
प्रजानांपरिरक्षार्थ-मासनंचात्रकारणम् ॥
डिम्बाहवहतानांच विद्युतापार्थिवेनच ।
गोब्राह्मणस्यचैवार्थे यस्यचेच्छतिपार्थिवः ॥
सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्यच
अष्टानांलोकपालानां वपुर्धारयतेनृपः ॥
लोकेशाधिष्ठितोराजा नास्याशौचंविधीयते।
शौचाशौचंहिमर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम्।
उद्यतैराहवेशस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्यच ।

सद्यः सन्तिष्ठते यज्ञ-स्तथाशौचमिति स्थितिः ।
विप्रः शुध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् ।
वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ।
एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः ।
असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥१००॥

अ०—न्यायासनमध्यासीनानां राज्ञां, चान्द्रायणादिव्रतानुष्ठायिनां ब्रह्मचर्याश्रमस्थानां च, यज्ञदीक्षामाप्तानां च शावाशौचादिदोषस्तत्तत्कार्यबाधको न भवति। इन्द्रस्य जीवात्मनः स्थानमुपासीनाः स्वरूपावस्थाएव शुद्धा महत्त्वभूताः शुद्धिं नार्हन्ति । माहात्मिके राज्यासने स्थाने स्थितस्य राज्ञः सद्यः शौचं विधीयते । यदा कश्चिज्ज्ञातिर्बन्धुर्वा म्रियेत तदानीमेव राज्ञा शौचं कृत्वा विवादनिर्णयाय स्वासने स्थातव्यम् । नतु प्राकृतजनवत्त्र्यहाद्याशौचमास्थेयम्। डिम्बाहवः पारस्परिकं बहुजनसंकुलयुद्धमशस्त्रमराजकं च तेन, विद्युता पार्थिवेन च हतानां, गोब्राह्मणस्य चैवार्थे हतानां तस्य सपिण्डस्थस्य, यस्य च पुरोहितादेः पार्थिवः सद्यः शौचमिच्छति तेषां सर्वेषां सद्यः शौचं विधीयतइति पूर्वेणान्वयः। राज्ञोऽशौचाभावस्य प्रशंसार्थवादो द्वयोः। उद्यतैः शस्त्रैराहवे युद्धे क्षत्रधर्मेण सह हतस्यापराङ्मुखस्य यथा सद्यो यज्ञो यज्ञस्येव स्वर्गफलं सन्तिष्ठते सम्यक् सुस्थिरं भवति तथाऽशौचमपि सद्यः संतिष्ठते दशमादिदिने कृतक्रियो ब्राह्मणएकादशदिने प्रातःकालेऽपः स्पृष्ट्वा, वाहनायुधं

स्पृष्ट्वा क्षत्रियः प्रतोदं रश्मीन् वा स्पृष्ट्वा वैश्यो यष्टिं च स्पृष्ट्वा शूद्रः शुध्यति । यद्वा युद्धे हतानां स्वबान्धवानां शुद्धिं कुर्वाणा ब्राह्मणादयोऽपामुपस्पर्शादिना सद्यः शुध्यन्ति । भृगुराह—हे द्विजोत्तमाः! ऋषयः सपिण्डेषु प्रथैतच्छौचमभिहितमुक्तं सम्प्रति वक्ष्यमाणामसपिण्डेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत।

भा०—इन्द्रो विद्युदादिरूपः स्वरूपेणैव सदा शुद्धः। अत एव वेदउक्तम्—"इन्द्र शुद्धो न आगहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः" तस्य च स्थानं शुद्धमेव,वृतिराजसन्निणाश्च शुद्धिस्थानमुपासीना भवन्ति सदा निर्दोषं शुद्धतमं च ब्रह्मातस्ते सर्वे ब्रह्मसन्निहिता ब्रह्मभूता गद्यन्ते । जीवात्मा चेन्द्रपदवाच्यस्तस्य छेदनादिभयराहित्यं स्वरूपेऽवस्थानं सच स्वरूपेऽवस्थितः क्षत्रियोऽपि निर्भयो योद्धुं शक्नोति तदेव राज्ञ ऐन्द्रं स्थानम्। शुद्धिप्राबल्यं प्राप्तांश्च सर्वत्रैवाशुद्धिर्न बाधतेऽतएव राजादीनघदोषा न बाधते। यत्र महानात्मा कामक्रोधलोभादिसंकोचरहितो निर्भयो जायते तन्माहात्मिकं स्थानंन्यायासने स्थितिः। न कस्यापि पक्षं कुर्वन् केनापि न्यायः कर्तुं शक्यते। सोमादयो लोकपाला अतिशुद्धानि तत्त्वानि तदंशप्राधान्येन निर्मितं राज्ञः शरीरं तस्मिन्नाशौचं सद्यो न विशति । यथा च सर्वाधिपतेरीश्वरस्य सापेक्षं शौचाशौचं न भवति किन्तु सदैव शुद्धएव सः । एवं च लोकेशतत्त्वानामधिष्ठानं राजा तस्य नित्यशुद्धत्वाच्छौचावश्यकत्वं नास्ति। यतो लोकेशेभ्यएव मर्त्येषु शौचाशौचं प्रभवति विनश्यति च। एवंभूतेषु व्रतादिवद्धर्म्यकार्येषु विनियुक्तानां सर्वेषामवि

सद्यःशौचं विज्ञेयम् । अत्र प्रकरणे स्पष्टतयैव सूचितमेतत्-अधिककालीनशौचापेक्षयाऽल्पकालिकशौचस्य प्राशस्त्यम् । धर्मेण चैतद्विशेषतः सम्बद्धं यतो धर्मः शुद्धः ॥१००॥

भाषार्थः—(राज्ञामघदोषो नास्ति, व्रतिनां न च सत्रिणाम्) राजा, चान्द्रायणादि व्रतों का अनुष्ठान करने वाले, ब्रह्मचारी और यज्ञ में दीक्षित हुए यजमान को गमी का दोष वा अशुद्धि नहीं लगती (तेहि सदैन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूताः) क्योंकि वे राजादि तीनों इन्द्र नाम जीवात्मा के स्वरूप वा स्थितिरूप शुद्धस्थान को प्राप्त महान् बड़े होते हैं इसी से विशेष शुद्धि करने योग्य हुए अपने २ कार्य को छोड़ नहीं सकते (राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते) धर्मानुकूल ठीक २ न्याय करने के लिये राजगद्दी पर बैठना राजा के लिये महात्माओं का स्थान है अर्थात् ठीक न्याय करना बड़ी अच्छी उत्तम बुद्धि वालों का काम है । ऐसे राजगद्दी पर बैठे राजा के कुटुम्ब में किसी का मृत्यु हो तो उसी समय राजा को शुद्धि कर लेनी चाहिये क्योंकि (प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम्) प्रजा की रक्षा के लिये राजगद्दी पर बैठना ही राजा को शीघ्र शुद्धि करने का कारण है (डिम्बाहवहतानां च) राजसम्बन्ध के विना परस्पर बहुत ग्रामीणादि मनुष्यों के बीच हुई लड़ाई में जो मारे गये (विद्युता पार्थिवेन च) विद्युत् के गिरने से मरे और राजाने फांसी आदि देकर मरवाये (गोब्राह्मणस्य चैवार्थे) गौ और ब्राह्मण पर आई विपत्ति को हटाने के लिये जिन्हों ने अपना प्राण दे दिया हो ऐसे पुरुषों का मृत्यु शोक करने योग्य नहीं होता तथा (यस्य च पार्थिव इच्छति) जिस प्रधान मन्त्री आदि वा पुरोहितादि का शीघ्र शुद्ध हो जाना राजा चाहता है उन सब की तत्काल शुद्धि कर लेनी चाहिये अर्थात् उन का दाहादि कर्म कर के सम्बन्धी लोग उसी समय शरीर घर और वस्त्रादि की शुद्धि कर के अपने २ अन्य कामों में लगें गमी मना के घर में न बैठे रहें (सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च) सोम, अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र–विद्युत्, वित्तपति–कुवेर, अप्पति–वरुण, यमराज (अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः) इन आठ लोकपालों के शुद्धांशों को राजा धारण करता है (लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते) राजा के शरीर में लोकपाल शुद्ध तत्त्व देवताओं का प्रधान वास है इस से उस राजा को अशुद्धि लगना नहीं कहा गया (लोकेशप्रभवाप्ययं

शौचाशौचं हि मर्त्यानाम्) क्योंकि लोकपालों रूप शुद्ध तत्त्व देवताओं से मनुष्यों में शुद्धि अशुद्धि प्रकट वा विनष्ट होती है इस से मनुष्यों को ही शुद्धि अशुद्धि लगती है किन्तु पशु आदि तिर्य्यग्योनियों में भी इतनी कम अशुद्धि लगती है जो अशुद्धि में गिनी भी नहीं जाती अर्थात् मूढ़दशा को प्राप्त और तत्त्वज्ञानी वा अधिक शुद्ध ऐसे ऊपर नीचे दोनों को ही विशेष वा प्रबल शोकादि नहीं सताता इस से अशुद्धि आदि के सब दुःख मनुष्य नामक जीव को कक्षा के लिये ही हैं राजा मनुष्यकोटि में नहीं किन्तु देवकोटि में है (उद्यतैः शस्त्रैराहवे क्षत्रधर्महतस्य च) उठाये हुए प्रसिद्ध शस्त्रों द्वारा युद्ध क्षेत्र में पीछे को मुख न फेरते हुए धर्मानुकूल युद्धकर के मरे का (सद्यो यज्ञस्तथा शौचं सन्तिष्ठतइति स्थितिः) यज्ञ के तुल्य स्वर्ग फल और शुद्धि दोनों काम शीघ्र तत्काल ही प्राप्त हो जाते हैं यह शास्त्र की मर्यादा है (अपः स्पृष्ट्वा विप्रो वाहनायुधं क्षत्रियः) दशवें आदि दिन शुद्धि क्रिया कर के ग्यारहवें दिन प्रातःकाल ब्राह्मण जलों का स्पर्श कर क्षत्रिय तेरहवें दिन प्रातः, वाहनरथादि और शस्त्रों का स्पर्श कर (वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा) वैश्य सोलहवें दिन प्रातः पैन [हांकने के कोड़ा] वा लगाम वा नाथ की रस्सियों का स्पर्श कर और (कृतक्रियः शूद्रो यष्टिम्) तीशवें दिन शुद्धि कर्म किया हुआ शूद्र इकत्तीशवें दिन प्रातःकाल लाठी का स्पर्श करके शुद्ध हो जाता है । अथवा इस श्लोक का यह अर्थ भी हो सकता है कि युद्ध में क्षत्रिय की प्रधानता होने पर भी मित्रानुरोधादि विशेष कारणों से जो ब्राह्मणादि युद्ध करने को गये हों । वहां मारे गये ब्राह्मण के सम्बन्धी जल स्पर्श कर, क्षत्रिय के सम्बन्धी वाहन और शस्त्रों का स्पर्श कर, वैश्य युद्धस्थ रथादि को हांकने के कोडा वा लगाम का और शूद्र लाठी का स्पर्शकर तत्काल ही शुद्ध हो जावें और युद्ध करने लगें किन्तु शुद्धि के लिये युद्ध से हटें नहीं । अब भृगु जी कहते हैं कि हे (द्विजोत्तमाः ! सपिण्डेषु व एतच्छौचमभिहितम्) द्विजों में उत्तम ब्राह्मण ऋषियो श्रोतालोगो ! हमने सात पीढी सपिण्डविषयक यह शुद्धि का प्रकार तुम लोगों से कहा अब (सर्वेष्वसपिण्डेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत) आगे कही जानेवाली असपिण्ड कुटुम्बी वा अन्य सब में प्रेत–मृतक शुद्धि सुनो–जानो ॥

भा०—बिजुली आदि नामक इन्द्र अपने स्वरूप से ही सदा शुद्ध है । इसी से वेद में कहा है कि "हे इन्द्र शुद्धस्वरूप तुम हमारी शुद्धि के लिये आओ शुद्ध स्तुति वा रक्षाओं के द्वारा तुम शुद्ध हो इत्यादि„ वह इन्द्र अपने शुद्धस्व-

रूप—स्थान में रहता है। व्रती, राजा और यज्ञ में दीक्षित हुआ यजमान ये तीनों शुद्ध दशा में स्थित होते हैं। और ब्रह्म सदा निर्दोष अत्यन्त शुद्ध है इस से वे सब व्रती आदि ब्रह्म के समीपस्थ होने से ब्रह्मभूत कहे जाते हैं। और जीवात्मा भी इन्द्रपदवाच्य है उस को अपने करने आदि का भय न होना ही अपने शुद्धस्वरूप में अवस्थिति और यही शुद्धि है। वह स्वरूप में अवस्थित हुआ क्षत्रिय भी मरणादि से निर्भय होकर युद्ध कर सकता तथा काम क्रोध लोभादि दोषों से और पक्षपात से रहित हुआ ही शुद्ध राजा ठीक न्याय कर सकता है वही राजा का ऐन्द्र नाम शुद्धिस्थान—शुद्ध दशा है। और प्रबल शुद्ध दशा को प्राप्त सभी पदार्थों को सर्वत्र ही अशुद्धि नहीं दबाती इसी से राजादि को गमी का दोष नहीं लगता। जहां काम क्रोध लोभादि के संयोग से रहित आत्मा नाम बुद्धि निर्भयता से महत्त्व को प्राप्त होती है वह न्यायासन राजगद्दी माहात्मिकस्थान है। किसी का पक्ष करने वा स्वार्थ परता होने पर कोई न्याय नहीं कर सकता। सोमादि लोकपाल अतिशुद्ध तत्त्व हैं उन के अंश की प्रधानता से बने राजा के शरीर में अशुद्धि शीघ्र प्रविष्ट नहीं होती। जैसे कि सर्वाधिष्ठाता ईश्वर को सापेक्ष शुद्धि अशुद्धि नहीं लगती किन्तु वह सदा ही शुद्ध है। इसी प्रकार लोकपालतत्त्वों का आधार राजा है उस के नित्य शुद्ध होनेसे विशेष गमी आदि के शौच की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि लोकपाल देवताओं से ही उन के विकाररूप मनुष्य देहों में शुद्धि अशुद्धि उत्पन्न और नष्ट होती है। ऐसे ही व्रतादि के तुल्य धर्मसम्बन्धी उत्तम कार्यों में तत्पर हुए अन्य भी सभी मनुष्यों को शीघ्र शुद्धि कर लेना यहां का आशय है। इस प्रकरण में स्पष्टरूप से ही यह सूचित किया है कि अधिक काल में गमी आदि की शुद्धि करने की अपेक्षा थोड़े काल में शुद्धि कर लेना अच्छा है। धर्म के साथ इस का विशेष कर सम्बन्ध यही है कि धर्म शुद्ध वा जो शुद्ध है वही धर्म है ॥१००॥

असपिण्डंद्विजंप्रेतं विप्रोनिर्हृत्यबन्धुवत् ।
विशुध्यतित्रिरात्रेण मातुराप्तांश्चबान्धवान्॥
यद्यन्नमत्तितेषांतु दशाहेनैवशुध्यति ।
अनदन्नन्नमन्हैव नचेत्तस्मिन्गृहेवसेत् ॥

अनुगम्येच्छयाप्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेवच।
स्नात्वासचैलःस्पृष्ट्वाग्निंघृतंप्राश्यविशुध्यति
नविप्रंस्वेषुतिष्ठत्सु मृतंशूद्रेणनाययेत्।
अस्वर्ग्याह्याहुतिःसास्या-च्छूद्रसंस्कारदूषिता
॥ १०४ ॥

अ०-असपिण्डं ब्राह्मणं बन्धुरहितं च प्रेतं ब्राह्मण उत्थाप्य बन्धुवदन्त्यक्रियां कुर्यात् त्रिरात्रं चाशौचं मन्येत। एवं स्वगोत्राद्भिन्नान्मातुः सम्बन्धिनो मातुलादीनाप्तान्सं निहितान्निर्हृत्य त्रिरात्रेण शुध्यति यदि तेषामसपिण्डाना माशौचकालेऽन्नमत्ति तदा दशाहेनैव यदि तेषामन्नमखा दन् गृहे वसति तदा त्रिरात्रेण यदि च तद्गृहवासं तदन्नभक्षणं चोभयं न करोति तदैकेनैवाहोरात्रेण शुद्धो भवितुमर्हति विशेषानुरोधमन्तरेण स्वेच्छया ज्ञातिमज्ञाति वा प्रेतं श्म शानावधि प्रेतहारैः समं गत्वा सवासाः स्नात्वाऽग्निं प्र तप्य घृतं प्राश्य च विशुध्यति। विप्रं ब्राह्मणं क्षत्रियं वा स्वेषु स्वजातिस्थेषु ब्राह्मणादिषु तिष्ठत्सु विद्यमानेषु शूद्रा दिना निकृष्टेन नैव नाययेदपित्वविज्ञातमपि स्वजाती ब्राह्मणादिरेवोत्थाप्य नीत्वा दाहयेत्। शूद्रादिनिकृष्टसंस्प र्शेन दूषिताऽऽहुतिर्दाहक्रिया विद्यमानानामस्वर्ग्याऽसुखहे तुकैव सा लोके परलोके च स्यात्सम्भवति॥

भा०-असगोत्रासपिण्डप्रेतस्य मित्रत्वाद्यनुरोधेन प्रे सम्बन्धिष्वसत्सु वा प्रेतक्रियाऽन्येन गृहिणा सन्निहिते

कार्या तत्र च यथोचितमाशौचं मन्तव्यम् । ब्राह्मणाभावे क्षत्रियस्तदभावे वैश्यस्तदभावे चापदि शूद्रोऽपि ब्राह्मणं क्षत्रियं वा प्रेतं निर्हरेत् । एवं स्वजात्यभावे ब्राह्मणादिरपि प्रेतं क्षत्रियादिमुत्थाप्य दाहयेदिति सर्वमापत्कालोचितं वन्धुत्वैक्यवर्धकमुपकारकं च कृत्यमतो धर्म्यम् ॥१०४॥

भाषार्थः—(विप्रोऽसपिण्डं प्रेतं द्विजं वन्धुवन्निर्हृत्य) ब्राह्मण अपनी सात पीढ़ी से भिन्न किसी विदेश के भी मृतक ब्राह्मण को अपने बन्धु के तुल्य उठवाकर दाहक्रिया कर के (त्रिरात्रेण शुध्यति) तीन दिन गमी की अशुद्धि मानकर शुद्धि करे (मातुराप्तांश्च बान्धवान्) और अपने कुल गोत्र से भिन्न समीप में रहते हुए माता आदि के सम्बन्धी-मामा, नाना, शाले, श्वशुर, मौसा, मौसी आदि के मरने पर भी उन की दाह क्रिया कर तीन दिन गमी माने (यदि तु तेषामन्नमत्ति दशाहेनैव शुध्यति) यदि उक्त असपिण्डों के घरों में जिन का कोई समीपस्थ मरा हो उन ही का अन्न—पकाया भोजन खावे तो दश दिन ही गमी माने (अन्नमनदन् चेत्तस्मिन् गृहे न वसेत्) और यदि उन के घर में भी न वसे न उन का अन्न खावे तो दाह कर एक ही दिन में शुद्ध होता और उन का अन्न न खाता हुआ घर में वसे तो तीन दिन में शुद्ध होता है । विशेष प्रीति वा मेल के विना (इच्छया ज्ञातिमज्ञातिं वा प्रेतमनुगम्य) अपनी इच्छा से स्वजातीय वा विजातीय मुर्दा के पीछे मुर्दा को लेचलने वालों के साथ श्मशान भूमि तक जावे तो (सचैलः स्नात्वाऽग्निं स्पृष्ट्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति) वस्त्रों सहित स्नान कर अग्नि में शरीर को तपा के और थोड़ा घृत खाकर तत्काल शुद्धि कर लेवे (स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं विप्रं शूद्रेण न नाययेत्) अपने स्वजातीय ब्राह्मणों के विद्यमान होते हुए मरे हुए ब्राह्मण क्षत्रियादि को शूद्रादि नीच से न उठवावे किन्तु अपने जातीय अज्ञात को भी ब्राह्मणादि ही उठाकर लेजावें और दाह करें (सा शूद्रसंस्कारदूषिताऽऽहुतिरस्वर्ग्या हि स्यात्) वह शूद्रादि नीच के स्पर्श से दूषित हुई आहुति दाह से क्रिया बचे हुए विद्यमानों के लिये सुख से भिन्न दुःख का हेतु ही लोक पर लोक दोनों में होगी ॥

भा०—गोत्र और सात पीढी से भिन्न सजातीय पुरुष के मरने पर मृतक का सम्बन्धी कोई उठाने वाला न हो तब वा मेल प्रीति आदि के अनुरोध से उस

की दाहक्रिया अन्य समीपस्थ गृहस्थ को करनी चाहिये और वहां यथोचित अ- शुद्धि गमी भी माननी चाहिये । ब्राह्मण के अभाव में क्षत्रिय और उस के अभाव में वैश्य और वैश्य के भी न होने पर शूद्र भी ब्राह्मण मुर्दा को उठा तथा जलावे इसी प्रकार उस २ का स्वजातिस्थ कोई न हो तो ब्राह्मणादि भी मृत क्षत्रियादि को उठा के जलावे यह सब आपत्काल में करने योग्य कृत्य भ्रा- तृभाव से एकता बढ़ाने वाला उपकारक है इसी से धर्मानुकूल जानो ॥ १०४ ॥

ज्ञानंतपोऽग्निराहारो मृन्मनोवार्युपाञ्जनम् ।
वायुःकर्मार्ककालौच शुद्धेःकर्त्तॄणिदेहिनाम् ॥
सर्वेषामेवशौचाना-मर्थशौचंपरंस्मृतम् ।
योऽर्थेशुचिर्हिसशुचि-र्नमृद्वारिशुचिःशुचिः ॥
क्षान्त्याशुध्यन्तिविद्वांसोदानेनाकार्यकारिणः ।
प्रच्छन्नपापाजप्येन तपसावेदवित्तमाः ॥
मृत्तोयैःशुध्यतेशोध्यं नदीवेगेनशुध्यति ।
रजसास्त्रीमनोदुष्टा संन्यासेनद्विजोत्तमः ॥
अद्भिर्गात्राणिशुध्यन्ति मनःसत्येनशुध्यति ।
विद्यातपोभ्यांभूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेनशुध्यति ॥
एषशौचस्यवःप्रोक्तः शारीरस्यविनिर्णयः ।
नानाविधानांद्रव्याणांशुद्धेःशृणुतनिर्णयम् ११

अ०—ज्ञानं तत्त्वज्ञानं शोकमोहमिथ्याज्ञानादिसम्बद्ध- मालिन्यस्य, तपो—रागद्वेषादिद्वन्द्वजन्यवैषम्यमालिन्यस्य अग्निः क्षेपकःस तप्तसुवर्णादिमलापहारको देहमलापगम-

कस्य, यथौषधमुपयुक्तं रोगं हन्ति तथा शुद्धः सात्त्विकश्चाहारो रजस्तमोजन्यमालिन्यस्य, क्षारादिगुणवती मृद्धस्तवसनादिसम्बद्धमलस्य, शुद्धं मन इन्द्रियादिसम्बद्धस्य, शुद्धं वारि देहादिसम्बद्धमलस्य स्नानादिना, उपाञ्जनं गोमयादिना गृहलेपनं, चन्दनकेशरादिना शरीरलेपनं च तत्तत्सम्बद्धमालिन्यस्य, गमनशीलो वायुः पूतिगन्धादेः, कर्म परिणामान्तरहेतुत्वात्सूर्यः शोषकत्वात्कालश्चावस्थान्तरहेतुत्वादवस्थितमालिन्यस्य वारकः प्रत्यक्षेणैव सर्वैरनुभूयते । सर्वेषामेव शौचानां मध्येऽर्थशौचं, छलकपटादिराहित्येन भावशुद्धिपुरसरो व्यवहारो योऽस्मिन्नर्थे शुचिः स शुचिस्तदपेक्षया च मृद्वारिशुचिरशुचिरेवास्ति । अर्थशौचे पुण्यप्राबल्यात् । क्षान्त्या क्षमया विद्वांसोऽकार्यकारिणः पापाचारा दानेनाप्रसिद्धपापिनो जप्येन वेदवित्तमाश्च तपसा शुध्यन्ति । बाह्यं स्थूलं वस्तु मलमूत्रादिसंसर्गदूषितं शरीरं च मृज्जलाभ्यां शुध्यति। ग्रामादिस्थपतितमलदूषिता नदी जलप्रवाहप्राबल्येन, मनसि संजातव्यभिचारसंकल्पा स्त्री रजःप्रवाहेण शुध्यति। यदि च स संकल्पस्तस्या अनुद्भूतो निवृत्तो वा भवति । उद्भूतसंकल्पा तु रजसाऽपि न शुध्यति । द्विजोत्तमो ब्राह्मणश्च संन्यासेन वैराग्येण त्यागेन सामान्यपापाच्छुद्धो भवति । अद्भिः प्रक्षालितानि शरीराङ्गानि शुध्यन्ति । स्थायिव्यभिचारदोषरहितमनोऽनुकूलाविकल्पितवाग्व्यापारेण मनः शुध्यति । भूतात्मा सूक्ष्मलिङ्गशरीरसम्बद्ध आत्मा वेदाभ्यासेन तपसा च शुध्यति । विपर्ययादिरूपाविद्ययोपलिप्ता विपरीतार्थव्यवसायपरा बुद्धिर्ज्ञानेन तत्त्वज्ञानेन शुध्यति॥

भा०-सर्वापेक्षया ज्ञानं प्रधान्येन शोधकम्। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथेति कथनात्। तथा नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। अतएव तत्त्वज्ञानस्यैवाविनाभावेन कैवल्यकारणत्वं सर्वविद्वदनुमतमस्ति। मृज्जलादिना शोधनेन सार्द्धं वाचा मनसा च छलादिकं विहाय शुद्धाचरणएकः,शरीरवस्त्रादिना मलिनोऽपि सन् छलादिरहितः शुद्धाचरणो द्वितीयः,दर्शनायैवोपरिष्टाच्छुद्धश्छलकपटादिनीतिचातुर्येण स्वार्थसाधनरतस्तृतीयो महाधमः पापिष्ठः। तृतीयाद्द्वितीय उत्तमः। ते शुद्धाभासाः (हृदयेन यथाक्षुरः। अन्ये च बदराकारा बहिरेव मनोहराः) इत्यादि वद्बकव्रतिनो धर्मध्वजिनः प्रच्छन्ननास्तिकाः प्रच्छन्नराक्षसा अधर्ममूर्त्तयो जनाः सम्प्रति वृद्धिंगता जगति वर्त्तन्ते। अतएव दुःखापत्तयोऽहर्निशंभूमण्डले वर्द्धन्ते।एतद्दर्शयितुमेवार्थमृद्वारिशुचिःशुचिरित्युक्तम्। तत्त्वं विदुषां क्षमया शुद्धिरित्यादिकथनमर्थशौचस्यैव सर्वः प्रपञ्चः। तथा च मनोऽनुकूलेन शुद्धेन बाह्याचरणेन सर्वं क्षमादिकं संगृह्यते। शुद्धाचारान्न कोऽपि धर्मो व्यतिरिच्यते। शावाशौचे सौतकेऽन्यत्र च सर्वत्रैव शारीरमात्मिकं च द्विविधमाशौचं तस्य सर्वस्य ज्ञानादिकमेव शोधकम्। ब्रह्मचर्यरक्षणं धराशयनं क्षारलवणादिरहितशुद्धसात्त्विकाहारसेवनम्। मृदादिना गृहशोधनं विशेषेण च सर्वमनित्यं पश्यतो धर्मेऽविकल्पं मनोनिधानं परं शोधकम्। तेनतेन क्षमादिसाधनेन तस्यतस्य विद्वत्त्वादेः शुद्धौ साक्षात् प्राधान्यमेवावगन्तव्यम्। परम्प-

द्याद्भिः स्नातस्य ग्लानिहीनं मनोऽपि प्रसीदत्येव साक्षा-त्वद्भिः शरीरशुद्धिरेव, प्रसादः शुद्धिश्चानर्थान्तरम् । सर्व-विधा शुद्धिश्च पूर्णो धर्मएव। नहि कोऽपि किमप्यधर्ममा-चरन् बाह्याभ्यन्तरतः सर्वथा शुद्धो भवति । कस्यचिन्मर-णे सम्बन्धिनां ग्लानिः शोको रोदनं दुःखानुभवश्च सर्वं पापं तस्यापशमोपायः शुद्धिः पुण्यं धर्मइति तस्यात्र शा-सनमुचितमेव ॥११०॥

भाषार्थः—(ज्ञानं तपोऽग्निराहारः) शोक मोह और मिथ्याज्ञानादि सम्बन्धी मलिनता का सर्वोपरि शोधने हटाने वाला ज्ञान है, राग द्वेषादि द्वन्द्वों से होने वाली विषमता रूप मलिनता का शोधक तप, अग्नि का स्वाभाविक गुण तेजी से किसी को फेंकना है इसी से वेद में अग्नि का नाम अज है वह अग्नि तपाये सुवर्णादि के और तप द्वारा शरीर के वा अन्तःकरण के मल को दूर फेंक देता है। जैसे सेवन किया हुआ औषध रोगको हटाता वैसे शुद्ध सात्त्विक आहार भोजन भी रजोगुण तमोगुण सम्बन्धिनी मलिनता को दूर करता है। क्षुधा भी एक स्वाभाविक रोग है और ओषधियों का फल ही अन्न वा आहार है क्षुधारूप रोग का शोधक तो आहार स्पष्ट ही है (मृन्मनोवार्युपाञ्जनम्) रेव मट्टी आदिवस्त्रों वा हाथ आदि का मल छुड़ाती इसी से साबन भी शोधक है क्योंकि साबन में रेव पड़ता ही है, शुद्ध मन इन्द्रियों के दोषों को हटाता, शुद्ध जल शरीरादि सम्बन्धी मल को स्नानादि द्वारा हटाता, मट्टी गोवर से घर को लीपना पोतना वा केशर चन्दनादि से शरीर पर लेपन करना दुर्गन्धादि अशुद्धि को हटाता है (वायुः कर्मार्ककालौ च) गमनशील वायु दुर्गन्धादि मलिनता को शोधता, पदार्थों की दशा को बदलता हुआ अशुद्ध को शुद्ध कर देता, हल जोतना आदि क्रिया भी वा सन्ध्योपासनादि कर्म भी शोधक है, सुखाने वाला होने से गीलेपन से सम्बद्ध अशुद्धि का शोधक सूर्य और पदार्थों की अवस्था को बदलता हुआ काल भी शुद्ध करता है (शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम्) ये ज्ञानादि सब उक्त प्रकार मनुष्यों के शोधक हैं और शुद्धि धर्म है इस से धर्म के साधन ज्ञानादि हैं (सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्) सब शुद्धियों में छल कप-

टादि रहित होके अन्तःकरण की शुद्धि पूर्वक सत्य व्यवहार करना रूप अर्थशुद्धि अतिउत्तम है (योऽर्थे शुचिः स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः) जो पुरुष धन व्यवहार में शुद्ध है वही शुद्ध और केवल मट्टी जल से अधिक २ हाथ आदि के मांजने धोने स्नान करने श्वेत वस्त्र पहरने वाला वैसा पवित्र नहीं है (क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसः) क्षमा करने सहन शील होने से विद्वान् सदसद्विवेकी लोग शुद्ध होते (अकार्यकारिणो दानेन) चोरी हिंसादि द्वारा अन्यों की हानि करने वाले दानरूप परोपकार से (प्रच्छन्नपापा जप्येन) गुप्त पापों वाले गुप्त जप करने से अर्थात् एकान्त शुद्धस्थान में बैठ २ कष्ट सह कर प्रहरों तक नित्य जप करने से शुद्ध होते (तपसा वेदवित्तमाः) और अधिकता के साथ वेद के तत्त्व को जानने वाले महात्मा लोग अपनी सूक्ष्म दुर्वासनाओं की शुद्धि तप के द्वारा कर सकते हैं (शोध्यं मृत्तोयैः शुध्यते) बाहिरी स्थूल पदार्थों पर लगी मल मूत्रादि की स्थूल अशुद्धि मट्टी जल से शुद्ध होती (नदी वेगेन) ग्रामादि से मोरी आदि द्वारा मल मूत्रादि पड़ने से दूषित हुई नदी जल प्रवाह के वेग से शुद्ध होती (मनोदुष्टा स्त्री रजसा) जिस के मन में अन्य पुरुष से व्यभिचार करने का संकल्प हो कर दब गया वा निवृत्त हो गया ऐसी स्त्री रजस्वला होने से शुद्ध हो जाती है पर जिस के मन में कुकर्म की इच्छा वर्तमान है वह रजस्वला होने पर भी शुद्ध नहीं हो सकती (द्विजोत्तमः संन्यासेन शुध्यति) और ब्राह्मण संन्यास नाम पूर्ण वैराग्य से शुद्ध होता है (अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति) जल से धोने द्वारा हाथ पांव आदि शरीराङ्ग शुद्ध होते (मनः सत्येन शुध्यति) मन के अनुकूल विकल्प रहित वाणी के सत्य व्यवहार से मन शुद्ध होता अर्थात् असत्य बोलने से मन सर्वोपरि अशुद्ध दूषित हो जाता (विद्यातपोभ्यां भूतात्मा) सूक्ष्म लिङ्ग शरीर सहित जीवात्मा वेद को पढ़ने जानने और तप करने द्वारा शुद्ध होता और वेदाभ्यास तथा तप किये विना जीवात्मा अत्यन्त अशुद्ध मलिन रहता है (बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति) बुद्धि ज्ञान के द्वारा शुद्ध होती अर्थात् विपर्ययरूप अविद्या से ग्रस्त विपरीत विषयों का निश्चय करने वाली बुद्धि तत्त्वज्ञान होने से शुद्ध होती है (शारीरस्य शौचस्यैष विनिर्णयो वः प्रोक्तः) भृगु जी कहते हैं कि हे श्रोता ऋषिलोगो ! शरीर से सम्बन्ध रखने वाले आत्मादि की शुद्धि का यह उक्तनिर्णय मैंने तुम लोगों के लिये कहा अब (नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेर्निर्णयं शृणुत) नाना प्रकार के द्रव्यों की शुद्धि का निर्णय तुम लोग और सुनो ॥

भा०—सब की अपेक्षा ज्ञान ही सर्वोपरि प्रधान शोधक है इसी लिये भगवद्गीता में लिखा है कि—"ज्ञानरूप अग्नि सब दुष्कर्मों की वासनाओं को एक साथ भस्म कर देता है। तथा ज्ञान के समान अन्य कोई पवित्र वस्तु संसार में नहीं है" इसी से जिस के विना जो कभी हो ही नहीं सकता ऐसे तत्त्वज्ञान को ही एक मत होके मोक्ष का कारण सब विद्वान् लोग मानते हैं। एक जल मट्टी आदि के द्वारा शुद्धि करने के साथ शुद्ध सत्य व्यवहार करने वाला, द्वितीय शरीर वस्त्रादि से मलिन रहता हुआ भी शुद्ध व्यवहार करने छल कपट से न वर्त्तने वाला और तृतीय ऊपर से देखने में शरीर वस्त्रादि से दिखावटी शुद्धि [सफाई] रखता हुआ स्वार्थसाधन के लिये छल कपट चालाकी से वर्त्तने वाला इन में पहिला सर्वोत्तम धर्मात्मा द्वितीय मध्यम और तृतीय महानीच अधर्मी है। तृतीय से द्वितीय बहुत उत्तम है। सो ऊपरी शुद्धि सफाई का लिफाफा दिखाने वाले और (हृदयेन यथा क्षुरः। वा—अन्ये च बदराकारा बहिरेव मनोहराः) हृदय से अन्य की हानि के लिये क्षुरा की धार के समान हैं अथवा जैसे वेरिया का फल वेर ऊपर से देखने में अच्छा चिकना और चमकदार होता पर भीतर ऐसी कड़ी वा खरखरी गुठली होती है जिस से दांत भी टूट जांय पर फूटे नहीं ऐसे ही जो मनुष्य बाहर से अच्छे बने ठने बड़े प्रियभाषी—वे ही धर्म के शत्रु अधर्म की मूर्त्ति मनुष्य संसार में सम्प्रति इतने अधिक बढ़े हैं जिन ने दैवी सम्पत्ति के अत्यन्त थोडे मनुष्यादि को सर्वथा ही दबा लिया है। इसीसे भूमण्डल में दिन २ दुःख और विपत्ति बराबर बढ़ती जाती है। केवल ऊपरी दिखावटी शुद्धि मात्र को धर्म से विरुद्ध कहने के लिये ही यहां मनु जी ने (न मृद्वारिशुचिः शुचिः) कहा है। सो यह कथन उक्त प्रकार सर्वथा ही सत्य है क्षमा से विद्वानो की शुद्धि होती इत्यादि सब कथन अर्थ शौच का व्याख्यान है। सो मन के अनुकूल बाहरी शुद्ध आचरण के साथ सब क्षमादि का ग्रहण आजाता है अर्थात् शुद्ध आचरण से भिन्न कोई धर्म नहीं ठहरता। मृतक और सूतक दोनों अशुद्धियों में सर्वत्र ही शरीर सम्बद्ध स्थूल वा अन्तःकरण सम्बद्ध सूक्ष्म दो ही प्रकार की अशुद्धि है उस सब के शोधक ज्ञानादि हैं। ब्रह्मचारी होकर रहना, पृथिवी पर सोना, खार वा लवणादि रहित शुद्ध सात्त्विक भोजन करना चूना मट्टी आदि से घर को शुद्ध करना और विशेष कर सब संसार को अनित्य देखते हुए का धर्म में मन लगाना परम शोधक है यही सब कृत्य गमी आदि में कर्त्तव्य कहा है। उस २ क्षमादि साधन से उस २ विद्वान्‌पन आदि की भीतरी शुद्धि

होने पर उस २ साधन की साक्षात् प्रधानता ही जानो अर्थात् धर्म विषय में क्षमादि न प्रधान और परम्परा से तो जलों द्वारा स्नान किये मनुष्य का मन ग्लानि रहित प्रसन्न होता ही है प्रसन्नता और शुद्धि एक ही है अभिप्रायार्थ में कोई भेद नहीं और क्षमादि द्वारा जानकारी आदि की शुद्धि तथा जलादि से शरीरादि की शुद्धि करना दोनों की शुद्धि मिलकर पूर्ण धर्म हो जाता है। क्योंकि कोई मनुष्य कुछ अधर्म का आचरण करता हुआ बाहर भीतर से शुद्ध नहीं होता और न अशुद्ध मलिन रहता हुआ ठीक धर्माचरण कर सकता है। किसी निकटवर्ती के मरने पर उस के सम्बन्धियों को ग्लानि, शोक होना उन का रोना, दुःख मानना सब पापों के अन्तर्गत है उस ग्लानि आदि को छुड़ाने के लिये जो उपाय है वह शुद्धि, पुण्य वा धर्म है इस प्रकार उस धर्माधर्म की यहां शिक्षा करना उचित ही है ॥ ११० ॥

तैजसानां मणीनांच सर्वस्याश्ममयस्यच।
भस्मनाद्भिर्मृदाचैव शुद्धिरुक्तामनीषिभिः॥
निर्लेपंकाञ्चनंभाण्ड-मद्भिरेवविशुध्यति।
अब्जमश्ममयंचैव राजतंचानुपस्कृतम्॥
अपामग्नेश्चसंयोगा-द्धैमं रौप्यंचनिर्बभौ।
तस्मात्तयोःस्वयोन्यैव निर्णेकोगुणवत्तरः॥
ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणःसीसकस्यच।
शौचंयथार्हंकर्त्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः॥
द्रवाणांचैवसर्वेषां शुद्धिरुत्पवनंस्मृतम्॥
प्रोक्षणंसंहतानांच दारवाणांचतक्षणम्॥
मार्जनंयज्ञपात्राणां पाणिनायज्ञकर्मणि।
चमसानांग्रहाणांच शुद्धिःप्रक्षालनेनतु॥

चरूणांस्रुक्स्रुवाणांच शुद्धिरुष्णेनवारिणा ।
स्फ्यशूर्पशकटानांच मुसलोलूखलस्यच॥११७॥

भ्र०-यान्यग्निवायुसंयोगेन ध्मायमानानि द्रवीभवन्ति तानि सुवर्णरजतादिद्रव्याणि तैजसानि तन्निर्मितपात्रादीनाम्-मरकतादिमणीनां सर्वस्याश्ममयस्य कुण्डकापट्टादि पात्रस्य च भस्मना शुच्यामृदा वाऽद्भिश्च मनीषिभिः पण्डितैः शुद्धिरुक्ता । यत्राशुद्धमुच्छिष्टं वा वस्तु न लिप्यते तादृशं सौवर्णं पात्रं शुष्कमलिनेन स्पृष्टं केवलाभिरद्भिरेव विशुध्यति। अब्जं शङ्खादिकमश्ममयं विशिष्टस्निग्धपाषाणनिर्मितं यद्रेखादिचित्रक्रियया गुणान्तरापत्तिं न नीतं तादृशं स्निग्धं राजतं पात्रं केवलेन मृद्विहीनजलेनैव शुध्यति । अपामग्नेश्च संयोगात्सुवर्णं रजतं च द्रव्यमुत्पन्नं तस्मात्तयोः स्वकारणाभ्यामेव शोधनमुत्तमम् । ताम्रलोहकांस्यपित्तलधातुजन्यपात्राणां त्रपुणो रङ्गस्य सीसकस्य च पात्रादीनां क्षाराम्लोदकवारिभिर्यथार्हं शौचं कर्त्तव्यम् । येन यस्य मलापगमः सम्भवति तेन तस्य शौचं कर्त्तव्यमिति यथार्हपदार्थः । ताम्ररैत्यव्यतिरिक्तपात्राणां क्षारसहितेन वारिणा ताम्ररैत्ययोस्त्वम्लोदकेनेति । सर्वेषां द्रवाणां पदार्थानामुत्पवनमुत्कर्षेण पवनं शुद्धिः स्मृताऽभिमता । तच्चोत्पवनं क्वचिदपवित्रभागं निस्सार्य प्रक्षेपेण क्वचिदतिपवित्रकुशकर्पूरादिद्रव्यसंसर्गेण क्वचिद्वस्त्रेण पावनं क्वचिच्चाग्नौ विशेषतः प्रतपनादिना सम्भवति । संहतानां स्यूतानां म-

हतां मध्यानामल्पानां च शय्यादिवाससां जलेन यथायो प्रोक्षणं प्रक्षालनं च, दारवाणां दारुजन्यपात्रादीनाममेध्य लग्नभागस्य तक्षणम् । यज्ञकर्मणि यज्ञपात्राणां पाणि पूर्वं मार्जनं मलापगमकर्म कृत्वा पश्चात्प्रक्षालनेन शोधनं कार्यं चमसानां ग्रहाणां च केवलेन प्रक्षालनेनैव शुद्धिः का र्या । चरूणां चरुस्थाल्यादीनां स्रुक्स्रुवाणां च स्फ्यशूर्पश कटानां च मुसलोलूखलस्य चोष्णेन वारिणा शुद्धिः कार्या

भा०—तत्तद्वस्तुलग्नामेध्यापगमो यैर्यैरुपायैः सम्भवति ते चात्रोपायाः साधुतया तत्त्वदर्शिभिरवधारिताएवोच्यन्ते तत्र च विवादमकृत्वाऽनुभवेन शास्त्रस्य सत्यत्वमवगन्त व्यम् । कुत्रचित्क्रियमाणेऽपि तथैव फलं न दृश्येत तदा प्याप्तवाक्यानां धर्मशास्त्राणामविश्वासो नैव कार्यः । यतः स्वस्मिन् स्वस्य कर्मणि साधनेषु वा वैगुण्यं सम्भवति । यथा ऽन्यस्य भ्रान्तिसम्भवस्तथा स्वस्यापि तत्र विशेषहेतुमन्त रेण न केनापि शास्त्रस्यैवाविश्वासः कर्त्तुं युक्तोऽपितु शा स्त्रकृदपेक्षया स्वबुद्धेरल्पत्वात्स्वस्यैव दोषः सम्भावनीयः तस्माद्धर्मतत्त्वविज्ञानाय सदैव शास्त्रमन्वीक्षणीयं या च तर्कादिसहिता मतिः शास्त्रखण्डनाय प्रवर्त्यते सैव शास्त्रो क्तविषयव्यवस्थापनायोद्योज्या । तस्माद्यथोक्तामेव शुद्धि मन्वीक्षणेन सम्यग्ज्ञात्वा तस्यतस्य पदार्थस्य तथैव शु द्धिः कर्त्तव्या तेन च धर्मो वर्धते । प्रायेण सर्वएव पदा र्था लोकेष्वग्नीषोमीया दृश्यन्ते । सर्वं च वस्तु यत उत्पद्यते तदेव स्वकारणम्प्राप्य शुद्धं जायते । यथा पार्थिवमोषधि

फलं गोधूमाद्यन्नं मनुष्यभक्षितमशुद्धं मलं सत्स्वकारणपृथिवीरूपं सच्छुद्धं जायत एवं क्षारभस्माद्याग्नेयेनाबादिना सौम्येन वा कारणेन सर्वकार्यवस्तूनाममेध्यानां शुद्धिः ११०

भावार्थः—(तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च) जो अग्नि में धर के अधिक धोंकने से पिघल जाते हैं वे सुवर्ण चान्दी आदि द्रव्य तैजस कहाते हैं उन सुवर्णादि के पात्रों, मरकतादि नामक मणियों और पत्थर से बने सब कूंडी पट्टा आदि वर्त्तनों की (शुद्धिर्भस्मनाद्भिर्मृदा चैव मनीषिभिरुक्ता) शुद्धि ब्रह्मर्षि विद्वानों ने राख मट्टी और जल के द्वारा मांजने धोने से कही है अर्थात् किन्हीं की मट्टी और जल दो से होती है (निर्लेपं काञ्चनं भाण्डम्) जिस में जूठन वा अशुद्धि प्रसिद्ध में न लगी दीखती हो किन्तु सूखे अशुद्ध वस्तु से स्पर्शमात्र हो गया हो ऐसा सुवर्ण का पात्र (अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम्) अब्ज नाम शङ्खादि, चिकने सिंहमर्मर आदि बहुमूल्य पत्थर के उत्तम पात्र जिन में मलिनता भीतर घुसती नहीं और जिन में किसी प्रकार की रेखा [नकाशी] न की गयी हो ऐसे चांदी के पात्र (अद्भिरेव विशुध्यति) केवल जल से धोने पर शुद्ध हो जाते हैं (अपामग्नेश्च संयोगाद्धैमं रौप्यं च निर्बभौ) सुवर्ण और चांदी दोनों अग्नि तथा जल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं इसी कारण उन का रूप दर्शनीय उत्तम है और इसी से अग्नि में धोंके जाने पर पिघलते भी हैं। उन में से सुवर्ण में अग्नि प्रधान और जल गौण है तथा चांदी में जल प्रधान तथा अग्नि गौण है इसी कारण अग्नि कासा चमकीला रंग सुवर्ण में और शुद्ध जल से मिलता हुआ रूप चान्दी में है (तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः) तिस से उन दोनों की शुद्ध अग्नि में तपा के जल से धोना अपने दोनों कारणों से ही करना उत्तम है [प्रत्येक पदार्थ अपने कारण में पहुंच कर ठीक शुद्ध दशा में आजाता है। इसी से अन्यत्र हुए विषमता रूप रोग जन्मस्थान में पहुंचने पर छूट जाते वह शुद्ध ठीक समदशा में आ जाता है] (ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च) तामा, लोहा, कांसा, रांगा, और सीसा के पात्रादि की (क्षाराम्लोदकवारिभिर्यथार्हं शौचं कर्त्तव्यम्) खारे वस्तु से मिले जल से, खटाई मिले जल वा केवल जल से यथायोग्य शुद्धि करनी चाहिये अर्थात् जिस से जिस की मलिनता दूर होनी सम्भव हो उस से

उस की शुद्धि करे जैसे तामे और पीतल के पात्रों की खट्टे जल से और भस्मे की खारी जल से वा केवल जल से शुद्धि करे (सर्वेषां द्रवाणां चैव शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम्) सब गीले ढरकने योग्य घी तेलादि पदार्थों की शुद्धि उत्कृष्टता से पवित्र करना ऋषिलोगों ने मानी है सो उत्कृष्ट शुद्धि कहीं अशुद्ध भाग को निकाल देने से, कहीं अति पवित्र कुश और कपूर आदि पदार्थों के संयोग से, कहीं वस्त्र द्वारा छान लेने से और कहीं विशेष कर अग्नि में तपाने खौलाने से होती है (संहतानां च प्रोक्षणम्) बहुत टुकड़े मिलाकर बनाये बिछौना तम्बू आदि की शुद्धि सींच देने वा छोटे हों तो पछार के धो डालने से होती (दारवाणां च तक्षणम्) और काष्ठ लकड़ी के पात्रों की शुद्धि अशुद्धभाग के छील डालने से (यज्ञकर्मणि यज्ञपात्राणां पाणिना मार्जनम्) यज्ञ कर्म होते समय यज्ञपात्रों को हाथ से झाड़ पोंछ शुद्ध कर धो लेने से (चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु) घी आदि को भर लेने के चमसा और चिमटा वा संड़सी आदि की शुद्धि केवल प्रक्षालन धोने से करनी चाहिये (चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा) चरुस्थाली आदि, स्रुच्, स्रुव, (स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च) काष्ठ का खड्ग, सूप, गाड़ी,—ठेला, मूसल और उलूखल इन सब यज्ञ सम्बन्धी वस्तुओं की शुद्धि गर्म जल से होनी चाहिये ॥

भा०—उस २ वस्तु में लगी अपवित्रता जिन २ उपायों से निवृत्त हो सकती वे उपाय तत्त्वदर्शियों के निश्चय किये यहां कहे गये हैं। उस में विवाद न करके लिखित रीतियों को कर २ देखे तो शास्त्र की सत्यता ठीक ज्ञात होगी। कहीं करने पर भी लिखे अनुसार फल हुआ न दीखे तो भी धर्मशास्त्रकार आप्त वाक्यों का अविश्वास नहीं करना चाहिये क्योंकि अपने में अपने काम में वा अपने साधनों में न्यूनता हो सकती है, जिस से वह ठीक हुआ ही न हो तो शास्त्र को दोष देना पाप होगा। जैसे अन्य के लेख वा उपदेश में भ्रान्ति हो सकती है वैसे अपने में भी दोष हो सकते हैं। वहां विशेष कारण के बिना किसी को शास्त्र का ही अविश्वास नहीं कर लेना चाहिये किन्तु शास्त्रकार की अपेक्षा अपनी बुद्धि अल्प होने से अपना ही दोष होना सम्भव माने। इस कारण धर्म का तत्त्व जानने के लिये शास्त्र का सदा ही आन्दोलन करना उचित है और जो तर्कादि सहित बुद्धि शास्त्रीय विचार का निरादर करने में लगायी जाती वही शास्त्रोक्त विषय की व्यवस्था करने सत्य ठहराने में लगानी चा-

लिये। तिस से आन्दोलन द्वारा कहे अनुसार शुद्धि को ठीक जान कर उस २ पदार्थ की वैसी ही शुद्धि करे इस से धर्म बढ़ता है। प्रायः संसार के सभी पदार्थ अग्नि और सोम दो तत्वों की अधिकता वाले दीखते हैं। और सभी वस्तु जिस से उत्पन्न होता उसी अपने कारण को पाकर शुद्ध होता है। जैसे पार्थिव ओषधियों का फल गेंहूं आदि अन्न मनुष्य के खाने से अशुद्ध मलरूप हुआ अपने कारण पृथिवी में मिल कर शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार खार भस्मादि आग्नेय और जलादि सौम्य दोनों प्रकार के उन २ वस्तुओं के कारण पदार्थों से सब अशुद्ध हुए कार्य पदार्थों की शुद्धि होती है ॥ ११६ ॥

अद्भिस्तुप्रोक्षणंशौचं बहूनांधान्यवाससाम्।
प्रक्षालनेनत्वल्पाना-मद्भिःशौचंविधीयते ॥

[अयहकृतशौचानांतु वायसीशुद्धिरिष्यते।
पर्युक्षणाद्धूपनाद्वा मलिनामतिधावनात् ॥]

चैलवच्चचर्मणांशुद्धि-र्वैदलानांतथैवच।
शाकमूलफलानांच धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥
कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः।
श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणांगौरसर्षपैः ॥
क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणा-मस्थिदन्तमयस्यच।
शुद्धिर्विजानताकार्या गोमूत्रेणोदकेनवा ॥
प्रोक्षणात्तृणकाष्ठंच पलालंचैवशुध्यति।
मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनःपाकेनमृन्मयम् ॥
मद्यैर्मूत्रैःपुरीषैर्वा ष्ठीवनैःपूयशोणितैः।
संस्पृष्टंनैवशुध्येत पुनःपाकेनमृन्मयम् ॥

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेनच ।
गवांचपरिवासेन भूमिःशुध्यतिपञ्चभिः ॥
पक्षिजग्धंगवाघ्रात-मवधूतमवक्षुतम् ।
दूषितंकेशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेणशुध्यति ॥
यावन्नापैत्यमेध्याक्ता-द्गन्धोलेपश्चतत्कृतः ।
तावन्मृद्वारिचादेयं सर्वासुद्रव्यशुद्धिषु ॥१२६॥

अ०—बहूनां धान्यवाससामद्भिः प्रोक्षणं सेचनमल्पानां त्वद्भिः प्रक्षालनेन शौचं विधीयते। अस्याग्र एकं पद्यं पश्चात् क्षिप्तमुपलभ्यते तस्यार्थः प्राक्तेऽवलोक्यः। चर्मनिर्मितपदार्थानां वंशवेत्रादिनिर्मितवैदलानां च चैलवद् बहूनां प्रोक्षणमल्पानां च प्रक्षालनम्। शाकमूलफलानामल्पानां बहूनां चोक्तधान्यवच्छुद्धिरिष्यते। कौशेयाविकवाससामूषैः क्षारमृत्तिकाभिः कुतपानां पर्वतीयकम्बलानामासनानामरिष्टफलैरंशुपट्टानां वल्कलविशेषनिर्मितानां वसनानां श्रीफलैर्विल्वफलैः क्षौमाणामतसीसूत्रनिर्मितवाससां पिष्टैर्गौरसर्षपैः शुद्धिरिष्टा। शङ्खानां शृङ्गनिर्मितवस्तूनामस्थिदन्तमयस्य च वस्तुनः क्षौमवद्गौरसर्षपकल्कमिश्रितगोमूत्रेण तदभावे तन्मिश्रितजलेन वा विजानता शुद्धिः कार्या तृणं काष्ठं पलालं चैवालिप्तं प्रोक्षणात्सेचनादेव शुध्यति। लिप्तकाष्ठस्य तक्षणं लिप्ततृणपलालयोस्तु परित्यागएव। मार्जन्या मार्जनेनोपाञ्जनेन लेपनादिना च वेश्म शुध्यति। मृ-

न्मयं च पात्रादिकं सर्वं पुनःपाकेन शुध्यति। मद्यमूत्रपुरीषष्ठीवनपूयशोणितैः सम्यग्लिप्तं मृन्मयं पुनःपाकेनापि न शुध्यतीति। संमार्जनादिपञ्चभिरुपायैर्भूमिः शुध्यति। पक्वान्नं पक्षिभिर्जग्धं गवा समीपत आघ्रातमवधूतमशुद्धवस्त्रादिवातेनोपहतमवक्षुतं यस्योपरि छिक्का कृता पतितैः केशकीटैश्च दूषितं मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति तदन्नस्य दूषितभागमादाय मृदि प्रक्षिपेत्तदावशिष्टं शुद्धं मन्तव्यम्। तथादूषितपक्वान्ने मृदः प्रक्षेपेणानन्तरं प्रोक्षणेन च शुध्यतीत्यन्ये मन्यन्ते तच्चिन्त्यम्। अमेध्याक्ताद्यावत्तत्कृतो गन्धो लेपश्च नापैति तावत्सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु मृद्वारि चादेयम् ॥

भा०—बहूनां राशिभूतानां धान्यवाससां प्रक्षालनमसंभवमतिकष्टसाध्यं वा तस्मात् किंचिज्जलेन सेचनमेव तत्र शुद्धिरल्पानां तु प्रक्षालनं सम्भवमेव। यथा महति जलाशये पतितं किंचिदपवित्रं तस्य पवित्रताविघातकं न भवत्यतएव तज्जलपानादौ ग्लानिर्नोत्पद्यते तावदेवाशुद्धं वस्तु पात्रस्थेऽल्पजले पतितं तस्य स्पष्टतयैवापवित्रतां जनयति तद्वदत्रापि महति धान्यादिराशावल्पे च पवित्रत्वापवित्रत्वयोर्भेदोऽवगन्तव्यः। यथाचाल्पमिष्टपातेनाल्पं मिष्टत्वं सम्पद्यतेऽतएव विशिष्टशर्करासंसर्गेणाधिकमपि मिष्टत्वं जायते। तथैव शोधकं पावनमुदकमल्पाशुद्धौ सेचनमात्रेणापि शोधकं जायते। यथा चामगृहस्य मार्जनोपाञ्जनेनैव शुद्धिरुचिता चूर्णलिप्तस्य च प्रक्षालनेन मार्जनेन च तथैव कौशेयादिवाससां क्षारमृत्तिकादिनैवोचिता शुद्धिर्बोध्या। म-

द्यस्य च मलमूत्रादिना सर्वथा साम्यमेवास्ति । अतएवोक्तं -सुरा वै मलमन्नानामिति । तच्च मद्यमूत्रपुरीषादिकमुत्कटदुर्गन्धं सत्सद्यएव मृत्पात्रस्याल्पांशेष्वपि प्रविशति यत्पुनःपाकेनापि सर्वथा नैव निस्सरति । यथा च सर्वधातुसूक्ष्मांशेष्वपि व्याप्तो रोगोऽसाध्यो जायत औषधैरपि नैव निवर्त्तते तथैव मद्यं यस्य देहे व्याप्तं नासौ प्रायश्चित्तैरपि शुध्यत्यसाध्यत्वादतएवोक्तमग्निवर्णां सुरां पिबेत् । प्रायश्चित्तविधानं त्वकृतप्रायश्चित्तापेक्षया कथमपि शुद्धिविज्ञापनार्थम् । प्रोक्षणं प्रक्षालनं मार्जनमुपाञ्जनमुल्लेखनं पचनादिकं च शुद्धिहेतुकं कर्मापवित्रतातारतम्यमवलोक्य सकृदसकृद्वा यावन्न तच्छुध्येत्तावदेव धीमताऽनुष्ठेयमेतदेव युक्तं नतु सकृदेवेति ॥ १२६ ॥

भाषार्थः—(बहूनां धान्यवाससामद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचम्) अन्न और वस्त्र के बड़े ढेर की शुद्धि जल से सेचन करने मात्र से होती (अल्पानां त्वद्भिः प्रक्षालनेन शौचं विधीयते) तथा बड़े ढेर के कई भिन्न २ छोटे २ भागों में लगी वा थोड़े अन्न वस्त्रों में लगी अशुद्धि पछारने धोने फींचने से शुद्ध होती है इस ११८ श्लोक से आगे एक श्लोक पीछे मिलाया कहीं मिलता है उस का अर्थ- [तीन दिन में जिन बालकों के मरण में शुद्धि कही है उन की अवस्था जितने वर्ष की हो उतने दिन गमी माने और उस के सम्बन्धी मलिन वस्त्रादि में से किन्हीं की अधिक सींचने से किन्हीं की धूप देने से और किन्हीं की शुद्धि अत्यन्त धोने से हो सकती है] यह श्लोक मृतक शुद्धि से कुछ सम्बन्ध रखता है पर इस द्रव्य शुद्धि के प्रकरण में सर्वथा ही असम्बद्ध है (चर्मणां तथैव च वैदलानां चैलवच्छुद्धिः) चाम से बने और वांस वेंत आदि से बने पात्र और पदार्थों की शुद्धि वस्त्रों के तुल्य बहुत हों तो सींच देने से और थोड़े में अशुद्धि लगी हो तो पछारने वा धोने द्वारा करे (शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते) शाक, मूल, तथा फलों की अधिक राशि हों तो सींचने द्वारा

तथा थोड़े हों तो धोने द्वारा शुद्धि करे [यहां धान्यवत् शुद्धि कहने से ग्रन्थकार का यह भी आशय है कि जिस२ अन्य प्रकार से भी धान्य की शुद्धि होती हो सकती है उस न कहों भी रीति से शाकादि की शुद्धि कर लेनी चाहिये] (कौशेयाविकयोरूषैः) रेशमी और दुसाला धुस्सा, लोई आदि ऊनी वस्त्रों की शुद्धि खारी मट्टी रेव आदि से (कुतपानामरिष्टकैः) पहाड़ी उत्तर देशीय आसनों वा कम्बलों की रीठों से (अंशुपट्टानां श्रीफलैः) वृक्ष के वक्कल से बने वस्त्रों की विल्वफलों से (क्षौमाणां गौरसर्षपैः) मुकटा पीताम्बरों की शुद्धि पीली सरसों से करनी चाहिये (शङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्यच) शङ्ख तथा सीपी, तथा हरिणादि के सींग से बने और हाथी दांत से बने पदार्थों की (विजानता क्षौमवद् गोमूत्रेणोदकेन वा शुद्धिः कार्या) शुद्धि समझदार मनुष्य को श्वेत सरसों के जल में मिलाये गोमूत्र से वा गोमूत्र के न मिलने पर केवल सरसों मिले जल से ही शुद्धि करलेनी चाहिये (तृणकाष्ठं पलालं चैव प्रोक्षणाच्छुध्यति) कुशासन वा चौकी तखत आदि और प्यार का विछोना सींचने से शुद्ध होता, विशेष सींचना ही धोना भी कहा जायगा किन्तु पछारना नहीं होगा (मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म) झारने बुहारने लीपने और पोतने से घर शुद्ध होता और (पुनःपाकेन मृन्मयम्) फिर कर अग्नि में पकालेने से मट्टी के पात्र घड़ादि शुद्ध हो जाते (मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः) मद्य-मदिरा, मूत्र, विष्ठा, थूक-कफादि, पीव और रुधिर इन सब से अच्छे प्रकार लिप्त हुआ वा जिस में मदिरादि भरे रहे हों ऐसा (संस्पृष्टं मृन्मयं पुनःपाकेन नैव शुध्येत) मट्टी का पात्र घड़ादि फिर पकाने पर भी शुद्ध नहीं होता (संमार्जनोपाञ्जनेन) सम्यक् झारने बुहारने, लीपने पोतने से (सेकेनोल्लेखनेन च) सींचने, गोड़ने वा खोद डालने (च) और (गवां परिवासेन) गौओं के विशेष कर बहुत दिनों तक रहने से (पञ्चभिर्भूमिः शुध्यति) उक्त पांच उपायों से पृथिवी शुद्ध होती है (पक्षिजग्धं गवाघ्रातमवधूतमवक्षुतम्) जिन पकाये हुए रोटी आदि अन्न में से किसी पक्षी ने खोंट खाया हो, जिस को गौ आदि पशु ने समीप से सूंघा हो, अशुद्ध वस्त्रादि का वायु जिस में लगा हो और जिस के ऊपर किसी ने छींक दिया हो (केशकीटैश्च दूषितम्) और कोई कीड़ा वा वाल जिस में पड़ गया हो तो (मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति) उस दूषित पक्वान्न के ऊपरी दूषित भाग को लेकर मट्टी में फेंक देने से शेष भाग शुद्ध हो जाता है । दूषित पक्वान्न में थोड़ी मट्टी

डाल कर धोने से शुद्ध होता यह अन्य लोग मानते हैं सो चिन्तनीय इस का रण है कि पक्वान्न में मट्टी डालने से किसक जायगा पानी से धोने पर भी ठी न होगा और अधिक अभक्ष्य हो जायगा (अमेध्याक्तास्तत्कृतो गन्धो लेपो यावन्नापैति) अशुद्ध मल मूत्रादि का दुर्गन्ध वा साक्षात् लगा मलादि जब तक उस वस्तु से सर्वथा न छूट जावे (सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु तावन्मृद्वारि चादेयम्) द्रव्यों सम्बन्धी सब शुद्धियों में तब पर्यन्त मट्टी और जल से उस २ अशुद्ध श रीर वा वस्त्रादि को धोते रहना चाहिये ॥

भा०—ढेर लगे हुए गेंहू जौ आदि धान्य और वस्त्रों का धोना सुखाना अति कष्टसाध्य वा असम्भव है तिस से थोड़ा जल छिड़क देना ही वहां शुद्धि मा नी जायगी । और थोड़े धान्य तथा वस्त्रों का तो धोना सम्भव ही है । जो किसी नदी वा तालाव आदि जलाशय में गिरा थोड़ा मल मूत्रादि वस्तु उस ज ल की पवित्रता का बिगाड़ने वाला नहीं होता इसी कारण उस के जल पीने आदि में किसी को ग्लानि भी नहीं होती । और उतना ही अपवित्र मल मू त्रादि घड़ादि पात्रस्थ थोड़े जल में गिरा हो तो वह जल स्पष्ट ही निर्वि कल्प अशुद्ध मान लिया जायगा । वैसे यहां भी धान्यादि के बड़े ढेर में थोड़ी अशुद्धि प्रधान वा प्रबल समुदायस्थ शुद्धि को बिगाड़ नहीं पाती और पात्रादि स्थ जल की शुद्धि को वही अशुद्धि दवा लेती नष्ट करदेती है यह बलाबल भेद विचारसाध्य है । जैसे थोड़ा मीठा डालने से जलादि थोड़ा मिष्ट होता और अधिक शक्कर डालने से अधिक मीठा जलादि होता है वैसे ही शोधने से स्वयं पवित्र जल थोड़ी अशुद्धि में सींचने मात्र से भी शुद्धि करने वाला होता है जैसे कच्चे घर की झाड़ने और लीपने पोतने ही द्वारा शुद्धि करना उचित है परन्तु पक्की चूना की गच को झाड़ने वुहारने और धोने से शुद्धि हो सकती है । वैसे ही रेशमी वस्त्रादि की रेव आदि से ही शुद्धि करना उचित है । और मद्य तो मल मूत्रादि के सर्वथा समान ही है इसी लिये मनु जी ने लिखा है कि "सुरा ही अन्नों का मल है" वह मल मूत्र मद्यादि प्रबल दुर्गन्ध वाला होने से शीघ्र ही घटादि मृत्पात्र के सूक्ष्मांशों में भी प्रवेश करता है कि जो फि र से पकाने पर भी सर्वथा उस से निकलता नहीं । जैसे सब धातुओं के सूक्ष्मां शों में भी व्याप्त हुआ रोग असाध्य होता है जो अच्छे प्रबल औषधों से भी निवृत्त नहीं होता वैसे ही मद्य जिस के शरीर में ठीक रोम २ में व्याप्त हो०

या वह असाध्य होने से प्रायश्चित्तों द्वारा भी शुद्ध नहीं होता इसी लिये मनु जी ने सुरापान का प्रायश्चित्त लिखा है कि "अग्निवर्ण अत्युष्ण सुरा पीके प्राण त्याग करे" और सुरापान के अन्य प्रायश्चित्त कहना कुछ भी प्रायश्चित्त न करने वालों की अपेक्षा कुछ शुद्धि होना जताने के लिये है। सींचना, पछारना—धोना, बुहारना, लीपना पोतना खोदना और पकाना आदि शुद्धि हेतु कर्म अपवित्रता की न्यूनाधिकता वा बलाबल देख कर एक वार वा वार २ जब तक वह शुद्ध न हो तभी तक बुद्धिमान् को करना चाहिये यही ठीक है किन्तु एकही वार वा अनेक ही वार करना नियत न समझे ॥ १२६ ॥

त्रीणिदेवाःपवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन्।
अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्चवाचाप्रशस्यते ॥
आपःशुद्धाभूमिगता वैतृष्ण्यंयासुगोर्भवेत्।
अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः॥
नित्यंशुद्धःकारुहस्तः पण्येयच्चप्रसारितम्।
ब्रह्मचारिगतंभैक्ष्यं नित्यंमेध्यमितिस्थितिः ॥
नित्यमास्यंशुचिस्त्रीणां शकुनिःफलपातने।
प्रस्रवेचशुचिर्वत्सः श्वामृगग्रहणेशुचिः ॥

[श्वभिर्हतस्ययन्मांसं शुचितन्मनुरब्रवीत्।
क्रव्याद्भिश्चहतस्यान्यैश्चाण्डालाद्यैश्चदस्युभिः ॥१३१॥
शुचिरग्निःशुचिर्वायुः प्रवृत्तोहिबहिश्चरः।
जलंशुचिविविक्तस्थं पन्थासंचरणेशुचिः ॥]

अ०—देवास्त्यक्तासुरसम्पर्काः परीक्षककोटिस्थाः शुद्धा आप्ता जना ब्राह्मणानां त्रीणि पवित्राणि निश्चित्य समर्थितवन्तः। सूक्ष्मं शुष्कविष्ठादिवस्तुसंसर्गाददृष्टं लग्नम-

शौचं स्थूलपवित्रवस्तुसंसर्गदोषस्तु दुर्गन्धाद्याधिक्येन स्पष्टमेव प्रतीयते न तच्छुद्धम्,अद्भिः प्रक्षालनादिना यच्छुद्धं कृतं यच्च शुद्धमिदमिति बहुभिः प्रधानैराप्तैर्वा वाचा प्रशस्यते ग्राह्यमिदमदोषमिति। यासु पीयमानासु गोर्वैतृष्ण्यं भवेत्तावत्प्रमाणावधि शुद्धभूमिस्थिताअमेध्येनचेदव्याप्ताः शुभगन्धादिमत्यश्चापः शुद्धाः। शिल्पकार्ये जात्याऽधमस्यापि कारोर्हस्तो नित्यं शुद्धः। अमेध्यविष्ठादिलग्नो हस्तोऽपि शिल्पिनः शुद्धइति प्रयोजनमत्र नास्ति। जलपानाद्यर्थोऽपि कारुहस्तस्य शुद्धिर्विवक्षिता नास्ति किन्तु यत्तेन सम्पाद्यते वस्त्रादिकं वा सीव्यते तच्छुचि ग्राह्यं धार्यम्। अतिशूद्रेणापि पराये यद्विक्रेतुं प्रसारितं तच्छुचि बहुक्रेतृपाणिस्पर्शेनापि दूषितं न भवति। ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यमपवित्रमार्गेण नीतमपि शुद्धमेव। स्त्रीणामास्यं नित्यं शुचि सोमतत्त्वाधिक्यात्। मध्येऽगण्डूषादिकमन्तरेण पुरुषाणां यावद्यादृशं चास्यमशुचि संपद्यते न तादृशं वामानां प्राकृतशौचसत्त्वादतः पुरुषापेक्षया शुचित्वमत्र विवक्षितम्। शकुनेः काकादेश्चास्यं फलपातने शुचि तस्मादेव काकाद्युच्छिष्टमप्याम्रादिफलं लोके भक्ष्यमभिमतम्। प्रस्रवे गोदोहकाले स्तन्यपाने वत्सस्यास्यं शुचि तेनाप्रक्षालितस्तनेभ्योऽपि दुग्धनिस्सारणं नानुचितम्। मृगस्य मृग्यस्य वस्तुनो ग्रहणे श्वा शुनो मुखं शुचि नान्यत्र। श्वभिर्हतस्य पश्वादेर्यन्मांसं तच्छुचि मनुरब्रवीत्। क्रव्याद्भिश्चान्यैश्चण्डालादिभिर्दस्युभिश्च हतस्य च। इदं च पद्यं पश्चात् क्षिप्तं वर्त्तते

मांसं रक्ताद्दुत्पद्यते । रसाद्रक्तं ततो मांसमिति वचनात् ।
रक्तं च १२३ पद्यानुकूलं मूत्रादिवदेवाशुद्धं यत्संस्पृष्टं मृन्मयं
पुनःपाकेनापि न शुध्यति तज्जन्यं मांसं मूलादेवापवित्रं
स्वाद्यपवित्रसंयोगेनाधिकमशुद्धं मन्तव्यं स्यादतश्चिन्त्यम् ॥

भा०—अदृष्टमपवित्रत्वं जायमानं मनोग्लानिकरं न
जायते । वाचा प्रशस्ते मनोऽप्युत्सहते कारुपदेन मोदक-
पिण्डादिनिर्मातॄणां ग्रहणं नास्त्यतः काष्ठादिकार्यवस्तुषु शि-
ल्पिहस्तगताशुद्धिरपि पवित्रकाष्ठादिपदार्थानां बाहुल्येन
शुद्धा जायते मन्यते वा । एवं पण्यप्रसारणादिमध्येऽपि बोध्यम् ।
ब्रह्मचारी स्वयं शुद्धस्तस्य संसर्गाद् भैक्ष्यमपि शुद्धमेवभव-
ति । अशुद्धेः प्राबल्याभावान्नाशुद्धम् । सति चाशुद्धिप्राबल्ये
भवत्येवाशुद्धम् । सोमो गौरीरधिश्रितः—इति पवमानसूक्तेषु
स्त्रीजात्या सह पवमानसोमस्य कारणसम्बन्धः प्रदर्शितः ।
तत्रापि मुखे कारणप्राधान्यमतएव स्त्रीणां मुखेन चन्द्र-
मस उपमानोपमेयभावः प्रसिद्धिं गतः । पवमानत्वं च वेदे
सर्वदेवापेक्षया सोमस्यैवाधिक्येन स्पष्टीकृतमतो मुखस्य
शुचित्वमुक्तं नतु चुम्बनाद्यर्थमित्येकदेशिकथनमादरणी-
यम् । बालादीनामपि मुखस्य स्नेहेन चुम्बनसत्त्वात् । फ-
लपातने शकुनिचञ्चुप्रवेशः फलशुद्धौ हेतुर्नास्त्यपितु फले
प्राकृता स्वांशे प्रबला च शुद्धिश्चञ्चुप्रवेशेन नैव व्याहन्यते
अतएव पक्वरोटिकादौ सएव चञ्चुप्रवेशोऽशुचित्वप्रयोजको
जायते तत्र च संयोगेऽशुचित्वं व्यज्यते । रोटिकायां च
तादृशं शुद्धिप्राबल्यं नास्ति यच्चञ्चुसम्पर्केण न व्याहन्येत

शुनि स्वतः प्रकृत्याऽशुद्धेऽपि जाङ्गले शशादावन्यमृग्यवस्तुनि वा प्राकृता प्रबला च शुद्धिः श्वसम्पर्केण न व्याहन्यतेऽपितु शुद्धिकक्षायामेव मन्यतइति ग्रन्थकृदाशयो बोध्यः ॥१३१॥

भाषार्थः—(देवा ब्राह्मणानां त्रीणि पवित्राण्यकल्पयन्) आसुरी माया को छोड़ने वाले परीक्षक आप्त शुद्ध निर्दोष पुरुषों की कोटि में आये पूर्वज लोगों ने ब्राह्मणों के लिये तीन वस्तु पवित्र माने वा ठहराये हैं-(अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते) सूखा विष्ठादि जिस में छू गया पर किसी ने देखा न हो ऐसी सूक्ष्म लगी अशुद्धि, स्थूल अपवित्र विष्ठादि वस्तु के स्पर्श से हुआ दोष तो दुर्गन्धादि की अधिकता से स्पष्ट ही अशुद्ध जान पड़ता है, द्वितीय जल के द्वारा धोकर शुद्ध किया और तृतीय सत्यवादी प्रधान पुरुषों ने जिस की प्रशंसा वाणी से की हो कि यह शुद्ध निर्दोष ग्राह्य है (यासु गोर्वैतृष्ण्यं भवेत्) जिस के पीने से एक गौ तृप्त हो सके ऐसा (असेध्येन चेद्व्याप्ताः) मल मूत्रादि जिस में न पड़ा हो वा काई आदि न हो (गन्धवर्णरसान्विताः) अच्छा गन्ध देखने में स्वच्छ और पीने में स्वादिष्ट हो तो (भूमिगता आपः शुद्धाः) शुद्ध पृथिवी में भरा उतना थोड़ा तक जल शुद्ध माना जाता है । (कारुहस्तो नित्यं शुद्धः) जाति से अधम चर्मकारादि भी कारीगर का हाथ नित्य शुद्ध है। इस का यह अभिप्राय नहीं कि विष्ठादि अशुद्धि जिस में लगी हो ऐसा शिल्पी का हाथ भी शुद्ध माना जाय, वा जल पीने आदि के लिये भी शिल्पी के हाथ की शुद्धि कहना अभीष्ट नहीं किन्तु जो वस्तु वह बनाता वा जिन वस्त्रों को सींता है वह वस्त्रादि शुद्ध ग्राह्य धारण करने योग्य है (यच्च पण्ये प्रसारितम्) और जो वस्तु बेंचने के लिये दुकान पर किसी नीच मुसलमान आदि ने भी फैलाया हो वह शुद्ध है । बहुत खरीददारों के छूने पर भी दूषित नहीं होता (ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः) अपवित्रमार्ग से लेजाने पर वा ले जाते समय किसी के छूलेने पर भी ब्रह्मचारी के हाथ में पकड़ी हुई रोटी दाल भात पूरी आदि भिक्षा नित्य ही शुद्ध है । ब्रह्मचारी स्वयं स्वभाव से ही शुद्ध होता है इसी से उस के समीपस्थ भिक्षा भी अशुद्ध नहीं हो सकती (स्त्रीणामास्यं नित्यं शुचि) स्त्रियों का मुख सोमतत्त्व की अधिकता से नित्य शुद्ध है । बीच २ में कुल्ला करने धोने आदि विना पुरुषों का मुख जितना वा जैसा अशुद्ध होता

है वैसा प्राकृत शुद्धि होनेके कारण स्त्रियोंका मुख अशुद्ध नहीं होता इससे पुरुष की अपेक्षा स्त्री के मुख को पवित्र कहना ग्रन्थकार का अभीष्ट है (फलपातने शकुनिः) कौवा आदि पक्षी का मुख फल गिराने में पवित्र है । तिसी से कौआ आदि का जुठारा हुआ भी आम आदि फल लोक में भक्ष्य माना जाता है (प्रस्रवे च वत्सः शुचिः) गौ को दुहने के समय थन चोंखने में बछरा का मुख शुद्ध है इस कारण बछरा के चोंखनेपर विना धोये थनों से भी दूध निकालना अनुचित नहीं है (मृगग्रहणे श्वा शुचिः) खोजने योग्य वस्तु को मुख से पकड़ के कुत्ता उठालाया हो तो वह वस्तु कुत्ता के अशुद्ध होने से अपवित्र नहीं है । किन्तु अन्य खाने पीने आदि के वस्तु में कुत्ता मुख डाल दे तो वहां उस का मुख अशुद्ध ही माना जायगा । इस से सिद्ध है कि कुत्ते का मुख कहीं भी शुद्ध नहीं सर्वत्र ही अशुद्ध है कहीं तो कुत्ता के मुखस्पर्श से कोई वस्तु अपवित्र होजाता और कहीं नहीं होता (श्वभिर्हतस्य यन्मांसम्) कुत्तों से शिकार मारे हुए वनपश्वादि का जो मांस है (शुचि तन्मनुरब्रवीत्) उस को मनुजी ने शुचि पवित्र कहा है (क्रव्याद्भिश्चहतस्यान्यैश्चाण्डालादिभिर्दस्युभिर्हतस्यच) कीड़ा वा कच्चा मांस खाने वाले पक्षी आदि ने मारे और चाण्डालादि दस्युजाति के अति नीच मनुष्यों के मारे छुवे पश्वादि का मांस शुद्ध है । इसी के आगे (शुचिरग्निः) इत्यादि एक श्लोक पीछेसे किसी ने मिलाया है उस का अर्थ—नीच के घर का भी अग्नि शुद्ध है, वाहर भीतर सर्वत्र विचरने वाला वायु पवित्र है एकान्त स्थान में भरा जल शुद्ध और चलने मार्ग में शुद्ध है । इस से पहिला (श्वभिर्हतस्य०) इत्यादि श्लोक भी पीछे ही किसी ने मिलाया है । क्योंकि—रुधिर से मांस बनता अर्थात् रुधिर जम जाता और परिणाम बदल के मांस हो जाता यही आयुर्वेद सुश्रुत में लिखा है और इसी अ० के १२३ श्लोक में कहे अनुसार मूत्रादि के तुल्य ही रुधिर भी अशुद्ध है कि जिस रुधिर से छुवा हुआ मट्टी का घड़ा फिर से पकाने पर भी शुद्ध नहीं होता उस रुधिर से उत्पन्न हुआ मांस जड़ से ही अशुद्ध है वह कुत्ता के मुखादि के साथ मिलने से और भी अधिक अशुद्ध मानना चाहिये तव उस को शुद्ध कहना चिन्तनीय अवश्य है ॥

भा०—न देखी परोक्ष में हुई सूक्ष्म अवित्रता मन को ग्लानि नहीं करती । वाणी से जिस की प्रशंसा की जाती है उस को मन भी चाहता है । कारु कहने से लड्डू पेड़ा आदि बनाने वालों का ग्रहण न होगा । इस से स्वतःशुद्ध काष्ठादि के कार्य पदार्थों में शिल्पी के हाथ की अपवित्रता भी पवित्रका-

शुद्धि की अधिकता के साथ शुद्ध होती वा मानी जाती है। इसी प्रकार शु-
कान आदि में भी जानों। अर्थात् शिल्पक्रिया जिन में की जाती वा दुकान
में बेचने के लिये जो लगाये जाते हैं वे पदार्थ प्रायःस्वभाव से ही शुद्ध होते हैं
इसी से हाथ की अशुद्धि से अग्राह्य प्रायः नहीं हो पाते। ब्रह्मचारी स्वयं स्व-
भाव से शुद्ध है उस के साथ में भिक्षा भी शुद्ध ही रहती है। अर्थात् अशुद्धि
की प्रबलता न होने से भिक्षा अशुद्ध नहीं होती। और कहीं अशुद्धि की प्रब-
लता हो जाय तो भिक्षा भी अशुद्ध हो जायगी। ऋग्वेद के (सोमो गौरी०)
इत्यादि पवमान सूक्तस्थ मन्त्रों में स्त्री जाति के साथ पवमान सोम का कारणस-
म्बन्ध दिखाया है। वहां भी स्त्रियों के मुख में कारण सोम तत्त्व की प्रधानता
है इसी कारण स्त्रियों के मुख के साथ चन्द्रमा का उपमानोपमेय भाव सम्बन्ध
प्रसिद्ध हो रहा है। तथा अन्य सब देवताओं की अपेक्षा पवमानपन वेद में सोम में
ही अधिकता से स्पष्ट वर्णन किया है और सोम स्त्रीजाति के मुख में अधिक
रहता इसी से स्त्रियों के मुख को नित्य शुचि कहा है किन्तु चुम्बनादि के लिये मुख
की शुद्धि कल्पित दिखानी अभीष्ट नहीं यह एकदेशी विचार विशेष आदरणी-
य नहीं है। क्योंकि स्नेह पूर्वक बालकादि के मुख का चुम्बन किया जाता
है तब वहां शुचित्वकल्पना करनी पड़ेगी। फल गिराने में पक्षी का फल में चों-
च मारना फल के शुद्ध होने में हेतु नहीं किन्तु फल में जो स्वाभाविक और अ-
पने अंश में प्रबल शुद्धि है वह चञ्चु प्रवेश से नष्ट नहीं होती और जिस फल
को पक्षी ने जूठा करके नहीं गिराया उस की अपेक्षा वा उस की बराबर भी
पक्षी का गिराया फल शुद्ध नहीं किन्तु पक्षी की जुठारी रोटी आदि की अ-
पेक्षा फल भक्ष्य बना रहता है त्याज्य नहीं हो जाता यही आशय है। इसी
पकाई रोटी आदि में वही चञ्चु प्रवेश उस के अग्राह्य होने का कारण हो
जाता है। वहां संयोग में अशुद्धि प्रकट हो जाती है। फल के समान रोटी में
वैसी प्रबल शुद्धि नहीं है जो चोंच के संयोग से न विगड़े। कुत्ता स्वभाव से ही
अशुद्ध भी है पर वन के शशकादि जन्तु वा अन्य खोये हुए वस्तु में स्वाभाविक
प्रबल शुद्धि है वह कुत्ता का मुख लगजाने मात्र से विगड़ती नहीं वा उस शु-
द्धि से इतनी कम बाधापड़ती है जिस में वह वस्तु त्याज्य नहीं हो जाता प-
रन्तु वही वन का शुद्ध वस्तु कुत्ता के मुख से छुवे की अपेक्षा न छुवा अधिकशु-
द्ध माना जायगा। इत्यादि प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से ग्रन्थकार का आशय शोधना
चाहिये। शुद्धाशुद्धादि दिखानामात्र यहां विवक्षित है। मांस भक्षणादि का दो-
षादोष कहना प्रकरणान्तर का विषय जानो ॥ १३१ ॥

ऊर्ध्वंनाभेर्यानिखानि तानिमेध्यानिसर्वशः ।
यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैवमलाश्च्युताः
मक्षिकाविप्रुषश्छाया गौरश्वःसूर्यरश्मयः ।
रजोभूर्वायुरग्निश्च स्पर्शेमेध्यानिनिर्दिशेत् ॥
विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत् ।
दैहिकानांमलानांच शुद्धिषुद्वादशस्वपि ॥
वसाशुक्रमसृङ्मज्जा–मूत्रविड्घ्राणकर्णविट् ।
श्लेष्माश्रुदूषिकास्वेदो द्वादशैतेनृणांमलाः ॥
एकालिङ्गेगुदेतिस्र–स्तथैकत्रकरेदश ।
उभयोःसप्तदातव्या मृदःशुद्धिमभीप्सता ॥
एतच्छौचंगृहस्थानां द्विगुणंब्रह्मचारिणाम् ।
त्रिगुणंस्याद्वनस्थानां यतीनांतुचतुर्गुणम् ॥
कृत्वामूत्रंपुरीषंवा खान्याचान्तउपस्पृशेत् ।
वेदमध्येष्यमाणश्च–अन्नमश्नंश्चसर्वदा ॥
त्रिराचामेदपःपूर्वं द्विःप्रमृज्यात्ततोमुखम् ।
शारीरंशौचमिच्छन्हि,स्त्रीशूद्रस्तुसकृत्सकृत्॥
शूद्राणांमासिकंकार्यं वपनंन्यायवर्त्तिनाम् ।
वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टंचभोजनम्

नोच्छिष्टंकुर्वतेमुख्या विप्रुषोऽङ्गेपतन्तियाः।
नश्मश्रूणिगतान्यास्यं नदन्तान्तरधिष्ठितम्॥

[अजाश्वंमुखतोमेध्यं गावोमेध्याश्चपृष्ठतः।
ब्राह्मणाःपादतोमेध्याः स्त्रियोमेध्याश्चसर्वतः॥
गौरमेध्यामुखेप्रोक्ता अजामेध्यातत:स्मृता।
गोःपुरीषंचमूत्रंच मेध्यमित्यब्रवीन्मनुः॥]

स्पृशन्तिबिन्दवःपादौ यआचामयतःपरान्।
भौमिकैस्तेसमाज्ञेया नतैरप्रयतोभवेत्॥

[दन्तवदन्तलग्नेषु जिह्वास्पर्शेषुचेन्नतु।
परिच्युतेषुतत्स्थाना-न्निगिरन्नेवतच्छुचिः॥]

उच्छिष्टेनतुसंस्पृष्टो द्रव्यहस्तःकथंचन।
अनिधायैवतद्द्रव्य-माचान्तःशुचितामियात्।
वान्तोविरिक्तःस्नात्वातु घृतप्राशनमाचरेत्।
आचामेदेवभुक्त्वाऽन्नं स्नानंमैथुनिनःस्मृतम्॥

[अनृतौतुमृदाशौचं कार्यंमूत्रपुरीषवत्।
ऋतौतुगर्भशङ्कित्वा-त्स्नानंमैथुनिनःस्मृतम्॥]

सुप्त्वाक्षुत्वाचभुक्त्वाच निष्ठीव्योक्त्वानृतानिच। पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च-आचामेत्प्रयतोऽपिसन्॥ एषशौचविधिःकृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैवच। उक्तोवःसर्ववर्णानां स्त्रीणांधर्मान्निबोधत॥ १४६॥

भा०—यतो देहाधोभागस्थपायूपस्थाभ्यामेव मला विण्मूत्ररूपा मालिन्यप्रधानाः प्रकाराश्च्यवन्ते तस्मादेव नाभेरधस्थान्यङ्गान्यपवित्राणि सन्ति । मक्षिकादयोऽपवित्रेण सम्बद्धा अपि स्पर्शेऽपवित्रा नैव मन्तव्याः । सर्वाण्येतानि लघुत्वप्रधानानि वायव्यानि कानिचिदाग्नेयानीति मत्वा मेध्यानि मन्तव्यानि । सर्वमलापगमार्थं शुद्धिनिमित्तं मृद्वारि—-अर्थवत्प्रयोजनवदादेयमपवित्रत्वतारतम्यमवलोक्य मलापगमोपायरूपशुद्धेरपि तादृशमेव भेद तारतम्यं विज्ञेयम् । यो रोमकूपादिनिस्सृतः स्नेहो वस्त्रादिषु लग्नो दृश्यते सा वसा, शुक्रमार्त्तवं च, असृग्रुधिरम्, मज्जा—कक्षादिस्थरोमेषु ग्रीष्मवर्षाकाले लग्नो दृष्टः स्नेहः । इत्यादयो नृणां द्वादशविधा मला अभिमता ऋषिभिः । मूत्रं पुरीषं वा कृत्वाऽऽचान्तः कृताचमनः, वेदमध्येष्यमाणश्च सर्वदान्नमश्नंश्चाचान्तः खान्युपस्पृशेदद्भिरिति शेषः । स्त्री शूद्रौ सकृत्सकृदाचमनं छिद्रस्पर्शं च कुर्याताम् । न्यायपथगामिभिः शूद्रैर्मासिकं वपनं कार्यम् । वैश्यवच्छौचकल्पश्च वैश्यः पञ्चदशाहेनेत्युक्तप्रकारकं शौचं कर्त्तव्यम् । सच्छूद्रविषयकं कथनमेतत् । मुख्या विप्रुषो या अङ्गे पतन्ति यानि श्मश्रुगतानि जलादिकणजातानि यद्दन्तान्तराधिष्ठितं भुक्तावशिष्टमन्नमङ्गमास्यं चोच्छिष्टं न कुरुते । तैरप्रयतोऽशुचिर्न भवेत् । उच्छिष्टेन शौचार्हेण केनापि पुरुषेण प्राणिना वा तादृशजलान्नादिना वा कथमपि भक्ष्यभोज्यादिवस्तु हस्ते समुपाददानोऽन्यः पुरुषः संस्पृष्टः स्यात्तदा तद्द्रव्यमनिधायैवाधृत्वैवाचान्तः कृतजलक्रियः शुचितां शुचित्वमा-

मुयात्। वमनविरेचनानन्तरं स्नानं घृतप्राशनं च विशुद्धये कार्यम्। अन्नं भुक्त्वाऽऽचमनमेव, मैथुनानन्तरं स्नानं कार्यम्। स्वप्नाद्यनन्तरं शुद्धेनाप्याचमनं कार्यम्। एष कृत्स्नः शौचविधिरुक्तः स्त्रीधर्मांश्च वक्ष्यमाणान्निबोधतेति भृगुराह॥

भा०—मलिनं स्वभावेनाधो गच्छति यच्च प्रकृत्या मलिनं तदेवाधो गच्छति तस्माच्चाधस्स्थस्य निकृष्टत्वं तदपेक्षयोपरिस्थस्य च सदा सर्वत्रैवोत्कृष्टत्वं च न्यायसिद्धमेव मन्तव्यम्। मक्षिकास्स्वभावेन मलिनास्तासां स्पर्शो विष्ठाद्यपेक्षया मेध्यो मक्षिकास्पर्शाभावापेक्षया च स्पर्शस्यामेधत्वमेव मक्षिकादयोऽपि स्पर्शादन्यत्र भक्षणादावमेध्याएवेत्यर्थादापद्यते। सर्वस्यैवाल्पः स्पर्शश्च स्नानादिशौचावश्यकतां नैव जनयति। अल्पममेध्यत्वं मक्षिकादिस्पर्शे जायमानमप्यमेध्यपक्षे न परिगणयते। एकान्नकणस्य भक्षणमेकबिन्दोर्जलस्य पानं च भोजनजलपानपक्षयोर्न परिगणयते। वसादीनां ग्रहणमुपलक्षणार्थं तेन पूयसिरास्नायुमांसादीनामपि मलत्वमस्त्येव। लिङ्गादिषु लग्नस्य मूत्रादिजन्यदुर्गन्धस्य सकृदादिमृद्वारिप्रयोगो वारकः यदि च कुत्रचिन्न्यूनाधिकसंख्याकमृद्वारिप्रयोगेण तत्कृतो गन्धो लेपश्च निवर्त्तते तदा तावद्वारमेव मृद्वार्यादेयम्। गृहस्थापेक्षया च ब्रह्मचार्यादिभिर्न्यायतएव शौचाधिक्यमनुष्ठेयम्। तस्मादेवोत्तरोत्तरस्य शौचाधिक्यमभिहितम्। जलं च पावनं तस्याचमनं तेनेन्द्रियस्पर्शश्च शोधनहेतुः। वमनविरेचनयोर्यद्वैषम्यं जायते तत्स्नानघृतप्राशनाभ्यां निवर्त्तते। आचमनं चापानजन्यमालिन्यं स्वप्नादिकालउपरिधावतितदधो गमयति तस्माच्छोधनम्॥ १४६॥

भावार्थः—(नाभेरूर्ध्वं यानि खानि तानि सर्वशः मेध्यानि) नाभि से ऊपर शिर में जो मुख, आंख, नाक, कान ये सप्तर्षि नामक सप्तछिद्र हैं वे सब प्रकार नाम प्रत्यक्ष परोक्ष स्थूल सूक्ष्म सब प्रकार से पवित्र हैं। (देहाच्चैव मलाश्च्युता यान्यधस्तान्यमेध्यानि) जिस कारण शरीर के नीचे भाग में स्थित गुदा और उपस्थ से ही मलिनता में सर्वोपरि प्रधान विष्ठा मूत्रस्वरूप मल के प्रकार निकलते हैं इसी कारण नाभि से नीचे के इन्द्रिय छिद्र अपवित्र अशुद्ध हैं (मक्षिकाविप्रुषश्छाया) मक्खी अपवित्र वा जूठे जल के छींटा, किसी अशुद्ध मनुष्यादि की छाया (गौरश्वः सूर्यरश्मयः) महतर आदि के छुवे हुए गौ, घोड़ा, किसी अपवित्र वस्तु पर पड़े हुए सूर्य के किरण (रजोभूर्वायुरग्निश्च) अपवित्र विष्ठादि लगी उड़ती धूलि, चाण्डालादि से छुई पृथिवी, किसी को स्पर्श कर आया वायु और चाण्डालादि के घर का अग्नि (स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत्) इन सब को स्पर्श करनेमात्र में शुद्ध मानना चाहिये अर्थात् अशुद्ध न माने। अर्थात् ये सब कोई हल्केपन में प्रधान होने से वायुतत्त्व की प्रधानता वाले तथा कोई आग्नेय हैं ऐसा मान कर शुद्ध माने (दैहिकानां मलानां च द्वादशस्वपि शुद्धिषु) अगले श्लोक में कहे बारह प्रकार के मनुष्य देहस्थमल वा मलिनताओं की शुद्धियों नाम अपवित्रताओं के हटाने के लिये तथा (विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थम्) विशेष कर प्रधान मल—विष्ठामूत्र के त्याग में शेष की शुद्धि के लिये (अर्थवन्मृद्वार्या देयम्) प्रयोजनानुकूल—जितने से जितने वार मांजने धोने से अपवित्रता छूट सकती है उतनी वा उतने वार जल मट्टी मांजने धोने में लेनी चाहिये [इसी श्लोक के विशेष व्याख्यानरूप अगले १३६। १३७ श्लोक हैं। अर्थात् सामान्य कर उतने ही वार मट्टी जल वहां२ लगाने से उचित शुद्धि उस २ स्थान की हो सकती है] (वसाशुक्रमसृङ्मज्जा) रोम कूपादि द्वारा निकलने वाला चिकना मल जो पहिने हुए वस्त्रादि में लगा दीखता है वह वसा१, शुक्र—वीर्य आर्त्तव रुधिर२ वा सामान्य रुधिर, ३ वगल आदिस्थ लोमों में विशेष कर ग्रीष्म और वर्षा के समय लगने वाला चिकना मल मज्जा ४ (मूत्रविड्घ्राणकर्णविट्) मूत्र, ५ विष्ठा, ६ रेंट ७ (नाक का मैल) कान का मैल—ठेंठ८ (श्लेष्माश्रुदूषिकास्वेदः) कफ—खखार, ९ आंसू १० कीचड़ ११ और पसीना १२ (द्वादशैते नृणांमलाः) ये बारह प्रकार के मल मनुष्यों के शरीरों में होते हैं (एका लिङ्गे गुदे तिस्रः) दिशा पाखाने जाने पर और पेशाव करने पर उन २ स्थानों की उचित शुद्धि के लिये पेशाव के स्थान में.

एक वार मट्टी जल लगा कर माजे धोवे, गुदा में तीन वार माटी लगा २ कर जल से धोवे (तथैकत्र करे दश) तथा एक बायें हाथ को [जिस से मलमूत्रस्थान धोया मांजा हो] दश वार मट्टी जल लगा २ कर धोवे और (शुद्धिमभीप्सता) शुद्धि चाहने वाले को उचित है कि (उभयोः सप्त सृप्तो दातव्या) दोनों हाथों को मिलाकर सात वार माजे धोवे (एतच्छौचं गृहस्थानाम्) उक्त प्रकार एक वार उपस्थ को और तीन वार गुदस्थान को मांजने धोने आदि की शुद्धि गृहस्थाश्रम वालों के लिये कही है (द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्) ब्रह्मचारी इस से दूनी शुद्धि करे (त्रिगुणं स्याद्वनस्थानाम्) वानप्रस्थों के लिये उस से तीन गुणी शुद्धि होनी चाहिये और (यतीनां तु चतुर्गुणम्) संन्यासियों को चौगुणी शुद्धि करना ठीक है (मूत्रं पुरीषं वा कृत्वा) मल मूत्र त्याग करने पश्चात् (सर्वदाऽन्नमश्नंश्च) सब काल में नित्य २ भोजन करने के समय (च) और (वेदमध्येष्यमाणश्च) वेद पढ़ने के आरम्भ वा समाप्ति में (आचान्तः खान्युपस्पृशेत्) आचमन कर के इन्द्रियों का स्पर्श करे। (पूर्वं पस्त्रिराचामेत्) प्रथम तीन वार जलों का आचमन करे (ततो मुखं द्विःप्रमृज्यात्) तदनन्तर दो वार मुख को धोकर शुद्ध करे (स्त्री शूद्रस्तु शारीरं शौचमिच्छन् हि सकृत्सकृत्) स्त्री और शूद्र अपने २ शरीर की शुद्धि चाहते हुए एक २ वार आचमन और मुख शुद्धि करके शुद्ध रहें। [स्त्री सोमतत्त्व होने से प्रधान स्वतः शुद्ध है सो १३० श्लोक में भी कह चुके हैं इस से वह थोड़ी शुद्धि से भी शुद्ध हो जाती और बालक मूर्ख के समान शूद्र भी कम अशुद्ध होता है इसी लिये दोनों को कम शुद्धि करना कहा वा द्विज पुरुषों की अपेक्षा ये दोनों हीन दशा में हैं यही जताने दिखाने के लिये दोनों को कम २ आचमनादि कहा है] (न्यायवर्त्तिनां शूद्राणां मासिकं वपनं कार्यम्) न्यायानुकूल पञ्चमहायज्ञों को तथा ब्राह्मणादि की ठीक २ सेवा करने वाले शूद्रों को महिने भर में एक वार सब केशों का मुण्डन कराना चाहिये (वैश्यवच्छौचकल्पश्च) वैश्य के कुल में गमी हो तो १५ दिन में शुद्ध होता है और शूद्र के लिये एक महिने में शुद्ध होना पूर्व कह चुके हैं पर यहां सच्छूद्र को गुण कर्मानुसार वैश्यमान कर उसी के तुल्य शौच कहा है (च) और (द्विजोच्छिष्टं भोजनम्) ब्राह्मणादि द्विजों के भोजन कर लेने पर बचे भोजन को सेवक शूद्र लोग खावें [अर्थात्-उच्छिष्ट किसी को न देवे-ऐसा जो कह चुके हैं वह सेवक और

च्छिष्ट की छोड़ अन्य के लिये है। यहां सेवक को तो स्वयमेव मालिक का उ-च्छिष्ट खाना चाहिये यह आज्ञा शास्त्रकार ने दी है (या मुख्या विप्रुषोऽङ्गे प-तन्ति नोच्छिष्टं कुर्वते) बात करते समय अपने वा अन्य के मुख से जो सूक्ष्मांश वा थूक के कण शरीर पर पड़ते हैं वे उन २ अङ्गों को (श्मश्रूणि गतानि आस्यम्) डाढ़ी मोछों में लगे अदृष्ट थूक के सूक्ष्मांश मुख को और (दन्तान्तर-धिष्ठितम्) सर्वथा ठीक २ शुद्धि कुल्ला कर लेने पर भी दांतों के बीच कहीं २ जो अन्न का सूक्ष्मांश रह जाता है वह भी मुख को जूठा बनाने वा ठहराने वाला नहीं माना जाता अर्थात् वह थूक का सूक्ष्म छींटादि जो अनिवार्य है मनुष्य को उच्छिष्ट वा अपवित्र करने वाला नहीं होता। यदि ये भी अपवित्र करें तो कोई कभी शुद्ध भी नहीं कहा जा सकता है। सर्वथा स्नानादि से शुद्ध हुआ कोई यज्ञ करते समय मन्त्र पढे तभी मुख की वाष्पद्वारा थूक के सूक्ष्मांश श-रीर पर अवश्य पड़ेंगे [यहां १४१ श्लोक के आगे दो श्लोक पीछे मिलाये गये हैं जिन का अर्थ—बकरा-घोड़ा मुख से पवित्र, गौ और बैल पीठ से पवित्र ब्राह्मण लोग पावों से पवित्र और स्त्रियां सब ओर से पवित्र हैं। गौ और बकरी मुख से अपवित्र और गौ का मूत्र तथा गोबर दोनों को मनु जी ने प-वित्र कहा है] (परानाचामयतो ये बिन्दवः पादौ स्पृशन्ति) अन्यों को जल पिलाते समय जो जल के छींटा पगों पर पड़ते हैं (ते भौमिकैः समा ज्ञेयास्तैरप्रयतो न भवेत्) उन को भूमि में वर्षने वाले बिन्दुओं के समान शुद्ध जानो (तैरप्रयतो न भवेत्) उन से अप्रयतनाम अशुद्ध नहीं होता क्योंकि वे सूक्ष्म जल कण वायु के स्पर्श से शुद्ध हो जाते हैं [इस १४२ के आगे भी १ श्लो-क किसी ने पीछे से मिलाया है जिस का अर्थः—दान्तों में लगा अन्न दांतों के तुल्य शुद्ध माना जाय, यदि वह जिह्वा से छुआ न जाता हो तो और दां-तों में लगा अन्न वहां से छूट जाय तो उस को निगल जाने पर शुद्धि हो जाती है] (द्रव्यहस्तः कथंचनोच्छिष्टेन संस्पृष्टः) जूठे वा शुद्धि करने योग्य अपवित्र किसी पुरुष-प्राणी वा अशुद्ध जल अन्न आदि से खाने पीने आदि के पदार्थ को हाथ में लिये हुए कोई अन्य पुरुष सम्यक् छुवा गया हो तो (तद्द्रव्यमनिधा-यैवाचान्तः शुचितामियात्) उस लिये हुए वस्तु को कहीं न धर के पास में लिये ही आचमन कर के वा जो भाग छुवा गया हो उसी को जल से शुद्ध करके पवित्र हो जावे वा हो सकता है (वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु) वमन और वि-

रेचन होने पश्चात् स्नान करके (घृतप्राशनमाचरेत्) थोड़ा घी पीवे तो शुद्ध होता । (भुक्त्वाऽन्नमाचामेदेव) भोजन करने पश्चात् आचमन ही करे किन्तु स्नान नहीं जिस से भीतरी कण्ठादि धो जावे किन्तु भोजन करने में वाहरी अशुद्धि कुछ नहीं होती इसी से स्नान नामक वाह्य शुद्धि की वहां आवश्यकता नहीं (मैथुनिनः स्नानं स्मृतम्) स्त्री से मैथुन करने वाले पुरुष को स्नान करना चाहिये । [इस के आगे भी एक श्लोक पीछे मिलाया गया है उस का अर्थः—ऋतु समय से भिन्न काल में स्त्री से संयोग करे तो वहां मूत्र के तुल्य मट्टी जल से शुद्धि करले और ऋतु काल में मैथुन से गर्भस्थिति की सम्भावना होने के कारण मैथुन करने वाला स्नान करे] (सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च) सोने, छींकने भोजन करने (निष्ठीव्योक्त्वा नृतानि च) थूकने, झूठ बोलने (पीत्वाऽपोऽध्येष्यमाणश्च) जल पीने पर और वेदाध्ययन का आरम्भ करता हुए (प्रयतोऽपि सन्नाचामेत्) शुद्ध पुरुष को भी आचमन करना चाहिये (एष कृत्स्नः शौचविधिस्तथैव च द्रव्यशुद्धिः सर्ववर्णानां व उक्तः) यह सब ब्राह्मणादि वर्णों का सम्पूर्ण शौचविधि और वैसे ही द्रव्यशुद्धि तुम श्रोता लोगों से कही अब (स्त्रीणां धर्मान्निबोधत) स्त्रियों के धर्म २० श्लोकों में कहेंगे यह भृगु जी प्रतिज्ञा करते हैं ॥

भा०—मलिन वस्तु स्वभाव से नीचे को जाता और स्वभाव से मलिन होता वही नीचे को जाता है तिस से नीचे वाले का निकृष्ट होना और उस की अपेक्षा उपरिस्थ का सदा सर्वत्र उत्तम होना न्यायसिद्ध ही मानना चाहिये । मक्खी स्वभाव से ही मलिन होतीं उन का स्पर्श होना विष्ठादि की अपेक्षा शुद्ध किन्तु मक्खीयों का स्पर्श न होने की अपेक्षा स्पर्श होना अपवित्र ही है। और मक्षिकादि भी स्पर्श से अन्यत्र खा जाने आदि में अपवित्र ही हैं यह अर्थापत्ति से सिद्ध है सभी अपवित्र वस्तु के साथ थोड़ा स्पर्श होना स्नानादि शुद्धि की आवश्यकता को प्रकट नहीं करता। मक्खी आदि के छूने में हुई भी थोड़ी अशुद्धि-अशुद्धि पक्ष में नहीं गिनी जाती जैसे अन्न के एक दाने का खाना वा एक विन्दु जल का पीना भोजन और जल पान पक्ष में नहीं गिने जाते । वसादि का ग्रहण उपलक्षणार्थ है तिस से नाड़ी नस मांस पीवादि भी सब मल ही हैं । लिङ्गादि में लगे मूत्रादि से हुए दुर्गन्ध का एक वार आदि मट्टी जल से मांजना धोना निवृत्त करने वाला है । यदि कहीं न्यूनाधिक वार मट्टी जल के संयोग से उस मूत्रादि सम्बन्धी गन्ध और लेप छूट वा निवृत्त हो जाता है

तो वहां उतने ही वार मट्टी जल देना चाहिये । गृहस्थ की अपेक्षा ब्रह्मचारी आदि को न्यायानुकूल ही अधिक शुद्धि करनी चाहिये क्योंकि वे लोग आगे २ शुद्धिरूप धर्म के सहारे से ही परमपद को प्राप्त कर सकते हैं । इसी कारण ग्रन्थकार ने अगले २ को अधिक शौच कहा है । जल स्वयमेव पावन है उस का आचमन और उस से इन्द्रियस्पर्श करना शोधक है । वमन विरेचन में जो कायिक वा मानस ग्लानिरूप वह विषमता होती स्नान और घृत खाने द्वारा निवृत्त हो जाती है । जो अपान सम्बन्धिनी मलिनता स्वप्नादि के समय ऊपर को चढ़ती है जिस से मुख में मल जम जाता वा दुर्गन्ध आने लगता है उस को नीचे गिराने वाला होने से आचमन शोधक है ॥१४६॥

बालयावायुवत्यावा वृद्धयावापियोषिता ।
नस्वातन्त्र्येणकर्त्तव्यं किंचित्कार्यंगृहेष्वपि ॥
बाल्येपितुर्वशेतिष्ठे-त्पाणिग्राहस्ययौवने ।
पुत्राणांभर्त्तरिप्रेते नभजेत्स्त्रीस्वतन्त्रताम् ॥
पित्राभर्त्रासुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः ।
एषांहिविरहेणस्त्री गर्ह्येकुर्यादुभेकुले ॥
सदाप्रहृष्टयाभाव्यं गृहकार्येषुदक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्ययेचामुक्तहस्तया ॥
यस्मैदद्यात्पितात्वेनां भ्राताचानुमतेपितुः ।
तंशुश्रूषेतजीवन्तं संस्थितंचनलङ्घयेत् ॥
मङ्गलार्थंस्वस्त्ययनं यज्ञश्चासांप्रजापतेः ।
प्रयुज्यतेविवाहेषु प्रदानंस्वाम्यकारणम् ॥
अनृतावृतुकालेच मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः ।

सुखस्यनित्यंदातेह परलोकेचयोषितः ॥
विशीलःकामवृत्तोवा गुणैर्वापरिवर्जितः ।
उपचर्यःस्त्रियासाध्व्या सततंदेववत्पतिः ॥

[दानप्रभृतियातुस्या–द्यावदायुःपतिव्रता ।
भर्तृलोकंनत्यजति यथैवारुन्धतीतथा ॥]

नास्तिस्त्रीणांपृथग्यज्ञो नव्रतंनाप्युपोषितम् ।
पतिंशुश्रूषतेयेन तेनस्वर्गेमहीयते ॥

[पत्यौजीवतियातुस्त्री–उपवासंव्रतंचरेत् ।
आयुष्यंहरतेभर्त्तु–र्नरकंचैवगच्छति ॥]

पाणिग्राहस्यसाध्वीस्त्री जीवतोवामृतस्यवा ।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम् ॥

अ०–प्रायेण गृहसंबद्धानि कार्याणि स्त्रिया स्वप्रबन्धेन साध्यानि तत्रापि भर्त्तुराज्ञा प्रधाना रक्षणीया । प्रथमस्यैव द्वितीयतृतीययोः पद्ययोः प्रपञ्चः । सदा प्रसादहेतुष्वसत्स्वपि विशिष्टभूषणावसनाशनेषु पत्यादिभ्योऽनुपलभ्यमानेष्वपि कान्तया प्रहृष्टयैव भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया व्यवहारे चतुरया सर्ववस्तुशोधनतत्परया व्ययेचामुक्तौ बद्धौ हस्तौ यस्या येन व्ययाधिक्यं न स्यात्तथा तया भाव्यम् । संस्थितं मृतमपि न लङ्घयेदन्यं पतिं न कुर्यात्तमेव पतिं मन्वाना पत्यन्तरेच्छां च धर्म्यात्पथो विचालिकां जानाना जन्म व्यतीयात् । आसां विवाहेषु प्रजापतेर्यज्ञो मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं प्रयुज्यते । प्रजापत्यादिदेवोद्देशेन यो यज्ञस्त-

मङ्गलभूतये सुखपूर्विकां सम्यक्स्थितिं यथाप्नुयादेतदर्थः सर्वो विधिर्नतु–इयमस्य भार्य्याऽयमस्याः पतिः स्वाम्यस्त्रीति भावरूपस्य विवाहपदवाच्यार्थस्य प्रधानविवाहस्य प्रधानं कारणं सप्तपदीपर्यन्तो विधिरपि तु प्रदानं स्वाम्यकारणं [illegible] मत्या भ्रात्रा वा यस्मै सा दीयते–अमुकगोत्रा [illegible] मुकनाम्नीमलङ्कृतां शु[illegible] पुत्राय पौत्राय प्रपौत्राय [illegible] दे । इत्येवं प्रतिज्ञापुरस्स[illegible] व स्वामिभावस्य कारणम् [illegible] रीररोमापि सर्वं पत्युः [illegible] ग्रहस्य कस्मिन्नपि भागे [illegible] हुं सा न किमप्याचरेत् [illegible] मन्त्रसंस्कारकृतपतिनि[illegible] कामवृत्तो वा गुणैर्वा [illegible] सततं देववदुपचर्यः। अस्[illegible] । पतिलोकमभीप्सन्[illegible] वा पाणिग्राहस्य किं[illegible] नुकूलमेवाचरेत् ॥

[illegible]: स्त्रीधर्मः । तासां [illegible] पाठनं शिक्षणादिकं च पित्रादिपुरुषस्य कृत्यमतो नासौ स्त्रीधर्मः । यद्यस्य कृत्यं तत् तस्य धर्मइति सर्वत्रैव बोध्यम्। नचायमेवाल्पो वामानां धर्मोऽपितु यः पुरुषस्य स सर्वएव तदङ्गभूताया स्त्रिया अप्यागत एव' पुमान् स्त्रियेति पुंसा तस्याएकशेषविधानमप्यप्रधानाङ्गत्वं तस्याः स्फुटयति। यत्र पुरुषवाचका ब्राह्मणादयः शब्दा धर्माधिकारार्थं शास्त्रेषु

सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥
विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥

[... व्रता ।
... या ॥]

नारि ... ाप्युपोषितम् ।
पतिं ... ते ॥

... ंचरेत् ।
... ॥]

पारि ... वा मृतस्य वा ।
पति ... ंचिदप्रियम् ॥

... स्त्रिया स्वप्रव-
न्धेन स ... रक्षणीया । प्रथ-
मस्यैव ... । सदा प्रसादहेतु-
ष्वसत्स ... त्यादिभ्योऽनुपल-
भ्यमाने ... गृहकार्येषु दक्षया
व्यवहारे चतुरया सर्ववस्तुशोधनतत्परया व्यये चामुक्तौ बद्धौ
हस्तौ यस्या येन व्ययाधिक्यं न स्यात्तथा तया भाव्यम् ।
संस्थितं मृतमपि न लङ्घयेदन्यं पतिं न कुर्यात्तमेव पतिं
मन्वाना पत्यन्तरेच्छां च धर्म्यात्पथो विचालिकां जानाना
जन्म व्यतीयात् । आसां विवाहेषु प्रजापतेर्यज्ञो मङ्गलार्थं
स्वस्त्ययनं प्रयुज्यते । प्रजापत्यादिदेवोद्देशेन यो यज्ञस्त-

मङ्गलभूतये सुखपूर्विकां सम्यक्स्थितिं यथामुयादेतदर्थः सर्वो विधिर्नतु-इयमस्य भार्य्याऽयमस्याः पतिः स्वाम्यस्मीति भावरूपस्य विवाहपदवाच्यार्थस्य प्रधानविवाहस्य प्रधानं कारणं सप्तपदीपर्यन्तो विधिरपि तु प्रदानं स्वाप्यकारणं पित्रा तदनुमत्या भ्रात्रा वा यस्मै सा दीयते-अमुकगोत्रामसुकस्य पुत्रीं पौत्रीं प्रपौत्रीं वाऽमुकनाम्नीमलङ्कृतां शुभां कन्यामिमाममुकगोत्रायामुकस्य पुत्राय पौत्राय प्रपौत्राय चामुकनाम्ने वराय तुभ्यमहं सम्प्रददे । इत्येवं प्रतिज्ञापुरस्सरं वाचा हस्तेन च कन्याया दानमेव स्वामिभावस्य कारणम् । तद्दानकालमारभ्य कन्यायाः शरीररोमापि सर्वं पत्युः सर्वस्य सएव स्वामी स्त्रियाः स्वदेहस्य कस्मिन्नपि भागे स्वत्वमेव नास्ति तस्मात्तदिच्छाविरुद्धं सा न किमप्याचरेत् । अनृतावृतुकाले चेह परलोके च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिर्नित्यं सुखस्य दाताऽस्ति । विशीलः कामवृत्तोवा गुणैर्वा परिवर्जितः पतिः साध्व्या स्त्रिया सततं देववदुपचर्यः। अस्याग्रएकं पदं पश्चात् क्षिप्रमुपलभ्यते । पतिलोकमभीप्सन्ती साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा पाणिग्राहस्य किंचिदप्रियं नाचरेत् । अपितु प्रियमनुकूलमेवाचरेत् ॥

भा०-स्त्रिया कर्त्तव्य आचरणीयः स्त्रीधर्मः । तासां पाठनं शिक्षणादिकं च पित्रादिपुरुषस्य कृत्यमतो नासौ स्त्रीधर्मः । यद्यस्य कृत्यं तत् तस्य धर्मइति सर्वत्रैव बोध्यम्। नचायमेवाल्पो वामानां धर्मोऽपितु यः पुरुषस्य स सर्वएव तदङ्गभूताया स्त्रिया अप्यागत एव' पुमान् स्त्रियेति पुंसा तस्याएकशेषविधानमप्यप्रधानाङ्गत्वं तस्याः स्फुटयति। यत्र पुरुषवाचका ब्राह्मणादयः शब्दा धर्माधिकारार्थं शास्त्रेषु

दृश्यन्ते तत्रतत्र ब्राह्मणयादीनामपि तेष्वन्तर्भावात् स्त्रीणामपि सर्वमेव पूर्वोक्तं कर्त्तव्यमागतम् । अतस्तासामल्पो धर्मो नास्त्यपितु व्याप्तोऽनन्तो धर्मोऽसंख्यजन्मान्तरैरपि सर्वोऽनुष्ठातुमशक्यः । अयन्तु स्त्रीणां विशिष्टः प्रधानो मुख्यो वा धर्मः । प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति तस्मिंश्च कृतेऽप्रधानं तदन्तर्गतं भवति । अतोऽस्मिन् प्रधाने स्वधर्मेऽनुष्ठितेऽसेवितमपि सेवितमेवाप्रधानम् । धर्मप्रसारस्यानन्त्यान्न सर्वो धर्मः केनाप्यनुष्ठातुं शक्यते तस्मात्प्रधानएव सर्वैरनुष्ठेयः । अस्यां सृष्टौ मुख्यं गौणं च प्रधानमप्रधानं च, स्वामी स्वं च द्विविधमेव सर्वं दृश्यते तत्र यद्गौणमप्रधानं स्वं च सा स्त्री यन्मुख्यं प्रधानं स्वामी च स पुरुषः। प्राकृतनियमेनैव स्त्रिया अप्रधानत्वं स्वत्वं च यद्वा यत्स्वभावेनैवाप्रधानं कस्यापि स्वं च सा स्त्री । यत्रयत्र यादृशं स्वत्वमप्रधानत्वं च तत्रतत्र तादृशं स्त्रीत्वम् । एवं च यदि स्त्री स्वतन्त्रा स्यात्तदा प्राकृतनियमविघातादेव तदर्थं महद्भयम् । प्राकृतनियमानुकूलाचरणमेव धर्मस्तस्मात्स्त्रिया पित्रादिवशएव स्थातव्यम् । विदुरेणाप्युक्तम्–त्रयएवाधना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः । एकमेव पुरुषं स्त्री भजेत । गुणैः परिवर्जितेऽप्येकस्मिन्सेव्यमाने यत्सुखं न तद्बहुषु तस्मान्मृतेऽपि तस्मिन्नान्यं सेवेत । मन्त्रसंस्कारपूर्वकं ययोर्विवाहस्ते प्रायेणावियुक्ताः परस्परं सुखप्रदाश्च स्त्रीपुरुषा लोके दृश्यन्ते । येचान्यप्रकारैःस्त्रीसम्बन्धं कुर्वन्ति कामपि कथमपि गृहे स्थापयन्ति न तां पाणिगृहीतीमिव सुखयन्तो लोके दृश्यन्ते । तस्मात्पाणिग्रहं

विहाय नान्यत्र सुखमस्तीति मत्वा कयापि कदापि पत्यु-र्व्यभिचारो न कार्यः । यश्च गुणो न कदापि यतो निवर्त्तते स तस्य सर्वैः स्वाभाविको मन्यते। स्त्रिया अपि पुरुषाश्रय-त्वं न कदापि निवर्त्तते सा च स्वसम्बन्धिनं पित्रादिपुरुषं बा-ल्यादिकालउपेक्षमाणा पुरुषान्तरमसंबद्धमाश्रयन्ती कुलद्व-यमपि दुःखशोकान्वितं करोति। यदा पित्रादिगृहे स्त्री सदा प्रहृष्टा, गृहकर्मणि चतुरा शुद्धिपरा शुद्धपाचिका नियत-व्ययकरी च भवति तदा पित्रादीन् तोषयन्ती स्वयं च तुष्टा सुखमाप्नोति । यस्य फलं सुखं स धर्मो धर्मस्यैव सुखं फ-लम् । पित्राद्याश्रयेण तदाधीनतया स्थितिश्च सुखशान्ति-हेतुकाऽतस्तादृशमाचरणं स्त्रिया धर्मएवास्ति । पतिव्रतात्वं च स्त्रियाः सर्वोत्कृष्टः सनातनो धर्मः। पत्यन्तरविधिश्च यदि कथमपि शास्त्रेष्वायाति चेदपवादः सउत्सर्गनियमं न बा-धते । सचापद्धर्मोऽप्रधानो गौणोऽयं च सनातनो धर्मः । या सनातनधर्मे स्थिता तदपेक्षया नियोगादिना पत्यन्तरम-ङ्गीकुर्वती महाधमा वर्त्ततएव । पत्युर्विशीलत्वादिकमत्र नैव विधीयतेऽपितु साध्व्या स्त्रिया विशीलादिरपि पतिर्नाना-दरणीयः । याश्चानाद्रियन्ते ता लोकेपि निन्दिताः सत्यो महद्दुःखमाप्नुवन्ति । अतः पतिव्रताधर्मएवान्यसर्वकृत्यापे-क्षया स्त्रियाः प्रधानं कर्त्तव्यं सएव धर्मस्तस्मिन्सम्यगनुष्ठि-ते यशः कीर्त्तिः सुखं च सर्वविधमाप्यते ॥१५६॥

भाषार्थः— (बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता) बालिका, युवति और वृद्ध तीनों अवस्था में रहती हुई स्त्री को चाहिये कि (गृहेष्वपि स्वातन्त्र्येण किञ्चित्कार्यं न कर्त्तव्यम्) घरों में भी स्वतन्त्रता से कुछ भी कार्य

न करे। अर्थात् घर सम्बन्धी प्रायः सब काम स्त्री की इच्छा और प्रबन्ध से हों चाहिये पर उन घरू प्रबन्धों में भी पिता पति आदि की आज्ञा वा सम्मति ही प्रधान रक्खे (बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्) स्त्री बाल्यावस्था में पिता के आधीन (पाणिग्राहस्य यौवने) युवावस्था में पति के आधीन (प्रेते भर्त्तरि पुत्राणाम्) पति के न रहने पर वा संन्यासी आदि हो जाने पर पुत्रों के आधीन रहे किन्तु (स्त्रीस्वतन्त्रतां न भजेत्) स्त्री स्वतन्त्र न रहे स्वतन्त्र का सेवन करना कभी न चाहे । (पित्रा भर्त्रा सुतैर्वाप्यात्मनो विरहं नेच्छेत्) पिता पति और पुत्रों से अलग हो कर कभी रहने की इच्छा न करे । अर्थात् उन २ अवस्थाओं में पुत्री, भार्य्या तथा माता को अन्य पुरुष से जैसा पिता, पति और पुत्र बचाना चाहता है वैसा अन्य कोई बचाने की चेष्टा नहीं कर सकता अन्य तो फसाने की चेष्टा करे तो आश्चर्य नहीं! इसी कारण (एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले) इन पिताआदि से अलग रहने पर स्त्री पिता और पति दोनों के कुलों को कलङ्कित कर देती है इस कारण उस २ अवस्था में पितादि के आधीन उन२ की निगरानी में रहे । इन दूसरे तीसरे श्लोकों में पहिले ही श्लोक का व्याख्यान है (सदा प्रहृष्टया—भाव्यम्) स्त्री को सदा प्रसन्न रहना चाहिये [अर्थात् पति आदि धनादि पदार्थों को संचित कर २ न लाते न देते हों वा अधिक अच्छे २ वस्त्र आभूषण भोजन न मिलते हों तब भी वैसी ही प्रसन्न रहे जैसी कि धनादि के मिलने पर रहती हो (भार्य्यां च विभवक्षये) धन के न रहने वा मिलने पर भी यदि स्त्री पूर्ववत् प्रीति करे प्रसन्न रहे तो जानो उस की परीक्षा हो गयी वह ठीक धर्मानुकूल स्त्री है नहीं तो धन की दासी होना सिद्ध है] (गृहकार्येषु दक्षया) घर के कामों में चतुर हो देन लेनाआदि व्यवहार ठीक उचित चतुराई से करे (सुसंस्कृतोपस्करया) अच्छे शुद्ध वस्त्र वर्तन और घर के अन्य सब वस्तु को रखने शुद्धान्न पकाने वाली हो और (व्यये चामुक्तहस्तया) खर्च करने में हाथ को रोकने वाली हो समझ पूर्वक कम खर्च करे अधिक खरचीली स्त्री का घर उजड़ जाता और इसी से वह दुःख भोगा करती है (यस्मै त्वेनां पिता पितुरनुमते च भ्राता दद्यात्) जिस पुरुष को इस को पिता वा पिता की आज्ञा से भाई दान कर दे जिस के साथ विवाह कर देवे (तं जीवन्तं शुश्रूषेत) जब तक जीवित रहे उसी पति की सेवा शुश्रूषा करे अर्थात् उस की सेवा को विद्यमान दशा में कदापि न त्यागे उस से उदासीन होके वा अभिमान रखती हुइ न रहे और (संस्थितं च न लङ्घयेत्) यदि पति मर जावे तो उस के पीछे भी उस का निरादर न करे अन्य किसी पुरुष को पति बनाने

का स्वप्न में भी संकल्प न करे [यद्यपि मर जाने वाला पीछे नहीं जानता कि मेरी स्त्री ने मेरा निरादर किया इसी से उस को दुःख होना भी नहीं कहा जायगा। पर विद्यमान अन्य साक्षी लोग अवश्य जानते हैं कि इसने अपने पति का निरादर किया पतिव्रता धर्म का पालन करती हुई ब्रह्मचारिणी तपस्विनी नहीं बनी इसी कारण ब्रह्मचारिणी रहने वाली विधवा की प्रतिष्ठा व्यभिचारिणी की अपेक्षा लोक में प्रसिद्ध ही अधिक है। और द्वितीय वह स्वयं जानती है कि मैंने अपने पति का निरादर रूप पाप किया है इसी कारण वह सब के सामने लज्जित संकुचित भयभीत रहती है इस दोनों प्रकार के जानकारीरूप संचित पाप का फल वही स्त्री भोगती है जिसने अपने मृत् पति का अनादर किया है इस से इस लोक परलोक में सुख चाहने वाली स्त्री कदापि अपने पति से विरुद्ध न चले] (आसां विवाहेषु प्रजापतेर्यज्ञो मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं प्रयुज्यते) इन स्त्रियों के विवाहों में प्रजापति आदि देवताओं की संतुष्टि प्रसन्नता के उद्देश से होने वाला यज्ञ मङ्गल होने के लिये कि गृहाश्रम में सुख पूर्वक सम्यक् स्थिरता को स्त्री प्राप्त हो इत्यादि उद्देश के लिये वेदी पर होने वाला सप्त पदीपर्यन्त क्रिया का विधान है किन्तु यह इस की स्त्री और यह इस स्त्री का पति—स्वामी—पुरुष है इस प्रकार के सम्बन्ध का नाम मुख्यकर विवाह है इस प्रकार के भाव सम्बन्धरूप विवाह का कारण सप्तपदी पर्यन्त होने वाला विधान नहीं है किन्तु (स्वाम्यकारणं प्रदानम्) स्वस्वामी सम्बन्ध रूप विवाह संयोग का कारण केवल कन्यादान है। पिता वा उस की आज्ञा से भाई जिस को देवे अर्थात् अमुक गोत्र वा अमुक नाम वाली अमुक की पुत्री कन्या को अमुक गोत्री अमुक नामी अमुक के पुत्र पुरुष के लिये मैं देता हूं इत्यादि प्रकार संकलप करके दे देने मात्र से जो पति पत्नी भाव दोनों के सर्व देहांश में व्याप्त हो जाता है कि यह मेरा पति और यह मेरी स्त्री है इस का ही नाम विवाह है। इस से प्रतिज्ञा पूर्वक वाणी तथा हाथ से कन्या का दान कर देना ही स्वामी हो जाने का कारण है। उस दान के समय से लेकर कन्या के शरीर का रोम तक भी पति का ही सब हो जाता है सब का वही स्वामी हो जाता अपने शरीर के किसी भाग में भी स्त्री का भिन्न स्वत्व नहीं रहता तिस से उस पति की इच्छा से विरुद्ध वह स्त्री कुछ भी न करे (इहानृतावृतुकाले परलोके च) इस वर्त्तमान जन्म में ऋतु समय हो वा ऋतु समय न हो और परलोक जन्मान्तर में (मन्त्रसंस्कारकृत्पतिर्योषितो नित्यं सुखस्य दाता)

मन्त्रों द्वारा संस्कार करने अर्थात् मन्त्रों द्वारा पति पत्नी भाव के संस्कार वास-नाओं को संचित करने वाला पति स्त्री के लिये सर्वदा सुख को देने वाला है (विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितःपतिः) खोटे स्वभाव वाला, कामी अथवा गुण हीन कुछ कर्त्तव्य वा सुधार न जानने वाला कैसा ही गया बीता अपना पति हो (साध्व्या स्त्रिया देववदुपचर्यः) सुशील सच्ची निर्दोष स्त्री उस पति की देवता वा ईश्वर के तुल्य ही सेवा पूजा करे उस को नीच स-मझ के निरादर करने से स्त्री का ही निरादर होगा। इस के आगे एक श्लोक किसी ने पीछे से मिलाया है उस का अर्थः—कन्यादान होने समय से लेकर जो स्त्री जीवन पर्यन्त पतिव्रता रहती है वह पति के दर्शन से अलग रह कर विधवादि दशा में दुःख नहीं भोगती जैसे कि अरुन्धती का पति से कभी वि-योग नहीं होता। (स्त्रीणां पृथग्यज्ञो नास्ति न व्रतं नाप्युपोषितम्) स्त्रियों के लिये पुरुष-पति से अलग स्वतन्त्र रह कर कोई यज्ञ नहीं है न कोई व्रत नाम चान्द्रायणादि व्रत का नियम और न कोई उपवास है किन्तु (येन पतिं शुश्रूषते तेन स्वर्गे महीयते) पति की सेवा शुश्रूषा जिस भाव से जैसी करती है वैसे स्वर्ग सुख से वह पूजित सत्कृत होती है इस के आगे भी एक श्लोक पीछे से मिला-या है जिस का अर्थः—जो स्त्री अपने पति के जीवित विद्यमान रहते हुए भी व्रत वा उपवास करती है वह पति की अवस्था को क्षीण करती और न-रक को प्राप्त होती है। (पतिलोकमभीप्सन्ती साध्वी स्त्री) पति के निकट रहना चाहती अर्थात् पति के विना विधवा दशा में न रहना चाहती अथवा पुण्य बल से पति को जो लोक मिला उसी का निवास चाहती हुई (जीवतो वा मृतस्य वा पाणिग्राहस्य) जीवित वा मृत हुए पाणिगृहीता—अपना हाथ पकड़ने वाले पति का (किंचिदप्रियं नाचरेत्) कुछ भी अप्रिय आचरण न करे पति के प्रतिकूल किंचित् भी न चले किन्तु सर्वथा अनुकूल ही आचरण करे॥

भा०—स्त्री का कर्त्तव्य—आचरण ही उस का धर्म है। उन स्त्रियों का पढ़ाना शिक्षादि करना पितादि पुरुष का धर्म है इस से वह स्त्री का धर्म नहीं है। जिस को जो ठीक अच्छा कर सकता वही उस को करना चाहिये और जो जिस को करना चाहिये वही उस का धर्म है यह सर्वत्र ही नियम जानो और यहां इस प्रकरण में कहा यह स्त्रियों का धर्म वा कर्त्तव्य थोड़ासा ही न-हीं है किन्तु जो २ पुरुष का धर्म वा कर्त्तव्य है वह सभी उस पुरुष की अ-भूत स्त्री का भी कर्त्तव्य आजाता है क्योंकि (पुमान्—स्त्रिया) इस पाणि-नीय सूत्र के अनुसार ब्राह्मण आदि पुरुष वाची शब्द के साथ ब्राह्मणी आदि

शब्द का एकशेष होने से स्त्री शक्ति का अप्रधानाङ्ग होना स्पष्ट ही सिद्ध है । जहां २ पुरुष वाची द्विज वा ब्राह्मणादि शब्द धर्म कर्माधिकार के लिये शास्त्रों में दीखते हैं वहां २ उन २ में ब्राह्मणी आदि शब्द भी अन्तर्गत ही हैं इस कारण धर्मशास्त्रों में कहा सभी कृत्य स्त्रियों के लिये भी आजाता है । इस से स्त्रियों का धर्म वा कर्त्तव्य अल्प नहीं है किन्तु पुरुषों के तुल्य उन के अनन्त धर्म हैं जिस से सब का सेवन असंख्य जन्मों में भी नहीं हो सकता । पर यहां कहा स्त्रियों का कर्त्तव्य प्रधान, मुख्य वा विशेष धर्म है । प्रधान की प्राप्त्यर्थ किया उपाय अधिक उत्तम फल वाला होता उस प्रधान के कर लेने पर अप्रधान कृत्य उसी के अन्तर्गत आजाता है । इस से अपने इस प्रधान धर्म के सेवन कर लेने पर न सेवन किया भी अप्रधान सेवित ही हो जाता है । धर्म का फैलाव अनन्त है इस से कोई भी सब धर्म का सेवन नहीं कर सकता तिस से प्रधान का ही सेवन सब को कर्त्तव्य है । इस संसार में गौण-मुख्य, प्रधान-अप्रधान तथा स्व और स्वामी दो प्रकार में विभक्त सब कुछ दीखता है उस में जो गौण, अप्रधान तथा स्व—[मिल्कियत] है वह स्त्री और जो मुख्य प्रधान स्वामी [मालिक] है वह पुरुष है । स्वाभाविक नियम से ही स्त्री अप्रधान और स्व [मिल्कियत] है अथवा जो स्वभाव से ही अप्रधान वा किसी का स्व है वह स्त्री है। जिस २ में जैसा २ स्वत्व वा अप्रधानता है उस २ में वैसा २ स्त्रीपन है। एवं च यदि स्त्री स्वतन्त्र होना चाहे तो स्वाभाविक नियम तोड़ने से ही उस स्त्री के लिये बड़ा डर है और प्राकृत नियम के अनुकूल आचरण करना ही धर्म है तिस से स्त्री को पिता आदि के वश में ही रहना चाहिये। विदुर जी ने भी कहा है कि " हे राजन् तीन ही अधन नाम उन का कोई पुरुष धन नहीं किन्तु वे स्वयं किसी का धन हैं उन में १-स्त्री, २-दास-सेवक शूद्र तथा ३-पुत्र" एक ही पुरुष का सेवन स्त्री करे । गुणों से रहित होने पर भी एक पुरुष का सेवन करने में जो सुख होता वह वा वैसा बहुतों के सेवन में नहीं है तिस से उसके मर जाने पर भी अन्य पुरुष का सेवन न करे। मन्त्रों से संस्कार होने पूर्वक जिन स्त्री पुरुषों का विवाह होता वे परस्पर वियुक्त न हुए प्रायः एक दूसरे को सुख देने वाले होते और लोक में दीखते हैं । और जो भगालाने आदि प्रकार से किसी को स्त्री कर लेते-किसी को किसी प्रकार घर में डाल लेते हैं उस को विधिपूर्वक विवाहिता के समान सुख देते नहीं दीखते तिस से हाथ पकड़ने वाले पति को छोड़ कर अन्यत्र सुख नहीं आगे दुःख ही दुःख

है ऐसा मान के किसी स्त्री को कभी अपने पति से व्यभिचार वा विरोध नहीं करना चाहिये। जो गुण जिस से कभी अलग नहीं होता वह उस का स्वाभाविक माना जाता है स्त्री का भी पुरुष के आधीन रहना, साक्षात् वा परम्परागत पुरुष की सहायता के विना निर्वाह न कर सकना स्वाभाविक गुण है जो कदापि निवृत्त नहीं होता। यदि वह स्त्री बाल्यावस्थादि में अपने सम्बन्धी आश्रयभूत पिता आदि पुरुष की उपेक्षा [बेपरवाही] करने पर स्वभावानुसार असम्बन्धी किसी अन्य पुरुष का आश्रय करती है तो पिता और पति दोनों के कुल को दुःखित और शोकातुर करती है। जब पति घर में स्त्री सदा प्रसन्न घर के कामों में चतुर शुद्धि करने में तत्पर शुद्धान्न पकाने वाली और उचित वा नियमित खर्च करने वाली होती है तब उस कर्म से पतिआदि को सन्तुष्ट करती और स्वयं सन्तुष्ट हुई सुख पाती है। जिस कर्म का फल सुख है वही धर्म है और धर्म का ही फल सुख होता है। पिता आदि का सहारा लेकर उन के वश में रहना सुख और शान्ति का हेतु है इस कारण वैसा आचरण स्त्री का धर्म ही है। पतिव्रता होना स्त्री का सनातन परमधर्म है। और अन्य पति करने का विधान यदि शास्त्रों में किसी प्रकार आता है तो वह अपवादरूप हुआ उत्सर्ग के नियम का बाधक नहीं है। वह नियोगादि आपद्धर्म गौण अप्रधान है और यह सनातन धर्म है। जो स्त्री सनातन धर्म पर स्थिर है उस की अपेक्षा नियोगादि द्वारा द्वितीय पति को स्वीकार करती हुई महा नीच ठहरती है। पति का विशीलादि होना यहां विहित नहीं है किन्तु अच्छी धर्मनिष्ठ निर्दोष स्त्री विशील निकृष्ट स्वभाव वाले पति का भी अनादर न करे और जो स्त्रियां पति का अनादर करती हैं वे लोक में भी निन्दित हुई बड़ा दुःख पाती हैं। इस से पतिव्रता धर्म ही अन्य सब कर्त्तव्य की अपेक्षा स्त्री का बड़ा कर्त्तव्य और वही मुख्य धर्म है उस की अपेक्षा अन्य सब धर्म छोटे हैं। उस के ठीक २ निबाह करने पर यश कीर्त्ति और सब प्रकार का सुख प्राप्त होता है ॥ १५६ ॥

कामंतुक्षपयेद्देहं शाकमूलफलैःशुभैः।
नतुनामापिगृह्णीया-त्पत्यौप्रेतेपरस्यतु ॥
आसीतामरणात्क्षान्ता नियताब्रह्मचारिणी।

योधर्मएकपत्नीनां काङ्क्षन्तीतमनुत्तमम् ॥
अनेकानिसहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।
दिवंगतानिविप्राणा-मकृत्वाकुलसन्ततिम् ॥
मृतेभर्त्तरिसाध्वीस्त्री ब्रह्मचर्येव्यवस्थिता ।
स्वर्गंगच्छत्यपुत्रापि यथातेब्रह्मचारिणः ॥
अपत्यलोभाद्यातुस्त्री भर्त्तारमतिवर्त्तते ।
सेहनिन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्चहीयते ॥
नान्योत्पन्नाप्रजास्तीह नचाप्यन्यपरिग्रहे ।
नद्वितीयश्चसाध्वीनां क्वचिद्भर्त्तोपदिश्यते १६२

अ०—पत्यौ प्रेते विधवा स्त्री देहं रसरक्तमांसादिरूपेणोपचितं नितम्बकुचादिरूपं कामासक्तिसम्बद्धं पापहेतुकं कामन्तु क्षपयेद्रसरुधिरादिवृद्धिहेतुतया कामोत्पादकं पयः शाल्योदनादिभोज्यं हित्वा शाकमूलफलैरल्पैर्भक्षितैरल्पाहारैरुपवासैर्वा शरीरं शोषयेदेतद्वरं किन्तु परस्यान्यपुरुषस्य पतित्वेन नामापि न गृह्णीयात् । एक एव पतिरासां तासां पतिव्रतानां यो धर्मस्ताभिः सर्वसुखहेतुर्यो गुणो धृतस्तमनुत्तमं धर्मं काङ्क्षन्ती-आमरणान्मरणावधि क्षान्ता कामोद्वेगं सहमाना नियता सर्वेन्द्रियाणि वशीकुर्वती ब्रह्मचारिण्यासीत । नच नियोगादिना पत्यन्तरं कुर्वती कापि पतिव्रता सम्भवति । यथा विप्राणां कुमारब्रह्मचारिणामनेकानि सहस्राणि कुलसन्ततिमकृत्वा दिवं गतानि स्वर्ग-

माप्नानि तथा मृते भर्त्तरि ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता साध्वी स्त्री-अपुत्रापि निर्वंशाऽपि स्वर्गं गच्छति । या स्त्री त्वपत्यलोभान्नियोगादिना स्वकुक्षिजं पुत्रमिच्छन्ती मृतं भर्त्तारमतिवर्त्तते तमतिक्रम्य पुरुषान्तरेण सह संवसति । सेह लोके निन्दामवाप्नोति प्रत्यक्षमिदमनिष्टं, पतिलोकाच्च जन्मान्तरे हीयते नैव सा जन्मान्तरेऽपि पतिं लभते लब्ध्वा वा पतिहीना जायते । अन्येन पुरुषेण नियुक्तेनोत्पन्ना प्रजा नास्ति तत्कुलस्य सन्ततिः सा न भवति । नचाप्यन्यस्य भार्य्यायामुत्पादिता प्रजोत्पादकस्य भवति यथा शणसूत्रनिर्मितं वसनं न क्षुमायाः सम्भवति । अतएव साध्वीनामुत्तमकोटिस्थयोषितां सनातनं धर्मं पालयन्तीनां न क्वापि धर्मशास्त्रादिषु द्वितीयः पतिः कर्त्तुमुपदिश्यतेऽपितु मध्यमानामसाध्वीनां सनातनधर्मपालनाक्षमाणां स नियोगादिरूप आपद्धर्मउच्यते ॥

भा०—तपस्विनीनां विधवानामयमेव प्रधानो मुख्यो धर्मो यन्निःसत्त्वैरल्पाहारैरुपवासैर्व्रतैर्वा शरीरमपि शोषयेयुः किन्तु पत्यन्तराशां स्वप्नेऽपि न कुर्युः । अस्मिन्कृच्छ्रतमे व्रते यादृशं कष्टसहनाधिक्यं तादृशमेव भविष्यति विशिष्टं सुखम् । याश्चास्मिन् मरणावधिके व्रते ब्रह्मचर्ये स्थातुमशक्तास्ताभिरापदि नियोगादिवक्ष्यमाणविधिना पत्यन्तरः स्वीकार्यः । भ्रूणहत्यागर्भस्रावपराययोषिद्वृत्त्या जीवनापेक्षया नियोगादिना पत्यन्तरस्वीकारोऽपि धर्म्यः साधुरेव सनातनधर्मापेक्षयानिन्दितश्च । अपुत्रस्य गतिर्नास्तीति के-

चन मन्यन्ते तच्च न सार्वदेशिकं कथनमितिमनुमतम् । यथा विशिष्टबलिनः सहायं नापेक्षन्तएवमुत्तमसनातन- ब्रह्मचर्यादिप्रबलधर्मसेविनः पुत्रैर्विनापि स्वकर्मभिरेव स्वर्गसुखमाप्नुवन्ति । नच ते सन्तानाभावदुःखानलेन दह्यन्ते तेषां तु सुगतिर्भवत्येव । येचाधमाः सन्तानाभावदुःखानलेनदन्दह्यमाना भृशं पीडिता यथाकथमपि जन्म व्यतीत्य म्रियन्ते न तेषां सुगतिर्नच तेषां तादृशं सुकृतमस्ति । तस्मादपुत्रस्य गतिर्नास्तीति जनश्रुतिरेकदेशिनी स्पष्टा । नियोगादिना जायमानाः क्षेत्रजादयः पुत्राः सन्तानाभावकालेऽङ्गीकृता अपि वस्तुतस्तत्पुत्रा न भवन्ति–अर्थादौरसापेक्षया तेषामपुत्रत्वं निकृष्टत्वं चोचितमेव । निःसन्तानापेक्षया च तेषां यथाकथमपि सन्तानत्वमस्त्येव । यथाऽन्यक्षेत्रोत्पन्ने स्वस्य बीजमतो बीजद्वारेणान्यत्र क्षेत्रद्वारेण सन्तानत्वं मन्तव्यम् ॥ १६२ ॥

भाषार्थः–(पत्यौ प्रेते) पति के मर जाने पर विधवा स्त्री (शुभैः शाकमूलफलैर्देहं कामन्तु क्षपयेत्) रस रुधिर और मांसादि को बढ़ाने वाले होने से कामोत्पादक दूध भात आदि उत्तम भोजन को छोड़ कर जो निषिद्ध तमोगुणी वा कामोद्दीपक रजोगुणी न हों ऐसे सत्त्वगुणी शुद्ध शाक मूल और फलों के अल्प आहारों से वा कभी २ उपवासों से रस रुधिर वा मांसादि रूप से संचित हुए–मुटाये नितम्ब तथा छाती=कुचादि रूप–कामासक्ति सम्बन्धी पाप के हेतु शरीर के मोटेपन को भले ही क्षीण करदे–सुखा डाले [शरीर में मोटापन न रहेगा छाती आदि का सब मांस सूख जावेगा हड्डी मात्र रह जायगा । तब उस को कामभोग की इच्छा स्वयं न होगी और न कोई पुरुष उस को देख कर चाहेगा अर्थात् कुचादि का मांस ही काम का कारण है । यद्यपि शरीर को दुःख दे २ कर सुखाना जिस को अपने भीतर से कोई नहीं चाहता वह अच्छा काम

नहीं है तथापि पर पुरुष से संयोग करना उस से भी अत्यन्त बुरा है। इस कारण शरीर सुखाना सापेक्ष अच्छा हुआ] (परस्य तु नामापि न गृह्णीयात्) विधवा स्त्री अपने मृत पति से भिन्न अन्य पुरुष का पति करने के उद्देश से कभी नाम भी न लेवे (यएकपत्नीनां धर्मस्तमनुत्तमं काङ्क्षन्ती) एक ही स्त्री का पति होता, अन्य पति का स्वप्न में भी जो ध्यान नहीं करतीं ऐसी पतिव्रता स्त्रियों का जो धर्म है उन्हों ने सब सुखों के हेतु जिस उत्तमोत्तम गुण को धारण किया है उस पतिव्रताओं के सर्वोत्तम धर्म की काङ्क्षा करती हुई विधवा स्त्री (आमरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिण्यासीत) मरण पर्यन्त काम भोग के वेग को सहती तथा इन्द्रियों को वशीभूत रखती हुई ब्रह्मचारिणी हो कर बैठी रहे तब वह तपस्विनी पूज्या देवी हो जायगी उस का उज्ज्वल धर्म उदित होगा। नियोगादि के नाम से किसी पुरुषान्तर से संयोग करने वाली स्त्री पतिव्रता कदापि नहीं हो सकती (विप्राणां कुमारब्रह्मचारिणामनेकानि सहस्राणि कुलसन्ततिमकृत्वा दिवं गतानि) बाल्यावस्था से कुमार ब्रह्मचारी अनेक सहस्रों ब्राह्मण सन्तानोत्पत्ति किये विना ही स्वर्ग सुख को प्राप्त हो गये (यथा ते ब्रह्मचारिणः) जैसे वे ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेता लोग निर्वंश पुत्र हीन होने पर भी परमपद को प्राप्त हो गये वैसे ही (मृते भर्त्तरि ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिताऽपुत्रापि साध्वी स्त्री) पति के मर जाने पर पूर्ण ब्रह्मचारिणी रहती तप करती हुई सच्ची शुद्धा स्त्री पुत्रहीन निर्वंश होने पर भी (स्वर्गं गच्छति) परम पद स्वर्ग धाम को प्राप्त हो जाती है (यातु स्त्री-अपत्यलोभाद् भर्त्तारमतिवर्त्तते) जो स्त्री पति के न रहने पर सन्तानोत्पत्ति के लोभ से नियोगादि द्वारा सन्तान चाहती हुई अपने पति का उल्लङ्घन कर अन्य पुरुष से संयोग करती है (सेह निन्दामवाप्नोति) वह इस जन्म में निन्दा को प्राप्त होती यह बड़ा प्रत्यक्ष अनिष्ट फल है और (पतिलोकाच्च हीयते) जन्मान्तर में पति को प्राप्त नहीं होती वा पति मिलता है तो रहता नहीं विधवा हो जाती है (इहान्योत्पन्ना प्रजा नास्ति) अन्य नियुक्तादि पुरुष से उत्पन्न हुई पुत्रादि प्रजा उस कुल की वा उस पुरुष की नहीं होती जिस की स्त्री में उत्पन्न हुई है और (नचाप्यन्यपरिग्रहे) और अपने वीर्य से अन्य की स्त्री में उत्पन्न किया पुत्र भी अपना पुत्र नहीं होता, [जैसे कि सन के सूत्रों से बना वस्त्र रेशमी नहीं हो सकता वैसे अन्य पुरुषके उपादान कारण वीर्यसे हुआ पुत्र स्त्रीवाले का कैसे होगा?

कदापि नहीं । इस कारण नियोगादि द्वारा सन्तानोत्पत्ति करना उत्तम पक्ष नहीं] इसी कारण (साध्वीनां क्वचिद्द्वितीयश्च भर्त्ता नोपदिश्यते) उत्तमकोटिस्थ धर्मनिष्ठ सनातन धर्म का पालन करती हुई स्त्रियों के लिये कहीं धर्मशास्त्रादि में द्वितीय पति करने का उपदेश—आज्ञा नहीं है । किन्तु सनातन धर्म का पालन करने में असमर्थ असाधु मध्यम कक्षा की स्त्रियों के लिये वह नियोगादिरूप आपत्काल का धर्म कहा गया है ॥

भा०—तपस्विनी विधवा स्त्रियों का प्रधान वा मुख्य धर्म यही है कि कम शक्ति वाले सूक्ष्म आहारों उपवासों वा व्रतों द्वारा शरीर को भी सुखादेवें किन्तु दूसरे पुरुष से संयोग करने की इच्छा कभी स्वप्न में भी न करे । इस अत्यन्त कठिन व्रत में जितना अधिक कष्ट सहने पड़ेगा वैसा ही भविष्यत् में अधिक सुख होगा । जो विधवा स्त्रियां मनु जी की धर्मानुकूल आज्ञा का पालन करती हुई मरण पर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रत से ठहर सकती हैं उन के लिये नियोगादि नहीं है और जो जन्मपर्यन्त इस ब्रह्मचर्यव्रत का पालन नहीं कर सकतीं उन को आपत्काल में आगे कहे नियोगादि के प्रकार से अन्य पुरुष को पति कर लेना चाहिये । गर्भगिराने गर्भहत्या करने और वेश्यावृत्ति से जीविका करने की अपेक्षा नियोगादि के साथ अन्य पति का स्वीकार करलेना भी धर्मानुकूल अच्छा ही है परन्तु सनातन धर्म की अपेक्षा आपद्धर्मरूप नियोगादि निन्दित भी है। कोई लोग मानते हैं कि निर्वंशी की अच्छी गति नहीं होती सो यह सर्वदेशी बात नहीं है यह मनु जी का मत है । जैसे अधिक बलवान् लोग किसी सहायक की अपेक्षा नहीं रखते । इसी प्रकार उत्तम सनातन ब्रह्मचर्यादि प्रबल धर्म का सेवन करने वाले पुत्रों के विना भी अपने कर्मों से ही स्वर्ग सुख को प्राप्त होते हैं किन्तु उन लोगों का हृदय सन्तान के अभावरूप दुःखाग्नि से दग्ध नहीं होता । उन की तो सुगति होती ही है । और जो सन्तान के न होनेरूप दुःखाग्नि से जलने वाले अत्यन्त पीड़ित नीच कक्षा के मनुष्य जिस किसी प्रकार जन्म बिताकर मरते हैं उन का न वैसा सुकृत पुण्य होता और न उन की अच्छी गति होती है । तिस से अपुत्र की गति नहीं होती यह जनश्रुति स्पष्ट ही एकदेशी है नियोगादि से होने वाले क्षेत्रज आदि सन्तान, औरस निज पुत्र के न होने पर स्वीकार वा प्राप्त किये भी वास्तव में उस के पुत्र नहीं होते अर्थात् औरस पुत्र की अपेक्षा उन को अपुत्र कहना वा नीच मानना उचित ही है । और सन्तानों के सर्वथा न होने की अपेक्षा तो कुछ २ पुत्रत्व-

होता ही है। परन्तु औरस सन्तान वाले से भी निस्सन्तान तपस्वी पूर्ण ब्रह्मचारी जन्मान्तर में अधिक सुख स्वर्ग पाता है और सन्तानों वाला होने पर भी अच्छा तपस्वी विरक्त हो तो पूर्ण ब्रह्मचारी से नीचे औरस सन्तान वाले सामान्य से ऊपर रहेगा। अन्य के खेतरूप स्त्री में उत्पन्न हुए में अपना बीज होने से और अपनी स्त्री में अन्य से उत्पन्न हुए में खेत के द्वारा सन्तानपन आता है वह व्यभिचार वा वेश्या कर्म से अति अच्छा है ॥ १६२ ॥

पतिंहित्वापकृष्टंस्व-मुत्कृष्टंयानिषेवते ।
निन्द्यैवसाभवेल्लोके परपूर्वेतिचोच्यते ॥
व्यभिचारात्तुभर्त्तुःस्त्री लोकेप्राप्नोतिनिन्द्यताम् ।
शृगालयोनिंप्राप्नोति पापरोगैश्चपीड्यते ॥
पतिंयानाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
साभर्त्तृलोकमाप्नोति सद्भिःसाध्वीतिचोच्यते ॥
अनेननारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता ।
इहाग्र्यांकीर्त्तिमाप्नोति पतिलोकंपरत्रच ॥
एवंवृत्तांसवर्णांस्त्रीं द्विजातिःपूर्वमारिणीम् ।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्चधर्मवित् ॥
भार्य्यायैपूर्वमारिण्यै दत्वाग्नीनन्त्यकर्मणि ।
पुनर्दारक्रियांकुर्या-त्पुनराधानमेवच ॥
अनेनविधिनानित्यं पञ्चयज्ञान्नहापयेत् ।
द्वितीयमायुषोभागं कृतदारोगृहेवसेत् ॥१६८॥

इति श्रीमानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां
शौचविधिः पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अ०—अपकृष्टं रूपगुणादिहीनं स्वं पतिं हित्वोत्कृष्टमन्यं पुरुषं पतित्वेन या निषेवते सा लोके निन्द्यैव भवति नतु अस्या परपूर्वेति निन्दितनाम्ना चोच्यते लोकैः। भर्त्तुर्व्य-भिचाराल्लोके स्त्री निन्द्यत्वं प्राप्नोति शृगालयोनिं चाप्नोति जन्मान्तरे। तत्रात्रच पापरोगैः कुष्ठादिभिश्च पीड्यते। या च मनोवाग्देहसंयता सती पतिं नाभिचरति सा भर्त्तृलोकं स-म्यक्पोषकपालकसुखदसामीप्यं प्राप्ता सद्भिः साध्वीतिप-देनोच्यते। अनेन वृत्तेन सह वर्त्तमाना मनोवाग्देहसंयता नारी-इहलोकेऽग्र्यां कीर्त्तिं परत्र च पतिलोकं स्वर्गमाप्नोति। एवंवृत्तां पूर्वमारिणीं सवर्णां स्त्रीं धर्मविद्द्विजातिरग्नि-होत्रेण यज्ञपात्रैश्च सह दाहयेत्। पूर्वमारिण्यै भार्य्याया अन्त्यकर्मणयग्नीन्दत्वा पुनर्दारक्रियां पुनर्विवाहं पुनरा-धानमावसथ्याधानमेव च कुर्यात्। एवमायुषो द्वितीय-भागावधि कृतदारो गृहे वसन्ननेन विधिना नित्यं पञ्चय-ज्ञान्न हापयेत् न त्यजेत् ॥

भा०—यदादौ केनापि विशिष्टसमारोहपुरस्सरं बहून् सज्जनान्परीक्षकान्विदुषो लौकिकांश्च प्राज्ञान् साक्षिणः कृत्वा प्रतिज्ञायतइदमित्थमेव करिष्यामीति तस्य परिवर्त्तने परि-त्यागे चात्यन्तं पापं न्यायसिद्धमेव। विवाहकाले च स्त्री-पुंसाभ्यां मनुष्याएव साक्षिणो नैव क्रियन्तेऽपितु सर्वाध्यक्षः सत्यः सनातनः सर्वनियन्तेश्वरोऽपि ताभ्यां स्वप्रतिज्ञायां मध्यस्थः क्रियते तस्या विघाते मध्यस्थः कुप्यति तद्भयान्न

कयापि पतिरनादरणीयः । यदि निरपराधां भार्यां पुरुषो ज-
ह्यात्क्लेशयेद्वा तदा सोऽपि तथैव पापः । स्त्री च पराधीना
सती सापराधमपि न जह्यादपितु सेवेत । नच पुरुषेऽपरा-
धिनि भार्य्या पापिनी भवति । तस्माद्वामया सदैव पत्युरनुकू-
लतया भाव्यम् । यदि पतिव्रता स्त्री सर्वथा पतिमेव भजमाना
पूर्वं म्रियेत तदा स गृही जनोऽग्निहोत्रपात्रादिभिः सहैव तां
दग्ध्वा पुनर्दारक्रियामन्यया कन्यया पुनर्विवाहं पुनर्गार्हप-
त्याधानं च कुर्यात् । तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या
सहोदितः । इति नवमे वक्ष्यति तेन यो वैदिकं धर्ममनु-
तिष्ठासुस्सएव पुनर्विवाहं कुर्यान्नतु सर्वः । यश्चाग्निहोत्रा-
दिकं भार्य्यया सह नियमेन न करोति तस्यैकोऽपि विवाहो
नैव धर्महेतुरपितु धर्मबाधकएव तदा कुतस्तस्य द्वि-
तीयः परिणयः । यश्च केवलेन ब्रह्मयज्ञेन सह तपोऽनुतिष्ठा-
वैराग्ये चाधिकृतस्तेनापि पुनर्विवाहो न कार्योऽपितु
तपोवनमाश्रयेत् । वानप्रस्थो वा स्यात् ॥ १६९ ॥

भावार्थः—(या स्वमपकृष्टं पतिं हित्वोत्कृष्टं निषेवते) जो स्त्री रूप
धनादि रहित अपने विवाहित निकृष्ट पति को छोड़ के अन्य रूपवान् धनवान्
आदि का सेवन करती—वैसे को पति बनाती है । (सा लोके निन्द्यैव भवेत्)
वह लोक में निन्दा के योग्य ही होती किन्तु उस की प्रशंसा कोई नहीं करता
(परपूर्वेतिचोच्यते) अन्य २ पुरुष से संयोग करने वाली परपूर्वा इस निन्दित नाम
से कही जाती है (भर्त्तुर्व्यभिचारात्तु स्त्री लोके निन्द्यतां प्राप्नोति) पति का अपमान
और त्याग कर अन्य पुरुष से व्यभिचार करने वाली स्त्री लोक में निन्दा को
प्राप्त होती तथा जन्मान्तर में (शृगालयोनिं प्राप्नोति) श्यार की योनि में जन्म
लेती अथवा मनुष्यादि योनि में (पापरोगैश्च पीड्यते) कुष्ठादि असाध्य पाप
के फलरूप रोगों से पीडित होती है (या मनोवाग्देहसंयता पतिं नाभिचरति)

जो मन वाणी और अपने शरीरस्थ इन्द्रियों को सुरक्षित वशीभूत निग्रह बुरा-ई से अलग रखती हुई अपने पति से भिन्न पुरुष की कदापि चाहना नहीं कर-ती पति से विरोध व्यभिचार नहीं करती (सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः सा-ध्वीति चोच्यते) वह सम्यक् पालन पोषण करने सुख देने वाले पुरुष के समीप पतिव्रता होकर रहती हुई श्रेष्ठ पुरुषों से साध्वी कहाती है (अनेन नित मनोवाग्देहसंयता नारी) इस उक्त वर्त्ताव के सहित वर्त्तमान, मन वाणी और इन्द्रियों को वश रखती हुई नारी (इहाग्र्यां कीर्त्तिमाप्नोति) इस लोक वा आगे जन्म में उत्तम निर्मल कीर्त्ति को पाती (परत्र च पतिलोकम्) और जन्मा-न्तर में पति के उत्तम स्वर्गलोक को प्राप्त होती है (एवंवृत्तां पूर्वमारिणीं सव-र्णां स्त्रीम्) ऐसे वर्त्ताव वाली स्ववर्ण की पहिले मरी हुई स्त्री को (धर्मवि-दग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च दाहयेत्) धर्मज्ञ पति अग्निहोत्र और यज्ञपात्रों के सहित जला देवे (पूर्वमारिण्यै भार्यायाअन्त्यकर्मणि) अपने से पहिले मरी स्त्री के अन्त्येष्टि कर्म में (अग्नीन् दत्वा) आहवनीयादि तीनों अग्नि देकर (पुनर्दार-क्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च) फिर विवाह करे और फिर से विवाहाग्नि का विधिपूर्वक आधान कर अग्निहोत्र लेवे (अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत्) इस उक्त प्रकार से वर्त्ताव करता हुआ पुरुष पञ्चमहायज्ञों का नित्य ही त्याग न करे किन्तु सेवन करे और इस उक्त रीति से (द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्) आयु के द्वितीय भाग नाम २५—५० वर्ष तक में विवाह कर स्त्री के समीप घर में रहे ॥

भा०—कोई पुरुष प्रथम आरम्भ में ही जिस कर्त्तव्य की दृढ़ प्रतिज्ञा विशेष समारोह पूर्वक वहुत सज्जन परीक्षक विद्वानों तथा लौकिक बुद्धिमानों को साक्षी करके करता है कि मैं इस काम को ऐसा ही करूंगा। उस के लौटने वा छोड़ देने में अत्यन्त पाप न्यायसिद्ध ही है। इसी के अनुसार विवाह स-मय में स्त्री पुरुष केवल मनुष्यों को ही साक्षी नहीं बनाते किन्तु वे दोनों स-त्य सनातन सर्व नियन्ता सर्वाध्यक्ष ईश्वर को भी अपनी प्रतिज्ञा में मध्यस्थ क-रते ही हैं उस प्रतिज्ञा के तोड़ देने पर मध्यस्थ साक्षी ईश्वर भी उन पर क्रोध करता है। इसी ईश्वरीय क्रोध के भय से किसी स्त्री को पति का अनादर कभी नहीं करना चाहिये। यदि निरपराध स्त्री को पुरुष छोड़ दे वा दुःख देवे तो वह भी वैसा ही पापी होता है। पर स्वभाव से पराधीन रहने वाली स्त्री

अपराधी पति को भी न त्यागे किन्तु उस की सेवा ही करे । क्योंकि पुरुष के अपराधी होने पर स्त्री पापिनी नहीं होती इसी से व्यभिचारी वा चोरादि की स्त्री वैसी न होने पर व्यभिचारिणी आदि नहीं कहाती । इस से स्त्री को सदैव पति की अनुगामिनी अनुकूल वर्त्ताव करने वाली होना चाहिये । यदि पतिव्रता स्त्री सर्वथा पति का ही सेवन करती हुई पति से पहिले मर जावे तो अग्निहोत्र के पात्रादि सहित ही उसकी दाहक्रिया करके अन्य कन्या के साथ पुनर्विवाह करे और फिर से अग्न्याधान करे । साधारण गृहाश्रम सम्बन्धी धर्म वेद में पत्नी के साथ मिल के करना कहा है यह आगे नवमाध्याय में कहेंगे। तिस से जो वेदोक्त अग्निहोत्रादि श्रौतकर्म नियम से विधिपूर्वक करना चाहे वही पुनर्विवाह करे सब कोई नहीं । जो पुरुष स्त्री के साथ विधिपूर्वक नियम से अग्निहोत्रादि नहीं करता उस का एक भी विवाह धर्म का हेतु नहीं है किन्तु धर्म का बाधक ही है तब उस का द्वितीय विवाह धर्मानुकूल कैसे हो सकता है ? । जो पुरुष केवल ब्रह्मयज्ञ के साथ तप करता और चाहता है वैराग्य की ओर जिस की झुकावट है उस को भी पुनर्विवाह नहीं करना चाहिये किन्तु वह तपोवन का आश्रय करे वा वानप्रस्थ होजावे ॥ १६९ ॥

इति श्री भीमसेनशर्म्मनिर्मिते मानवधर्ममीमांसाभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः पूर्त्तिमगात् ॥

260
169
97

अथ षष्ठाध्यायारम्भः ॥

एवंगृहाश्रमेस्थित्वा विधिवत्स्नातकोद्विजः ।
वनेवसेत्तुनियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥
[अतःपरंप्रवक्ष्यामि धर्मंवैखानसाश्रमम् ।
वन्यमूलफलानांच विधिंग्रहणमोक्षणे ॥ १ ॥
गृहस्थस्तुयदापश्येद् बलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैवचापत्यं तदारण्यंसमाश्रयेत् ॥
संत्यज्यग्राम्यमाहारं सर्वंचैवपरिच्छदम् ।
पुत्रेषुभार्य्यांनिःक्षिप्य वनंगच्छेत्सहैववा ॥
अग्निहोत्रंसमादाय गृह्यंचाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यंनिःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेनवा ।
एतानेवमहायज्ञा-न्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥
वसीतचर्मचीरंवा सायंस्नायात्प्रगेतथा ।
जटाश्चबिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानिच ॥
यद्भक्ष्यंस्यात्ततोदद्याद् बलिंभिक्षांचशक्तितः
अम्मूलफलभिक्षाभि-रर्चयेदाश्रमागतान् ॥
स्वाध्यायेनित्ययुक्तःस्या-द्दान्तोमैत्रःसमाहितः

दातानित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥
वैतानिकञ्चजुहुया--दग्निहोत्रंयथाविधि ।
दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासंचयोगतः ॥
ऋक्षेष्ट्याग्रयणंचैव चातुर्मास्यानिचाहरेत् ।
तुरायणंचक्रमशो दाक्षस्यायनमेवच ॥
वासन्तशारदैर्मेध्यै-र्मुन्यन्नैःस्वयमाहृतैः ।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥
देवताभ्यस्तुतद्धुत्वा वन्यंमेध्यतरंहविः ।
शेषमात्मनियुञ्जीत लवणंचस्वयंकृतम् ॥१२॥

अ०--स्नातको द्विज एवं विधिवद्गृहाश्रमे स्थित्वा यथावद्विजितानीन्द्रियाणि येन तादृशः सन् तपःस्वाध्यायकर्मणि नियतो निरतो वने वसेत् । अत्रैकं पद्यं पाश्चात्य क्षिप्तमस्ति । गृहस्थस्तु यदात्मनः स्वस्य बलीपलितं श्वेतकेशानपत्यस्यैव चापत्यमुत्पन्नं पश्येत्तदाऽरण्यं समाश्रयेत् । ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव ग्राम्यं परिच्छदं सुखसम्भारं संत्यज्य पुत्रेषु भार्य्यां च निःक्षिप्य सहैव वा वनं गच्छेत् । अग्निहोत्रं गृह्यमग्निपरिच्छदं च समादाय ग्रामादरण्यं निःसृत्य नियतेन्द्रियो निवसेत् । विविधैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः शाकमूलफलैर्वैतानुक्तानेवान्नसाध्यान् महायज्ञान् विधिपूर्वकं निर्वपेत् । स तपस्वी वने च निवसन् तृणवल्कलादिजन्यं चर्मणो वा चीरं वस्त्रं कौपीनादिकार्यं वसीत । सायं प्रातः स्नायात् ।

श्मश्रुलोमनखानि च जटाश्च नित्यं बिभृयात् । स्वसन्निधौ यद्भक्ष्यं स्यात्ततएव बलिं भिक्षां च शक्तितो दद्यात् । स्वाश्रममागतानम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेत् । मैत्रीपरः समाहितइन्द्रियाणि दमयन्स्वाध्याये वेदाध्ययनजपादिकर्मणि नियुक्तः सर्वभूतानुकम्पको नित्यं दाताऽन्यस्मादनादाता च स्यात् । दर्शं पौर्णमासं च पर्वास्कन्दयन् योगतः स्वकाले न परित्यजन् वैतानिकं श्रौतमग्निहोत्रं यथाविधि जुहुयात् । ऋक्षेष्टिराग्रयणेष्टि,चातुर्मास्येष्टि,तुरायणेष्टि–संवत्सरेण जायमाना,दाक्षायणेष्टि,एता इष्टीः क्रमशो निर्वपेत् । वासन्तैः शारदैश्च मेध्यैर्मुन्यन्नैः पुरोडाशांश्चरूंश्चैव पृथक्पृथङ् निर्वपेत् । तद्वन्यं मेध्यतरं हविर्देवताभ्यो हुत्वा शेषमवशिष्टं स्वयं कृतं लवणं चात्मनि युञ्जीत–भुञ्जीत ॥

भा०–अस्मिन्नध्याये द्वाविंशतितमपद्यावधि वानप्रस्थधर्मा उच्यन्तेऽनन्तरं च संन्यासिनाम् । सामान्यतया पञ्चाशद्वर्षायुष्के पूर्णे वानप्रस्थेन भाव्यमिति विधीयते । विशेषतस्तु पुत्राः सुरक्षिताः सुशिक्षिताश्च गृहप्रबन्धक्षमा उपार्जनादिक्षमाश्च पौत्रोत्पत्तिकाले प्रायेण भवन्ति । भार्या च शिथिला गतयौवना स्वस्य मनसो विषयेषु परितोषश्च स्यात्सद्यानुकूल्यं यदा स्यात्तदैव वानप्रस्थेन भाव्यमिति सद्यविकल्पाशयः । वन्यापेक्षया ग्राम्यं सर्वमपवित्रं सङ्गदोषाद्विषयवासनोद्बोधकं च तस्मादेव ग्राम्यं कार्पासादिवासोऽपि त्याज्यमेव । शृङ्गारत्यागाय तपस्विवेषेण स्थित्यै च जटादीनां धारणम् । यथा गृहस्थेनातिथ्यादीनां सत्कारः स्वसन्निहितभोज्यपेयादिना क्रियते तथैव मूलफलोदकादिना

वनस्थोऽप्यागतान् सत्कुर्यादेव । वसन्ते शरदि च कालद्वय एव सर्वाश्रोषधयो ग्राम्या वन्या वा प्रायेण पच्यन्ते स्वभावतस्तज्जन्यचरुपुरोडाशादिनैव दर्शपौर्णमासादिकं सर्वमेव श्रौतं कर्म गृहस्थवदेव कुर्वीत । घृतादिहव्याभाव मन्वानो नैव तज्जह्यात् । यत श्रोषध्यन्नादेव भक्षिताद् दुग्धादिद्वारेण घृतादिकमुत्पद्यते तच्चौषध्यादिकारणे कारणरूपेण शुद्धं विद्यतएव । तथा च न तस्याभावः ॥१२॥

भावार्थः—(स्नातको द्विजः) स्नातक ब्राह्मणादि (एवंविधिवद्गृहाश्रमे स्थित्वा) इस उक्त प्रकार गृहस्थ के धर्मों का ठीक २ पालन करता हुआ गृहाश्रम में रह कर (यथावद्विजितेन्द्रियो नियतो वने वसेत्) यथावत् जीती हैं इन्द्रियां जिसनें ऐसा हुआ तप और स्वाध्याय कर्म में तत्पर हुआ वन में वसे इसी के आगे एक श्लोक पीछे का मिलाया है उस का अर्थः-"इस से आगे वैखानस ऋषि के कहे तृतीय वानप्रस्थाश्रम के धर्म को और वन के मूल फलों के ग्रहण वा त्याग करने सम्बन्धी विधान को मैं [भृगु] कहता हूं" (गृहस्थस्तु यदात्मनो वलीपलितमपत्यस्यैव चापत्यं पश्येत्) गृहस्थ पुरुष जब अपनी त्वचा में वृद्धावस्था की सिमटन, वालों का श्वेत हो जाना अथवा पुत्र का भी पुत्र हो गया देखे (तदारण्यं समाश्रयेत्) तव वन में रहना स्वीकार करे (ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदं संत्यज्य) ग्राम वा नगर के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए सब आहार और सुख भोग के ग्राम सम्बन्धी सब साधनों को सम्यक् त्याग के (भार्यां पुत्रेषु निःक्षिप्य) स्त्री को पुत्रों के समीप सोंप कर (सहैव वा) अथवा स्त्री भी तप करने की इच्छा और शक्ति वा ठीक साहस रखती हो तो स्त्री को साथ लेकर ही (वनं गच्छेत्) वन को जावे (अग्निहोत्रं गृह्यं चाग्निपरिच्छदं समादाय) गृहाश्रम में जैसा अग्निहोत्र होता रहा उस को तथा सब यज्ञपात्रादिको साथ ले कर (ग्रामादरण्यं निःसृत्य) ग्राम से निकल कर वन में (नियतेन्द्रियो निवसेत्) इन्द्रियों को वशीभूत रखता हुआ वसे (मेध्यैर्विविधैर्मुन्यन्नैः शाकमूलफलेन वा) अति पवित्र नानाप्रकार के मुन्यन्नों और शाकमूल फलोंरूप सामग्री से (एतानेव महायज्ञान् विधिपूर्वकं निर्वपेत्) इन्हीं पूर्वोक्त अन्नसाध्य अग्निहोत्रादि महायज्ञों को विधिपूर्वक किया करे अर्थात् अग्निहोत्र में जहां

...न की आहुति दी जाती हो वहां भी मुन्यन्नादि की आहुति देना अनुचित नहीं है (चर्मचीरं वा वसीत) चर्म का वस्त्र बना के ओढ़े वा वृक्षों की वक्कल अथवा किसी तृण का वस्त्र बना के पहने (सायं तथा प्रगे स्नायात्) सायं प्रातः नित्य स्नान करे (जटाश्च श्मश्रु लोमनखानि च नित्यं बिभृयात्) शिर के ...ल और डाढ़ी मोंछ तथा हाथ पांव के नखों को काटना कटवाना बन्द कर ...ये सब बाल और नख रखा लेवे (यद्भक्ष्यं स्यात्ततो भिक्षां बलिं च शक्तितो ...त्) जो कुछ खाने का पदार्थ अपने पास हो उसी में से वैश्वदेव करे और ...क्ति के अनुसार ब्रह्मचारी आदि को भिक्षा भी देवे, (अम्मूलफलभिक्षाभिरार्चयेत् आश्रमा-...गतान्) फल मूल वा केवल जल सम्बन्धी भिक्षा से ही अपनी कुटी वा आश्रम में आये हुओं का सत्कार करे (दान्तो मैत्रः समाहितः) इन्द्रियों को वश में ...रता और किसी से लेशमात्र भी द्वेष न करता हुआ किन्तु मित्रबुद्धि से सब का ...ला चाहता हुआ (स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्) विधिपूर्वक नियमानुकूल ...वेदाध्ययन वा जपादि करने में नित्य ही तत्पर रहे (दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः) सब प्राणियों पर हृदय से कृपादृष्टि रखता हुआ नित्य ही दानशील कुछ न कुछ पदार्थ अन्यों को देने वाला तथा अन्यों से कुछ भी लेने की चेष्टा न करता हुआ निर्वाह करे इसी दशा में रहने को स्वीकार वा प्रसन्न ...रे (पौर्णमासं दर्शं च पर्व योगत आस्कन्दयन्) दर्श और पौर्णमास पर्वों में होम वा इष्टि करने के समय को न त्यागता हुआ (वैतानिकमग्निहोत्रं यथाविधि जुहु-यात्) श्रौत अग्निहोत्र को भी ब्राह्मणग्रन्थों में जैसा विधान किया है वैसा ही किया करे (ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत्) नक्षत्रेष्टि जो कृत्तिकादि नक्षत्रों में विधान किये हैं । आग्रयण नाम नवसस्येष्टि, चातुर्मासेष्टि (तुरायणं च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव च) तुरायण नाम संवत्सरेष्टि, और दाक्षायणेष्टि इन सब श्रौत इष्टियों को वानप्रस्थ पुरुष नीवारादि नामक धान्य के पुरोडाशादि बना कर किया करे (वासन्तशारदैर्मेध्यैः स्वयमाहृतैर्मुन्यन्नैः) वसन्त ऋतु चैत्र वैशाख और शरद् ऋतु क्वार कातिक में उत्पन्न होने वाले स्वयं बीन बटोर के लाये हुए मुन्यन्नों से (पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवत्पृथङ्निर्वपेत्) चरु और पुरो-डाशों को विधिवत् पृथक् २ बनावे (तन्मेध्यतरं वन्यं हविर्देवताभ्यो हुत्वा) उस अति पवित्र वन में उत्पन्न हुए हविष्यान्न का देवताओं के लिये होम करके (शेषमात्मनि युञ्जीत) यज्ञ से शेष बचे को स्वयं खावे (लवणं च स्वयं कृतम्). और वृक्षादि के खार वा मट्टी से स्वयं बनाया लवण खावे ॥

भा०—इस छठे अध्याय में प्रथम ३२ श्लोकों पर्यन्त वानप्रस्थ के धर्म कहते हैं तदनन्तर संन्यासियों के धर्म कहे हैं। सामान्य कर पचाश वर्ष की अवस्था पूर्ण हो जाने पर मनुष्य को गृहस्थ से वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करना चाहिये और विशेष विचार यह है कि पुत्र सुरक्षित सुशिक्षित और घर का प्रबन्ध करने, कमाने योग्य पौत्र नाम उन पुत्रों के पुत्र होते समय होते हैं। अपनी स्त्री शिथिल यौवनावस्था से आगे वृद्ध हो जाय और अपना भी विषयों से सन्तोष हो जाय भोग की तृष्णा न रहे इत्यादि उचित अनुकूलता जब दीख पड़े तभी मनुष्य को वानप्रस्थाश्रम धारण करना चाहिये यही समय के विकल्प दिखाने का आशय है। वन के पदार्थों की अपेक्षा ग्राम का सभी वस्तु अपवित्र और सङ्ग दोष से विषय वासना का भी उद्बोधक है इसी से ग्राम के सूती वस्त्रादि भी त्याज्य ही हैं। शृङ्गार छोड़ने और तपस्वी के वेष से वन में रहने के लिये उस को जटा केशादि सब रख लेने चाहिये। जैसे गृहस्थ अपने समीपस्थ भोजन पानादि द्वारा अतिथि आदि आये गये का सत्कार करता है वैसे ही मूल फल तथा जलादि द्वारा वनस्थ भी आये हुओं का सत्कार अवश्य करे। वसन्त और शरद् ऋतु में ही ग्राम वा वन की प्रायः सभी ओषधियां स्वभाव से ही पकतीं हैं उन्हीं से हुए चरु पुरोडाशादि द्वारा दर्श पौर्णमासादि सब श्रौत कर्म को गृहस्थ के तुल्य ही करे किन्तु घृतादि हविष्य का अभाव मानता हुआ श्रौत कर्म को न छोड़े क्योंकि उस खाये हुए ओषधि वा अन्न से ही दुग्धादि के द्वारा घृतादि उत्पन्न होता है सो वहां ओषधि आदि कारण द्रव्य में कारणरूप से शुद्ध घृतादि विद्यमान ही है। इस दशा में वानप्रस्थ की स्तुति के लिये श्रौत कर्म को व्यर्थ कहने वाले कुल्लूकादि का कथन चिन्तनीय है ॥ १२ ॥

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसम्भवान् ॥
वर्जयेन्मधुमांसं च भौमानि कवकानि च ।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥
त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम् ।

जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥
न फालकृष्टमश्नीया--दुत्सृष्टमपि केनचित् ।
न ग्रामजातान्यार्त्तोऽपि मूलानि च फलानि च ॥
अग्निपक्वाशनो वा स्या--त्कालपक्वभुगेव वा ।
अश्मकुट्टो भवेद्वाऽपि दन्तोलूखलिकोऽपि वा ॥
सद्यः प्रक्षालको वा स्या--न्मास संचयिकोऽपि वा ।
षण्मास निचयो वा स्या--त्समा निचय एव वा ॥
नक्तं चान्नं समश्नीया--द्दिवा वाहृत्य शक्तितः ।
चतुर्थकालिको वा स्या-त्स्याद्वाऽप्यष्टमकालिकः ।
चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्ले कृष्णे च वर्त्तयेत् ।
पक्षान्तयोर्वाऽप्यश्नीया--द्यवागूं क्वथितां सकृत् ॥
[यतः पत्रं समादद्या--त्ततः पुष्पमाहरेत् ।
यतः पुष्पं समादद्या--त्ततः फलमाहरेत् ॥]
पुष्पमूलफलैर्वाऽपि केवलैर्वर्त्तयेत्सदा ।
कालपक्वैः स्वयंशीर्णै--र्वैखानसमते स्थितः ॥२१॥

अ०--स्थलजानि वास्तुकादीनि, औदकानि मोचकादीनि पुष्पमूलफलानि च मेध्यवृक्षोद्भवान्फलसम्भवान्स्नेहांश्चाद्यात् । मधु माक्षिकं मांसं, भौमानि कवकानि च, भूस्तृणं शिग्रुकं श्लेष्मातकफलानि च वर्जयेत् । पूर्वतः संचितमाश्वयुजे मासि सर्वमन्नं जीर्णानि वासांसि शाकमूलफलानि च त्यजेत् । केन-

चिदुत्सृष्टं त्यक्तमपि फालकृष्टं कर्षणानन्तरमुत्पन्नमन्नं ग्रामजातानि मूलानि च फलानि व्यार्त्तोऽपि नाश्नीयात् । अग्निपक्वाशनः कालपक्वभुगेव वा स्यादश्मनि कुट्टितस्य भक्षणपरो दन्तोलूखलिकोऽपि वा स्यात् । सद्य आनीय प्रक्षाल्य प्रत्यहं भुञ्जीत मासपरिमितकालाय संचयिकः, षण्मासनिचयो वा समानिचयएव वा स्यात् । नक्तं दिवा वा शक्तित आहृत्यान्नं समश्नीयात् । चतुर्थकालिको वा स्यादष्टमकालिको वापि स्यात् । चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्ले कृष्णे च पक्षे भोजनं कुर्यात् । क्वथितां यवागूं पक्षान्तयोर्वापि सकृदश्नीयात् । अन्नैवैकं पद्यं पश्चात्क्षिप्तमुपलभ्यते । कालपक्वैः स्वयंशीर्णैः केवलैः पुष्पमूलफलैर्वापि वैखानसमते स्थितः सदा वर्त्तयेत ॥

भा०—अत्र वानप्रस्थेन यादृशं भक्ष्यं भुक्त्वा निर्वाहः कार्यो येन भक्ष्येण धर्मो वर्धेत तथा भक्षणनियमो रक्षणीयइति शास्त्राशयोऽवगन्तव्यः । उत्पत्तितएव पवित्रस्यान्नस्य भोजनेन बुद्धिरपि शुद्धा धर्मानुकूला भवति । मधुमांसादीनि हिंसादिदोषदुष्टानि फालकृष्टोत्पन्नमन्नं हिंसादोषदुष्टमफालकृष्टोत्पन्नं तु ग्राम्याशुद्धिसम्बद्धं च । अग्निपक्वादयो विकल्पास्तु शक्तिभेदप्रदर्शनार्थाः संचयतारतम्यं रागवैराग्यभेदार्थम् । यश्चान्नं कुतोऽपि निर्दोषस्थानात्सद्यएवानीय भुङ्क्ते पुष्पमूलफलानि वा पक्वानि केवलानि भुङ्क्ते संचयं च न साधु मन्यते स वशीकृतेन्द्रियग्राम उत्तमो वानप्रस्थः ॥२१॥

भावार्थः—(स्थलजौदकशाकानि) बथुआ आदि स्थल में उत्पन्न हुए तथा नाड़ी आदि जल में उत्पन्न होने वाले शाक और (मेध्यवृक्षोद्भवानि) पुष्पमूल फ-

लानि च पवित्र सत्त्वगुणी वृक्षों से उत्पन्न हुए पुष्प मूल और फलों को तथा (फलसम्भवान्स्नेहांश्चाद्यात्) नारियल आदि फलों से निकलने वाली घृतादि चिकनाई को खावे [किन्तु पशु के दुग्ध से निकले घृत को न खावे क्योंकि पशु को दुर्बलतादि दुःख देता हुआ दुग्ध तथा घृत प्रकट होता है पर अन्नादि रूप फल में पकने और वृक्ष से अलग होने पर जीव वा जीवन नहीं ठहरता । इसी से वहां हिंसादोष नहीं है] (मधु मांसं च भौमानि कवकानि च) शहद, मांस, पृथिवी में वर्षा ऋतु के समय उगने वाले कठफूल (भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च) भूस्तृण नामक शाक, शिग्रुक–सहजना और लसोढ़ा का फल इन सब का खाना वानप्रस्थ (वर्जयेत्) छोड़ देवे (पूर्वसंचितं मुन्यन्नम्) पहिले का संचित जोड़ के धरा मुन्यन्न (जीर्णानि वासांसि चैव) फटे पुराने वल्कलादि के वस्त्र (शाकमूलफलानि च) औरसं चित धरे हुए शाक मूल फलादि जो सूखे होने आदि कारण से कई महिनों तक ठहर सकते हैं उन सब को (आश्वयुजे मासि त्यजेत्) आश्विन महिने में त्याग देवे क्योंकि वर्षा ऋतु में प्रायः सभी पदार्थ विकारी हो जाते हैं उन को खाने से बुद्धि में भी तमोगुणादि पैदा होकर धर्म कर्म की बाधा होगी (केनचिदुत्सृष्टमपि फालकृष्टं नाश्नीयात्) किसी मनुष्य ने छोड़ दिया हो जो कहीं एकान्तादि में निरर्थक पड़ा भी हो वैसे हल से जोत २ कर बोये गेंहू जौ आदि अन्न को वानप्रस्थ कदापि न खावे (ग्रामजातानि मूलानि च फलानि चार्त्तोऽपि नाश्नीयात्) तथा ग्राम में हल जोते विना भी उत्पन्न हुए मूल फलादि को भूखों मरता हुआ भी वानप्रस्थ न खावे (अग्निपक्काशनो वा स्यात् कालपक्वभुगेव वा) वानप्रस्थ नित्य अग्नि से पका कर खाने वाला हो वा समय पाकर पके अन्न को अग्नि में पकाये विना ही खाने वाला हो (अश्मकुट्टो भवेद्वाऽपि दन्तोलूखलिकोऽपि वा) शिलवटना वा उखली मूसल से कूट पीस वा दरदरा कर खाने वाला हो अथवा केवल दांतों से ही कच्चे अन्न को चबा २ कर खावे शिलवटना आदि का कुछ काम न रक्खे [यदि दांतों में ठीक शक्ति न हो तो शिल आदि पर कुचल पीस कर खावे और दांत बने हों तो शिल आदि पर पीसने की अपेक्षा दांतों से ही चबाना उत्तम है] (सद्यःप्रक्षालको वा स्यात्) तत्काल खा लेने योग्य ही अन्न नित्य २ लाकर खाने वाला हो जोड़ कर न रक्खे (माससंचयिकोऽपि वा) अथवा महिने भर खाने के लिये संचय कर लेने वाला हो (षण्मासनिचयो वा स्यात्) वा छः महिने

के लिये जोड़ कर रखने वाला हो (सुमानिचय एव वा) और अथवा एक वर्ष तक के लिये संचय करने वाला हो। [इन चार पक्षों में कम २ संचय करने वाला अच्छा माना जायगा। सो यदि नित्य २ कहीं से मुन्यन्न वा शाक मूल फलादि तत्काल मिलसकें तो यही पक्ष उत्तम है और ऐसा नहो सकने पर यथासम्भव छोटे २ संचय वाले पक्ष अच्छे रहेंगे] (नक्तं चान्नं समश्नीयात्) एक वार रात को अन्न खाया करे (शक्तितो दिवा वाहृत्य) वा शक्ति के अनुसार दिन को कहीं से लाकर एक वार खाया करे (चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः) अथवा दिन के चौथे पहर में एक वार खाने वाला हो और अथवा आठवें पहर में थोड़ी रात रहे एक वार खाने का अभ्यास डाले (चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्ले कृष्णे च वर्त्तयेत्) अथवा शुक्लपक्ष की प्रतिपदादि तिथि को पन्द्रह ग्रासों में से एक २ ग्रास घटाता जाय और कृष्णपक्ष में प्रतिपदा को एक द्वितीया को दो इत्यादि प्रकार एक २ ग्रास वढ़ाता जाय इसी प्रकार सदा वर्षों तक भोजन किया करे (क्वथितां यवागूं पक्षान्तयोर्वापि सकृदश्नीयात्) अथवा पकाये हुए यवागू जौ के शीरा को अमावास्या और पौर्णमासी दो ही दिन खाया करे [अर्थात् धीरे२ करके जब ऐसी सहन शीलता हो जाय तब महिने भर में दो वार और एक वर्ष में चौवीश वार भोजन करता हुआ तप करे जब इस से भी आगे शक्ति बढ़े तो केवल अब्भक्षी वा केवल वायुभक्षी निराहार हो जावे] इसी के आगे एक श्लोक पीछे मिलाया कहीं २ लिखा मिलता है–जिस वृक्ष के पत्तों से काम निकाले उसी से पुष्प न तोड़े और जिस से पुष्प लेवे उस से फल न लेवे (केवलैः कालपक्वैः स्वयंशीर्णैः पुष्पमूलफलैर्वा सदा वर्त्तयेत्) अथवा सब मुन्यन्नों का भी खाना छोड़ केवल अपने २ ऋतु समय में पके वृक्ष से स्वयं गिरे पुष्प मूल और फलों को खाकर ही निर्वाह करे यह वैखानस ऋषि का मत है अर्थात् वैखानस भी कोई वड़े तपस्वी वानप्रस्थ महात्मा इस पुण्यभूमि पर कभी सुशोभित हो चुके हैं ॥

भा०–इस प्रकरण में–वानप्रस्थ को जैसा वा जितना वा जब २ भोजन खा कर निर्वाह करना चाहिये कि जिस भक्ष्य वस्तु के सेवन से धर्म वढे वैसा खाने का नियम रक्खे यह शास्त्र का संक्षिप्त आशय जानो। उत्पत्ति नाम जड़ से ही जो अन्न पवित्र है उस के भोजन से वुद्धि भी शुद्ध धर्मानुकूल होती है।

मधु और मांसादि पदार्थ हिंसादि करके मिलने से दूषित और हल जोत कर उत्पन्न हुआ अन्न भी हिंसारूप दोष से दूषित है और हल जोते विना ग्राम के समीप में उत्पन्न हुआ हो तो सङ्ग दोष से ग्राम की अशुद्धि उस में अवश्य होगी अग्नि में पकाये वा विना पकाये आदि खाने के विकल्प केवल शक्ति भेद दिखाने के लिये हैं । यदि अग्नि में पकाये विना अन्न को पचा सकता है तो पकाने से न पकाना उत्तम है और न्यूनाधिक संचय के भेद वैराग्य की न्यूनाधिकता दिखाने वा अन्न मिलने की भिन्न २ दशाओं के लिये हैं अर्थात् जहां एक वर्ष में एक ही बार अन्न उत्पन्न होता है वहां एक वर्ष के लिये संचय करके रखलेवे परन्तु जो तपस्वी किसी निर्दोष स्थान से तत्काल नित्य २ लाकर अन्न खाता जोड़ के नहीं रखता अथवा समय पर पके स्वयं गिरे केवल पुष्प फल फलों को ही खाता और जोड़ना भी अच्छा नहीं मानता वह जितेन्द्रिय तपस्वी वानप्रस्थ आर्यों की अपेक्षा उत्तम है ॥२१॥

भूमौविपरिवर्त्तेत तिष्ठेद्वाप्रपदैर्दिनम् ।
स्थानासनाभ्यांविहरे--त्सवनेषूपयन्नपः ॥
ग्रीष्मेपञ्चतपास्तुस्या--द्वर्षास्वभ्रावकाशिकः ।
आर्द्रवासास्तुहेमन्ते--क्रमशोवर्द्धयंस्तपः ॥
उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन्देवांश्चतर्पयेत् ।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः ॥
अग्नीनात्मनिवैताना--न्समारोप्ययथाविधि।
अनग्निरनिकेतःस्या--न्मुनिर्मूलफलाशनः ॥
अप्रयत्नःसुखार्थेषु ब्रह्मचारीधराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥

तापसेष्वेवविप्रेषु यात्रिकंभैक्षमाहरेत् ।
गृहमेधिषुचान्येषु द्विजेषुवनवासिषु ॥
ग्रामादाहृत्यवाश्नीया-दष्टौग्रासान्वनेवसन् ।
प्रतिगृह्यपुटेनैव पाणिनाशकलेनवा ॥
एताश्चान्याश्चसेवेत दीक्षाविप्रोवनेवसन् ।
विविधाश्चौपनिषदी--रात्मसंसिद्धयेश्रुतीः ॥
ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेवसेविताः ।
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्यचशुद्धये ॥
अपराजितांवास्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः ।
आनिपाताच्छरीरस्य युक्तोवार्यनिलाशनः ॥
आसांमहर्षिचर्याणां त्यक्त्वान्यतमयातनुम् ।
वीतशोकभयोविप्रो ब्रह्मलोकेमहीयते ॥३२॥

अ०—पूर्णदिवसे सायमवधि भूमौ विपरिवर्त्तेत न तिष्ठेन्नापि संविशेत् । यद्वा प्रपदैः पादाग्रभागैः सन्ध्यापर्यन्तं तिष्ठेदेव । यद्वा सवनेषु कालत्रयेऽपउपयन् त्रिःस्नानं कुर्वन् स्थानासनाभ्यां विहरेन्मध्येऽगच्छेत्तिष्ठेदासीत च । ग्रीष्मे चतुर्दिक्ष्वग्निं प्रज्वाल्योपरिष्टात्सूर्याग्निं सहमान आसीत । वर्षास्वभ्रावकाशिकः स्यात्—न क्वाप्याच्छादिते कुड्यादिसद्मन्यासीत वर्षाकालादन्यत्र कुड्यादिस्थितौ कामचारः । हेमन्ततौ तु वासांस्याद्राणि कार्याणि सर्वं चैतत्क्रमेण का-

र्यम् । प्रातर्मध्याह्ने सायाह्ने च त्रिवारं स्नानं कुर्वन् पितॄन् देवांश्च तर्पयेत् स्नानशुद्ध्या देवाइन्द्रियादयः पितरो मनआ-दयश्च तृप्यन्ति । एवमुग्रतरं तपश्चरन्नात्मनः स्वस्य देहं स्थूलत्वं शोषयेत् । अस्मिन्नेवाश्रमे धर्मानुष्ठानकाष्ठां प्राप्त-श्चेद्यथाविधि मन्त्रपुरस्सरं वैतानान् श्रौतानग्नीन्गार्हप-त्यादिनामकानात्मनि समारोप्यानग्निस्त्यक्ताग्निसाधनो-ऽनिकेतो गृहेष्ववसन् यथाप्राप्तमूलफलाद्यशनो मुनिः कृ-तवाक्संयमः स्यात् । सुखार्थेषु सुखसाधनेष्वप्रयत्नो धराश-यी ब्रह्मचारी शरणेषु वृक्षमूलादिष्वप्यममो वृक्षमूलेषु कृतनि-वासश्च स्यात् । तापसेषु विप्रेषु वनवासिष्वन्येषु गृहमेधिषु गृहस्थेषु द्विजेषु यात्रिकं प्राणयात्रासिद्धिप्रयोजनायैव भैक्ष-माहरेत् । यद्वा वने वसन्नष्टौ ग्रासान् ग्रामात्पुटेनैव पर्ण-निर्मितेन,केवलेन पाणिना, शकलेन कर्परखण्डेन वाऽहृ-त्याश्नीयात् । वने वसन् विप्रएताश्चान्याश्च दीक्षाः सेवेत । आत्मसंसिद्धये विद्यातपोविवृध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ऋषि-भिर्ब्राह्मणैर्गृहस्थैरेव सेविता विविधा औपनिषदीः श्रुतीः सेवेत । अपराजितां वा दिशमास्थाय योगयुक्तो वायु-निलाशनः सन् शरीरस्यानिपातादजिह्म गोव्रजेत् । आसां महर्षिचर्याणां मध्ये कयापि रीत्या तनुं त्यक्त्वा विप्रो वी-तशोकभयः सन् ब्रह्मलोके ब्रह्मैव लोको लोक्यस्तस्मिन् म-हीयते पूजां प्रसादं नैर्मल्यं चाप्नोति ॥

भा०—भूमौ विपरिवर्त्तनं प्रपदैः स्थितिर्ग्रीष्मे पञ्चाग्नि-तापादिकं च सर्वं तपः क्रमेणैव वर्धनीयम् । यदा च तपो-

ऽनुष्ठानरूपो वानप्रस्थधर्मः काष्ठां गच्छति तदा श्रौताग्नीनात्मनि समारोपणादि कर्त्तव्यम् । अस्मिन् पक्षे संन्यासाश्रममन्तरेणास्मिन्नेवाश्रमे कृतकृत्यः सर्वदुःखेभ्यो मुक्तो जायते संन्यासाश्रमस्य नास्ति तदा नामतो विशिष्टं प्रयोजनमर्थतस्तु यदाऽऽत्मन्यग्नयः समारोप्यन्ते, शरणेष्वममत्वं वृक्षमूलनिकेतनत्वं च जायते तदाऽस्त्येव संन्यासाश्रमः। अतएव प्रकृष्टवैराग्येण विना नास्ति दुःखेभ्यः कस्यापि मोक्षस्तस्मान्नाम्ना संन्यासं कुर्यादिति नास्ति विशिष्टमपेक्षितम् । यदा च तपस्तप्स्यन् तपसः परां काष्ठां न गच्छति तदा प्रसिद्धेन प्रतिज्ञातेन च वैराग्येण संन्यासधारणं वक्ष्यमाणरीत्या कार्यम् ॥ ३२ ॥

भाषार्थः-(दिनं भूमौ विपरिवर्त्तेत प्रपदैर्वा तिष्ठेत्) उग्रतप के द्वारा अपनी शुद्धि करता हुआ वानप्रस्थ दिन भर इधर उधर कुटी के सब ओर डोले करे न बैठे और न लेटे अथवा एक स्थान में मौन होकर पगों की अङ्गुलियों के सहारे दिन भर खड़ा रहे (सवनेषूप उपयन्स्थानासनाभ्यां विहरेत) वा प्रातः मध्याह्न और सायंकाल में तीन वार स्नान करता हुआ अपने स्थान और आसन पर कभी बीच २ चले खड़ा रहे वा बैठे और सब दशा में मन तथा वाणी को शुभ कृत्य में लगावे (ग्रीष्मे तु पञ्चतपाः स्यात्) ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्नि तपने वाला हो अर्थात् चारों दिशा में अग्नि जलाकर बैठे और ऊपर सूर्य का प्रबल धूप हो (वर्षास्वभ्रावकाशिकः) वर्षा ऋतु में खुले में रहने वाला हो किन्तु किसी छये पटे घर में निवास न करे परन्तु वर्षा न होते समय चाहे तो छये में भी बैठ सकता है । (आर्द्रवासास्तु हेमन्ते) और हेमन्त-अगहन पौष महिनों में जल में भिगोये गीले वस्त्र पहिने (क्रमशो वर्धयंस्तपः) परन्तु यह सब तप क्रम से बढ़ावे अर्थात् पहिले चतुर्थांश वा आधा दिन घूमते हुए वा खड़े हुए काटे और आगे २ बढ़ावे तथा पहिले २ घड़ी २ दो २ घड़ी पञ्चाग्नि तपे और धीरे २ क्रम से बढ़ावे तभी कर सकेगा एक साथ ऐसा कर सकना दुस्तर है (त्रिषवणमुपस्पृशन् पितृन्देवांश्च तर्पयेत्) प्रातः सायं और मध्याह्न

तीनवार स्नान करता हुआ स्वशरीरस्थ इन्द्रियादिस्थ अग्न्यादि देवों और
न आदि पितरों को तृप्त संतुष्ट प्रसन्न करे इस प्रकार (उग्रतरं तपश्चरन्नात्मनो
हं शोषयेत्) उग्रतर तप करता हुआ अपने शरीरस्थ मांस रुधिरादि की स्थू-
ता को सुखा देवे । यदि इसी आश्रम में धर्मानुष्ठान की काष्ठा-हद्द तक प-
च जावे तो (यथाविधि वैतानानग्नीनात्मनि समारोप्य) मन्त्रपूर्वक श्रौत-
र्हपत्यादि तीनों अग्नियों को अपने भीतर आरोपण कर के (अनग्निरनि-
तः) प्रसिद्धाग्नि के सेवन से रहित और किसी कुटी आदि छाये पाटे कृत्रि-
घर का निवास छोड़ कर (मूलफलाशनो मुनिः स्यात्) मूल वा फल आदि
जो प्राप्त हो जाय उसे खाने वाला मौन हो कर विचरे (सुखार्थेष्वप्रयतः) सुख
भोग के लिये विषयों के संचय में प्रयत्न वा परिश्रम न करने वाला (धराशयो
ब्रह्मचारी) पृथिवी पर सोने वाला हो ब्रह्मचर्याश्रम के नियम और चिह्न धारण
करे (शरणेषु चैवाममो वृक्षमूलनिकेतनः) वृक्ष की जड़ों को अपना निवास स्थान
रखता वा मानता हुआ पर उन में किसी वृक्ष के नीचे अपनी ममता न जमावे
जिस में अन्य कोई आसन कर ले तो दुःखित होने पड़े किन्तु सामान्य वृक्षों
में कहीं बैठ लेट रहूंगा जब जहां बैठा लेटे तब उतने ही काल को उसे भी अपना
स्थान माने (तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्) अपने निर्वाहमात्र थोड़ी सी
भिक्षा तपस्वी ब्राह्मणों से मांग लिया करे किन्तु पेट भर खाने की चेष्टा कदापि न
करे (वनवासिषु-गृहमेधिष्वन्येषु द्विजेषु च) अथवा भिक्षा मांगने को तपस्वी ब्राह्मण
न मिलें तो अन्य वनवासी गृहस्थ मध्यम ब्राह्मणों के घरों से भी प्रयोजनमात्र
भिक्षा मांग कर ले आना अच्छा है (वा वने वसन् ग्रामादष्टौ ग्रासानाहृत्याश्नी
यात्) अथवा वन में कोई भी भिक्षा देने वाला न मिले तो वन में रहता हुआ
ही वानप्रस्थ ग्राम से आठ ग्रास लाकर एक वार खा लेवे अर्थात् यही आठ
ग्रास प्रयोजनमात्र भिक्षा है (प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा) वह भिक्षा
किसी पत्तों के दोना वा पत्तल वा खाली हाथों अथवा खप्पर में लाया करे
(वने वसन् विप्र एताश्चान्याश्च दीक्षाः) वन में वसता हुआ ब्राह्मण इन पूर्वोक्त
तथा अन्य उत्तम २ नियमों दीक्षाओं तथा (ऋषिभिर्गृहस्थैरेव च ब्राह्मणैरात्म-
संसिद्धये विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये सेविताः) ऋषियों नाम वनस्थ
तपस्वी ब्राह्मणों ने वा मध्यम गृहस्थ ब्राह्मणों ने अपनी सम्यक् सिद्धि के लिये
विद्या, तप की वृद्धि और शरीर की शुद्धि के लिये सेवन कियीं । (विविधाश्चौ-
पनिषदीः श्रुतीः सेवेत)विविध प्रकार की उपनिषद् पुस्तकों में कहीं [परीक्ष्यलो-

कान् कर्मचितान्० इत्यादि] श्रुतियों का सेवन करे (वा युक्तो वार्थनिलाशनः) अथवा योग-समाधि के अभ्यास से ठीक सावधान हुआ जल वायु का ही भोजन करता हुआ (अपराजितां दिशमास्थाय शरीरस्यानिपाताद्जिह्मगो व्रजेत्) ईशान दिशा की ओर मुख करके शरीर के गिर जाने छूट जाने समय तक सीधा चलाजावे न कहीं बैठे न कुछ खावे न किसी अन्य दिशा को देखे (आसां महर्षिचर्याणामन्यतमया तनुं त्यक्त्वा) इन महर्षियों तपस्वियों के आचरणों में से किसी एक रीति से शरीर छोड़ कर (वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते) शोक और भय से रहित हुआ ब्राह्मण जानने योग्य ब्रह्म के सम्बन्ध से होने वाली शुद्धि प्रसन्नतादि द्वारा पूजित होता है ॥

भा०—भूमि पर डोलना, पग की अंगुलियों के सहारे दिन भर खड़े रहना और ग्रीष्म में पञ्चाग्नि तपना आदि सब तप क्रम से ही बढ़ाना चाहिये। और जब तपोनुष्ठान रूप वानप्रस्थ का धर्म असीम दशा को पहुंच जावे तब श्रौताग्नियों का अपने में आरोपणादि करना चाहिये। इस पक्ष में संन्यासाश्रम किये विना इसी वानप्रस्थाश्रम में सब दुःखों से मुक्त हुआ कृतकृत्य हो जाता है। तब संन्यासाश्रम का नाम और चिह्न धारण करने का विशिष्ट प्रयोजन नहीं है। परन्तु जब अपने में अग्नियों का समारोपण करना बैठने के स्थानादि में भी ममता का त्याग और वृक्षों के नीचे निवास करना होता है तब संन्यास का अर्थ वा आशय तो विद्यमान ही है। इसी से उत्तम वैराग्य हुए विना दुःखों से कोई नहीं मुक्त होता यह ठीक ही है इसी लिये नाममात्र संन्यास धारण करने की आवश्यकता नहीं है और जब वानप्रस्थ पुरुष तप करता हुआ तप की परा काष्ठा तक नहीं पहुंचता तब उस को प्रसिद्ध और प्रतिज्ञापूर्वक वैराग्य के साथ आगे कहे अनुसार विधिपूर्वक संन्यासाश्रम का धारण करना चाहिये ॥ ३२ ॥

वनेषुचविहृत्यैवं तृतीयंभागमायुषः ।
चतुर्थमायुषोभागं त्यक्त्वासङ्गान्परिव्रजेत् ॥
आश्रमादाश्रमंगत्वा हुतहोमोजितेन्द्रियः ।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन्प्रेत्यवर्धते ॥

ऋणानित्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षेनिवेशयेत् ।
अनपाकृत्यमोक्षन्तु सेवमानोव्रजत्यधः ॥
अधीत्यविधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्यधर्मतः ।
इष्ट्वाचशक्तितोयज्ञै-र्मनोमोक्षेनिवेशयेत् ॥
अनधीत्यद्विजोवेदा-ननुत्पाद्यतथासुतान् ।
अनिष्ट्वाचैवयज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः॥
प्राजापत्यांनिरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणःप्रव्रजेद्गृहात्
योदत्वासर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयंगृहात् ।
तस्यतेजोमयालोका भवन्तिब्रह्मवादिनः ॥
यस्मादण्वपिभूतानां द्विजान्नोत्पद्यतेभयम् ।
तस्यदेहाद्विमुक्तस्य भयंनास्तिकुतश्चन ॥
आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितोमुनिः ।
समुपोढेषुकामेषु निरपेक्षःपरिव्रजेत् ॥ ४१ ॥

अ०—एवमुक्तप्रकारेण तृतीयमायुषो भागं ततः किमपि न्यूनं वा तपस्तप्स्यन् वनेषु विहृत्य वन्यवस्तुभिः सह विहारं कृत्वाऽऽयुषश्चतुर्थभागे सर्ववस्तुसङ्गांस्त्यक्त्वा परिसर्वस्मात्पृथग्व्रजेत् । ब्रह्मचर्याद्गृहाश्रमं गच्छेदेवमाश्रमादाश्रमं क्रमशो गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियो भिक्षाबलिपरिश्रान्तो भिक्षादानबलिदानादिकर्मणो बहुकालावधि यथाविध्यनु-

ष्ठानेन सर्वतः श्रान्तो यः परिव्रजति स प्रेत्य वर्धते । ऋषिदेवपितृपदार्थानां संबद्धमृणत्रयं निर्यात्य मोक्षे मनो निवेशयेत् । ऋणान्यनपाकृत्य मोक्षं सेवमानस्त्वधो व्रजति अतएव विधिवद्वेदाध्ययनेनर्षि-ऋणं,विधिवद्यज्ञैरिष्ट्वा देवर्णं,विधिवद्धर्मतः पुत्रानुत्पाद्य च पितॄणामपाकृत्य मोक्षे मनो निवेशयेत् । अतो विरुद्धं वेदाध्ययनाद्यकृत्वा मोक्षमिच्छन् प्रायेणाधो व्रजति । सर्वं वेदो धनं दक्षिणा यस्यां सा तां प्रजापतिदेवताकामिष्टिं निरूप्य-यातेअग्नेयज्ञियातनूरिति मन्त्रेण गार्हपत्याद्यग्नीनात्मनि समारोप्य ब्राह्मणो गृहात्कुटीतोवा प्रव्रजेत् प्रकर्षेण त्यक्त्वा गच्छेन्न पुनरावर्त्तेत । ब्राह्मणकथनात्क्षत्रियादीनां प्रव्रज्याधिकारो नास्ति ज्ञानोत्कर्षे कस्याप्यधिकारश्चेत्तस्य लौकिकं क्षत्रियादित्वमस्तु परमार्थतस्तु स ब्राह्मणः । यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्वा कमपि दुःखितमकृत्वा गृहाद्गृहाश्रमाद्वनाद्वा प्रव्रजति तस्य ब्रह्मवादिनस्तेजोमयाः सत्त्वगुणमया लोकाः प्राप्ता भवन्ति यत्र रजस्तमोजन्यं दुःखं न तेनाप्यते । स्वजीवनकाले यस्माद् द्विजादणवपि भयं दुःखं कस्यापि न जायते तस्य कुतोऽपि क्वापि कदापि किमपि दुःखं भयं वा नास्ति । तस्मात्पुत्रकलत्रादीन् भयभीतान् दुःखितानसमर्थान् कृत्वाऽकस्मान् न केनापि प्रव्रजितव्यम् । समर्थेषु शिक्षितेषु च सुतेषु प्रसिद्धिपुरस्सरं प्रव्रजने तेषां यत्किंचिद् भयं दुःखं वा नतदल्पत्वाद्दुयपक्षे गणयितुमुचितम् । एवं जपतपआदिभिः समन्वित आगारान्मुनिर्मौनी सन्नभिनिष्क्रान्तः समुपोढेषु संचितेषु

गृहाश्रमस्थेषु कुटीसम्बद्धेषु वा भोगेषु निरपेक्षः सन् परिव्रजेत् ॥

भा०—अत्र प्रव्रज्याप्रकारः सम्यक्त्वेनोक्तः । ऋणापाकरणं मनस एकाग्रयादुत्थापनं शोधनं वा । यथा चाशुद्धे वाससि न कोऽपि रागो व्याप्नोति यथा वा क्वापि धृतः पादस्तत उत्थापनमन्तरेणाग्रे निधापयितुमशक्यस्तथा मनोऽपि मोक्षे निवेशयितुमशक्यः । तस्मान्मुमुक्षोः पूर्वमृणनिर्यातनं परमावश्यकम् । प्राजापत्येष्टिनिरूपणं प्रसिद्धदृढप्रतिज्ञानेन सह सर्ववस्तुषु ममत्वनिरासार्थम् । यः कस्माअपि भयं दुःखं वा दत्वा प्रव्रजति स यदा स्मरति मयाऽऽसौ दुःखीकृतस्तदा तेन परितप्यमानः पीड्यते न च शर्म लभते नच मोक्षसाधनानि तदानुष्ठातुमुत्सहतेऽपितूभयतो भ्रष्टो जायते । गृहागारादिपदस्यासकृत्प्रयोगाद्वानप्रस्थाश्रममकृत्वा गृहाश्रमादपि प्रव्रज्यानानुचिता । एवं च कोऽपि ब्रह्मचर्यादपि संन्यासमर्हति । तत्र सर्वत्रैवान्याश्रमाणामर्थो न लुप्यते यथा कोऽपि गृहे तिष्ठन्नेव संन्यासमिच्छन्गृहाश्रमभोगेभ्यः प्रायेण विरक्तस्तपसि रमते सएव गृहाश्रमात्संन्यस्यति नतु सर्वः तस्य च गृहाश्रमएवान्त्यकालेऽर्थतो वानप्रस्थाश्रमो जायते, अतो भोगानामपेक्षात्यागएव प्रधानः संन्यासो नतु स्थूलभोगानां देशभेदेन त्यागः संन्यासपदवाच्यः केनापि विपश्चिता कदापि स्वीक्रियते ॥ ४१ ॥

भाषार्थः—(एवं तृतीयमायुषो भागं वनेषु च विहृत्य) इस उक्त प्रकार आयु के तृतीय भाग में वनों वा शून्य स्थानादि में विहार वा खेल करके (आयुषश्चतुर्थं भागं संगान् त्यक्त्वा परिव्रजेत्) आयु के चौथे भाग में सब पदार्थों

वा प्राणियों के सब प्रकार के सङ्गों को छोड़ कर संन्यासी हो जावे (हुतहोमो जितेन्द्रियः) होमादि जिस ने किये ऐसा जितेन्द्रिय हुआ (आश्रमादाश्रमं गत्वा) ब्रह्मचर्य से गृहस्थ गृहस्थ से वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से संन्यास ऐसे आश्रम से आश्रम-ठाहर से ठाहर में-पड़ाव से पड़ाव में पहुंच कर (भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते) गृहाश्रम में भिक्षा देते २ और बहुत अधिककाल तक वैश्व देवादि करते २ थका हुआ जो संन्यास लेता है वह जन्मान्तर में अवश्य बढ़ता अधिक २ सुखी होता है (त्रीणि,ऋणान्यपाकृत्य मोक्षे मनो निवेशयेत्) ऋषि ऋण, देवऋण और पितृ ऋण इन तीनों ऋणों को चुकाकर मोक्ष में मन को लगावे (अनपाकृत्य तु मोक्षं सेवमानोऽधोव्रजति) ऋण चुकाये विना मोक्ष का सेवन करता हुआ पुरुष अधोगति को प्राप्त हो जाता है (विधिवद्वेदानधीत्य) अर्थात् विधिपूर्वक शास्त्र की आज्ञानुसार गुरु मुख से वेदों को पढ़ने द्वारा ऋषि ऋण चुकाके (शक्तितोयज्ञैरिष्ट्वा) यथाशक्ति बड़े २ यज्ञ करने द्वारा देव ऋण चुका के (पुत्रांश्च धर्मतउत्पाद्य) और धर्म से पुत्रों को उत्पन्न करने द्वारा पितृ ऋण चुका के (मोक्षे मनो निवेशयेत्) मोक्ष में मन लगावे (द्विजो वेदाननधीत्य) ब्राह्मण वेद न पढ़ के (यज्ञैर्वानिष्ट्वा) बड़े २ यज्ञ वा इष्टि न करके (तथा सुताननुत्पाद्य) तथा पुत्रों को उत्पन्न न कर के अर्थात् इन तीनों कर्त्तव्यों द्वारा तीनों ऋण न चुका कर (मोक्षमिच्छन्नधो व्रजति) मुक्ति चाहता हुआ नीचे गिर जाता है (सर्ववेदसदक्षिणां प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य) अपना सभी वेदस् नाम धन जिस की दक्षिणा में दे दिया जाता ऐसी प्रजापति देवता वाली इष्टि-यज्ञ का निरूपण करके (आत्मन्यग्नीन्समारोप्य) और [याते अग्ने यज्ञियातनूः०] इस मन्त्र से गार्हपत्यादि श्रौत स्मार्त्त अग्नियों को अपने भीतर समारोपण करके (ब्राह्मणो गृहात् प्रव्रजेत्) ब्राह्मण घर वा वनस्थ कुटी से वा गृहस्थाश्रम से संन्यास लेलेवे फिरलौट कर वहां का भोग वा निवास कभी न करे। यहां ब्राह्मण कहने से क्षत्रियादि को संन्यास का अधिकार नहीं है यदि कोई क्षत्रियादि ज्ञान की प्रबलता से संन्यास का अधिकारी हो सके तो वह लोक परम्परा से भले ही क्षत्रियादि कहावे किन्तु शास्त्रानुसार वह ब्राह्मण ही है। (यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्वा) जो अपनी ओर से सब प्राणियों को अभय दान देकर अर्थात् किसी प्राणी को दुःख न देकर (गृहादभयं प्रव्रजति) गृहाश्रम वा वनस्थ कुटी से निर्भय हुआ संन्यास लेता है

जो किसी को सता कर कहीं को चलता है तो उस को उसी का भय लगा रहता है कि जिस को मैंने सताया है वह कहीं इधर उधर से मुझे सताने को न आता अब आता है इसी सन्देह में भय भीत रहता है] (तस्य ब्रह्मवादिनस्तेजोमया लोका भवन्ति) उस ब्रह्मवादी ईश्वरनिष्ठ ईश्वरभक्त पुरुष को सत्त्वगुणरूप प्रकाश की अधिकता वाले लोक प्राप्त होते हैं अर्थात् उन लोकों में रजोगुण तमोगुण सम्बन्धी दुःख उस को कभी प्राप्त नहीं होता (यस्माद्द्विजाद् भूतानामण्वपि भयं नोत्पद्यते) अपने जीवन समय में जिस ब्राह्मण से अणुमात्र भी भय वा दुःख किसी को नहीं पहुंचता (देहाद्विमुक्तस्य तस्य कुतश्चन भयं नास्ति) ग्रामादि समुदाय से वा शरीर से अलग होने पर उस को किसी से कहीं कभी कुछ भी दुःख वा भय उत्पन्न नहीं होता तिस से सिद्ध हुआ कि स्त्री पुत्रादि को भयभीत दुःखित वा असमर्थ दशा में विलखते छोड़ कर तय्यारी किये विना अकस्मात् किसी को संन्यास नहीं लेना चाहिये । और उन पुत्रादि के समर्थ शिक्षित हो जाने पर प्रसिद्धिपूर्वक सब को ठीक २ समझा बुझा के संन्यास लेने में जो कुछ थोड़ा दुःख वा भय होता वह अति अल्प होने से भय वा दुःख पक्ष में नहीं गणना चाहिये (पवित्रोपचितो मुनिरागाराभिनिष्क्रान्तः) जप तप आदि पवित्र कर्मों से युक्त हुआ मौन व्रतधारी घर से निकला (समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत्) गृहाश्रमस्थ वा कुटी सम्बन्धी संचित भोगों में अपेक्षा रहितहुआ निकले अर्थात् भोगों की अपेक्षा वा स्मरण कुछ भी न रखता हुआ संन्यास लेवे ॥

भा०—यहां अच्छे प्रकार से संन्यास की रीति कही है । ऋण का चुकाना मन को एक आधार वा बन्धन से छुड़ाना वा उस की मलिनता का शोधन करना है । जैसे कि अशुद्ध वस्त्र में कोई रंग नहीं चढ़ता वा जैसे पिछला पग उठाये विना आगे पग नहीं धरा जा सकता वैसे ऋणरूप बन्धनों से हटाये विना मोक्ष में मन लगाना भी दुस्तर है तिस से मुमुक्षु को पहिले ऋण चुका देना अति आवश्यक है प्रसिद्ध और दृढ़ प्रतिज्ञा के साथ प्राजापत्या इष्टि का निरूपण करना सब पदार्थों में ममता छोड़ने के लिये है । जो किसी को दुःख वा भय देकर संन्यासी होता है वह जब स्मरण करता है कि मैंने उस को दुःख दिया तब उस स्मरण से शोक वा परिताप करता हुआ वार २ अधिक २ पीड़ित होता उस को फिर सुख नहीं मिलता, और न मोक्ष साधनों के अनुष्ठान में उत्साह करता है किन्तु वह पुरुष दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाता है । यहां

गृह और आगार शब्दों के कई वार आने से वानप्रस्थाश्रम किये विना गृहाश्रम से भी संन्यास लेलेना अनुचित नहीं यह जताया है। इसी के अनुसार कोई पूर्वजन्म का अच्छा ज्ञानी वा विरक्त शुद्ध संस्कारी पुरुष ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ले सकता है। अर्थात् आश्रम से आश्रम में जाने का विचार सर्वसाधारण के लिये और विशेष पुरुषों को यथोचित करने का अधिकार है। उन सब दशाओं में अन्य प्रसिद्ध में सेवन न किया आश्रम उस की अपेक्षा भी लुप्त नहीं होता क्योंकि जैसे कोई घर में रहता गृहस्थ कहाता हुआ भी वानप्रस्थ वा संन्यासी के तुल्य योग्य हो सकता है। जो गृहस्थ के भोगों से विरक्त रहता हुआ तप करता है वह गृहाश्रम से संन्यास ले सकता है सब कोई नहीं, क्योंकि अन्त्य समय उस का गृहाश्रम ही अर्थानुकूल वानप्रस्थाश्रम हो जाता है। इस से सिद्ध हुआ कि भोगों की अपेक्षा का त्याग ही मुख्य संन्यास है भोगों से स्वयं शरीर से दूर हो जाना विद्वानों की दृष्टि में संन्यास नहीं ॥४१॥

एकएवचरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् ।
सिद्धिमेकस्यसंपश्य-न्नजहातिनहीयते ॥
अनग्निरनिकेतःस्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽशंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥
कपालंवृक्षमूलानि कुचेलमसहायता ।
समताचैवसर्वस्मि-न्नेतन्मुक्तस्यलक्षणम् ॥
नाभिनन्देतमरणं नाभिनन्देतजीवितम् ।
कालमेवप्रतीक्षेत निर्देशंभृतकोयथा ॥

[ग्रैष्मान्हैमन्तिकान्मासा-नष्टौभिक्षुर्विचक्रमेत् ।
दयार्थंसर्वभूतानां वर्षास्वेकत्रसंवसेत् ॥
नासूर्यंहिव्रजेन्मार्गं नादृष्टांभूमिमाक्रमेत् ।
परिभूताभिरद्भिस्तु कार्यंकुर्वीतनित्यशः ॥

सत्यांवाचमहिंस्रांच वदेदनपकारिणीम् ।
कल्कापेतामपरुषा--मनृशंसामपैशुनाम् ॥३॥]

दृष्टिपूतंन्यसेत्पादं वस्त्रपूतंजलंपिबेत् ।
सत्यपूतांवदेद्वाचं मनःपूतंसमाचरेत् ॥
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येतकंचन ।
नचेमंदेहमाश्रित्य वैरंकुर्वीतकेनचित् ॥
क्रुध्यन्तंनप्रतिक्रुध्ये--दाक्रुष्टःकुशलंवदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णांच नवाचमनृतांवदेत् ॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षोनिरामिषः ।
आत्मनैवसहायेन सुखार्थीविचरेदिह ॥ ४९ ॥

भा०—एकस्य सिद्धिं संपश्यन्नसहायवानिष्टसिद्ध्यर्थं नित्यमेकएव चरेत् सर्वचराचरस्य सङ्गन्यासएव संन्यासः । एवं च सापेक्षसुखदुःखसाधनानि न जहाति न तैः स हीयतेऽभयथाऽपि हानरूपवियोगजन्यदुःखान्मुच्यते। अग्निसाध्ययज्ञरहितोऽनग्निरनिकेतोऽनियतनिवासस्थानः । अन्नं भिक्षितुमेव ग्राममाश्रयेन्नान्यदा । उपेक्षकः सर्ववस्तुष्वेवोदासीनोऽशङ्कुसुकः स्थिरमतिर्भावेन चेतसा समाहितो मुनिर्मौनी स्यात्। कपालादीनामप्युदासीनभावेन स्वीकारः समतायाः आधिक्यं च जीवन्मुक्तस्य पूर्णं लक्षणं सएव च विदेहमुक्तोऽपि भवति। मरणं जीवितं वा किमपि नाभिनन्देत्। तथा चेतः समादध्याद्येन जीवनमरणयोरपि स-

मतायामेव चेतो रमेत । सेवको यथा स्वामिनिर्देशं प्रतीक्षते तद्वत्कालागमनं प्रतीक्षेत । अस्यैवाग्रे क्वचिदुपलभ्यमानं पश्चात्क्षिप्तं पद्यत्रयं विद्यते तस्यार्थः प्राकृतविवरणेऽवलोक्यः । निरपेक्षस्त्यक्ताभिलाषो निरामिषस्त्यक्तविषयवासनोऽध्यात्मं रममाणएव योगाभ्यासेनासीनश्चाञ्चल्यरहित आत्मनैव सहायेनेह सुखार्थी विचरेत् ॥

भा०–चेतनाचेतनसाधनाधीनएव सर्वः सुखदुःखानुभवः सुखार्थी च परवशतया दुःखमवश्यं भुङ्क्ते त्यक्तसुखाभिलाषस्त्यक्तसर्वचराचरसङ्गश्च संन्यासी सर्वं दुःखमपि जहात्येव। समत्वं सामान्यं च निरतिशयं यत्र वर्त्तते तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि । निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्मात्साम्यपरायणास्ते ब्रह्मणि तिष्ठन्ति। अत्रत्यैःपद्यैरुच्यमानं सर्वमेव व्याख्यानं विषमताया निरासकं समतायाश्चोपपादकं कृतम् अनेनैव सर्वः संन्यासः सम्यक्साफल्यं गच्छति न किमपि कृत्यान्तरमवशिष्यते ॥ ४९ ॥

भाषार्थः–(एकस्य सिद्धिं संपश्यन्) एक की सिद्धि होना सम्यक् देखता हुआ [किसी को साथ रखने वाला रागद्वेषादि दोषों से नहीं छूट सकता एक ही निर्दोष ठीक सिद्ध हो सकता है ऐसा दृढ़ विचार रखता हुआ] (असहायवानिष्टसिद्ध्यर्थमेकएवनित्यं चरेत्) किसी की सहायता न चाहने वाला इष्ट निःश्रेयस कल्याण की सिद्धि के लिये अकेला ही नित्य विचरे किसी को साथी न करे । सुख दुःख विशेष के हेतु चराचर–प्राणी अप्राणी का सङ्ग छोड़ना ही संन्यास कहाता है [यदि वह अन्यों से ही मेल करता है तो स्त्री पुत्र कुटुम्बादि को ही क्यों छोड़े वहां तो मेल बना बनाया ही है] (न जहाति न हीयते) जब सब का सङ्ग त्याग के सार्थक संन्यासी हो जाता है तब संयोग वियोग हानि लाभ द्वारा होने वाला सुख दुःख उस को नहीं सताता (भावसमाहितो मुनिः) चित्त से साव-

ध्यान और मौनी रहता हुआ संन्यासी (अनग्निरनिकेतः) गार्हपत्यादि अग्नि-सम्बन्धी यज्ञ के नियम का भी त्यागी, किसी निज घर में न रहता हुआ (उ-पेक्षकोशङ्कुसुकः स्यात्) सब वस्तु वा प्राणियों से उदासीन स्थिरबुद्धि वाला हो और (अन्नार्थं ग्राममाश्रयेत्) अन्न के लिये ही केवल ग्राम में जावे अन्य समय नहीं (कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता) हाथ में भोजन के लिये एक खप्पर का होना, उत्तम दर्शनीय स्वच्छ वस्त्रों का धारण न करना, वृक्ष की जड़ों के समीप शुद्ध एकान्त वन आदि में बैठना कहीं मकान बनवा के न बैठना किसी को साथी सहायताकारी न बनाना और (समता चैव सर्वस्मिन्) सब राजा रईस वा दरिद्र दीन आदि को ठीक समदृष्टि से देखना (एतन्मुक्तस्य लक्षणम्) यही जीवन्मुक्त सर्वोत्तम साधु वा संन्यासी का लक्षण है ऐसा पुरुष योगी होना भी सम्भव है । यदि दरिद्रता के कारण खप्पर आदि रखता होगा तो उस की सब में समता कदापि नहीं हो सकती इस से समता ही मुख्य है (नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्) न तो मरण की इच्छा करे और न जीवन की ही अधिक तृष्णा रक्खे किन्तु (निर्देशं भृतको यथा कालमेव प्रतीक्षेत) जैसे सेवक स्वामी के संकेतमात्र की ही प्रतीक्षा करता है। संकेतरूप आज्ञा पाते ही उस काम में झट लगजाता है वैसे ही मृत्यु के संकेतमात्र की प्रतीक्षा करता रहे । मृत्यु का संदेशा पातेही [बहुत अच्छा, तयार हूं] कह कर प्राण त्याग करे । इसी के आगे पीछे मि-लाये तीन श्लोक कहीं २ मिलते हैं उन का संक्षेपार्थः–[ग्रीष्म और शीत काल के आठ महिनों तक संन्यासी देशाटन किया करे परन्तु सब प्राणियों पर दया रखने के लिये वर्षा ऋतु में एक नियतस्थान पर रहे [वर्षा में शतपदी–गिजाई आदि अनेक जीव मार्ग में दब २ के मर जाते हैं उन पर भी दया करना आ-वश्यक है] सूर्य के न होने पर रात्रिमें मार्ग न चले, अदृष्ट भूमि पर आक्रमण न करे, बहुत से शुद्ध जल से स्नानादि कार्य करे, हिंसा, कठोरता, चुगली, अ-हितकारिणी, असम्बद्ध व्यर्थ और मिथ्यापन के दोष से रहित वाणी को सत्य ही बोले] (दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्) आंखों से देखता हुआ पगों से चले जिस से कोई जीव जन्तु पगों से दब कर न मर जावे, वस्त्र से छान कर जल पीवे जिस से जल के जीवों की हिंसा न हो (सत्यपूतां वदे-द्वाचं मनःपूतं समाचरेत्) सत्य से पवित्र की हुई वाणी को बोले और मन से प-वित्र रहता हुआ सर्वत्र विचरे (अतिवादांस्तितिक्षेत कंचन नावमन्येत) अन्य के कठोर, मिथ्या, वा असम्बद्ध अहितकारी वाक्यों को सुन कर सह लेवे किसी

का अपमान न करे वा करावे (इमं देहमाश्रित्य केनचिदपि वैरं न कुर्वीत) इस अनित्य शरीर को धारण करके किसी के साथ वैर न करे (क्रुध्यन्तं प्रति न क्रुध्येत्) अपने साथ क्रोध करते हुए से क्रोध न करे (आक्रुष्टः कुशलं वदेत्) कोई संन्यासी को गाली दे कोशे तो उस से कुशल क्षेम नाम उस के हित की बात भी कोमलता से ही कहे किन्तु स्वयं किसी को बुरा न कहे (सप्तद्वारावकीर्णां च वाचमनृतां न वदेत्) मुखादि शिर के सात छिद्रों में जिस का तत्त्व फैला है ऐसी वाणी को मिथ्या कभी न बोले (निरपेक्षो निरामिषः) सब कामना और विषय भोगकी वासना जिसने त्याग दी हों (अध्यात्मरतिरासीनः) अपने आत्मा में ही रमने वाला योगासन के साथ दृढ़ता से बैठा चञ्चलता रहित हुआ (आत्मनैव सहायेन) आत्मा नाम अपनी ही सहायता से (इह सुखार्थी विचरेत्) इस जगत् में सुख चाहता हुआ विचरे ॥

भा०–चेतन वा जड़ पदार्थों का सङ्ग ही सब सुख दुःखों के प्राप्त होने का मुख्य कारण है इस लिये इस संसार में सुख चाहता हुआ परवश होने से दुःख अवश्य ही भोगता है । और सुख भोग की अभिलाषा तथा सब जड़ चेतन पदार्थों का सङ्ग छोड़ने वाला संन्यासी सब दुःखों को छोड़ ही देता है । समता वा सामान्य जिस में सर्वोपरि असीम रहता है वही ईश्वर वा ब्रह्मपन जानो। क्योंकि सम और निर्दोष ब्रह्म है तिस से समता में तत्पर रहने वाले विरक्त लोग ब्रह्म में ही ठहरे माने जाते हैं । इस प्रकरणस्थ श्लोकों से कहा भी व्याख्यान विरक्त की विषमता का हटाने और समता का सिद्ध करने वाला है। इसी समता के धारण से सब संन्यास ठीक सफल होजाता है और कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता ॥ ४९ ॥

नचोत्पातनिमित्ताभ्यां ननक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षांलिप्सेतकर्हिचित्॥
नतापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपिवाश्वभिः ।
आकीर्णंभिक्षुकैर्वाऽन्यै–रागारमुपसंव्रजेत् ॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्रीदण्डीकुसुम्भवान् ।

विचरेन्नियतोनित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥
अतैजसानिपात्राणि तस्यस्युर्निर्व्रणानिच ।
तेषामद्भिःस्मृतंशौचं चमसानामिवाध्वरे ॥
अलाबुंदारुपात्रंच मृन्मयंवैदलंतथा ।
एतानियतिपात्राणि मनुःस्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥
एककालंचरेद्भैक्षं नप्रसज्जेतविस्तरे ।
भैक्षेप्रसक्तोहियति-र्विषयेष्वपिसज्जति ॥
विधूमेसन्नमुसले व्यङ्गारेभुक्तवज्जने ।
वृत्तेशरावसंपाते भिक्षांनित्यंयतिश्चरेत् ॥
अलाभेनविषादीस्या-ल्लाभेचैवनहर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रःस्या--न्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥
अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैवसर्वशः ।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपिबध्यते ॥
अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेनच ।
ह्रियमाणानिविषयै-रिन्द्रियाणिनिवर्त्तयेत् ॥
इन्द्रियाणांनिरोधेन रागद्वेषक्षयेणच ।
अहिंसयाचभूताना-ममृतत्वायकल्पते ॥ ६० ॥

अ०—उत्पातो भूमिकम्पादिस्तत्कथनेन तत्फलप्रदर्शने-
न च नक्षत्रचलनबोधेनाङ्गानां वेदाङ्गानां च विद्यया तथैवा-

नुशासनवादाभ्यां च कदापि यतिर्भिक्षां न लिप्सेत । तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपिश्वभिर्वाऽन्यैर्भिक्षुकैर्वाऽऽकीर्णमागारं नोपसंव्रजेत् । क्लृप्तानि छिन्नानि केशनखश्मश्रूणि यस्य तादृशः पात्री भिक्षार्थं कपालधारी दण्डी कुसुम्भवान् मृदादिकरकोदपात्रधारी नियतो वशीकृतेन्द्रियः सर्वभूतानि शत्रुभावं गतान्यप्यपीडयन्नित्यं विचरेन्नैकत्र सुखेनासीत । तस्य भिक्षोर्निर्व्रणान्यतैजसानि तेजोदीप्तिर्येषु न विद्यते तानि पात्राणिमृन्मयादीनि स्युश्चमसानामिवाध्वरे तेषामद्भिः शौचं स्मृतम् । अलाब्वादीनि यतिपात्राणि तैजसाभावे स्युरिति पद्यस्य मेधातिथिभाष्यं नास्ति तेनानुमीयते मेधातिथिभाष्यकरणानन्तरं केनापि धृतं तत्तैजसप्रतिषेधे चार्थापत्त्यापि तेषां ग्रहणसम्भवात् । मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीदित्यप्रामाण्यभयेनेवोक्तमनुमीयते । एककालं भैक्षं चरेद्विस्तरे न प्रसज्जेत । यतो भैक्षे प्रसक्तो यतिर्विषयेष्वपि सज्जति । सर्वसहयोगिषु भोजनकृत्यात्सर्वथा निवृत्तेषु यतिर्नित्यं ग्रामस्थगृहस्थगृहाद्भिक्षामानेतुं व्रजेत् । अलाभे विषादी दुःखितो न स्याल्लाभे चैव न हर्षयेदपितु प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद् दण्डकमण्डल्वादिकमपीदं शोभनमिदमशोभनमित्यनासक्तः सङ्गाद्विवर्जितः । अभिपूजितान्सम्मानसहितान् भिक्षादिलाभान् सर्वशो जुगुप्सेतैव । यतो मुक्तोऽपि यतिरभिपूजितलाभैर्बध्यते । अल्पान्नाभ्यवहारेण च विषयैर्ह्रियमाणानि–इन्द्रियाणि निवर्त्तयेत् । रागद्वेषक्षयेण भूतानामहिंसयेन्द्रियाणां निरोधेन चेति कारणत्रयेण यतिरमृतत्वाय कल्पते ॥

भा०—उत्पातादिबोधनेन भिक्षालिप्सा वैतनिकवत्कृत्यम् । अन्यैः कैरपि समाकीर्णे स्थाने निवस्तुं विशेषेण स्थातुं च न गच्छेत् । ज्ञानधर्मादिलाभाय तु गमने न दोषः । तैजसानि मूल्यवन्ति पात्राणि कोऽपि चोरयेत्तदा भिक्षोः शोको न स्यादेतदर्थमतैजसपात्रविधिः । भिक्षाधिक्येनेन्द्रियेषु प्राबल्यं विषयवासनोद्बोधकं जायते तस्मान्निषेधः । भोजनकाले गमनेऽसिद्धे चान्ने ग्रामे कालावधि स्थातव्यं स्याद् गृहस्थो वा क्लिश्येदित्यादिसर्वं तस्यानिष्टमतो न तदा भिक्षार्थं गन्तव्यमपितु दिनस्य चतुर्थे यामे भिक्षामादातुं गच्छेत् । दुःखेभ्यो मोक्षाय यतिना महानुपायोऽनुष्ठेयस्तत्र च समतायाः प्राधान्यं तस्या एव च—लाभालाभयोर्हर्षशोकत्यागः । सम्मानेन भिक्षालाभेच्छादिवर्जनं च सर्वं व्याख्यानम् । अल्पान्नाभ्यवहरणं रहःस्थानमासनं च जितेन्द्रियतासम्पादनस्य प्रधानं कारणं जितेषु च तेषु रागद्वेषहिंसादीनां स्वतएवाभावेऽमृतत्वं सुलभम् ॥६०॥

भावार्थः—(नोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया) होने वाले भूकम्पादि उत्पात और उन के निमित्त कारण वा फलों के कहने द्वारा (कर्हिचिद्भिक्षां न लिप्सेत) संन्यासी कदापि भिक्षा की चाहना न करे और अमुक नक्षत्र अमुक समय अमुक स्थान पर आवेगा इत्यादि नक्षत्र विद्या तथा वेद के अङ्गों में कही विद्या द्वारा भिक्षा न चाहे (नानुशासनवादाभ्याम्) और ऐसा २ करो ऐसा मत करो इत्यादि अनुशासन तथा शास्त्रार्थरूप वाद विवाद से भी संन्यासी भिक्षा की चाहना न करे । अर्थात् भिक्षा चाहना के विना भी संन्यासी के उद्देश में उत्पात कथनादि कोई कर्त्तव्य नहीं है तथापि भिक्षा आदि के लालच को छोड़ के आवश्यकता देखे तो धर्म की शिक्षा कभी कोई विरक्त कर सकता है (तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः) तपस्वी क्षत्रियादि से भी, ब्राह्मणों से, पक्षियों से, वा कुत्तों से (अन्यैर्भिक्षुकैर्वाऽऽकीर्णमागारं नोपसंव्रजेत्) अथवा अन्य भिक्षुक संन्यासी

ब्रह्मचारियों से घेरे हुए स्थान में संन्यासी न जावे (क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः) संन्यासी शिर के केश डाढ़ी मोंछों को मुड़ाये और नखों को कटाये रहे किन्तु इन को रखाये न रहे (पात्री दण्डी कुसुम्भवान्) भिक्षा के लिये एक खपर हाथ में रक्खे एक बांस का दण्ड सदा समीप रक्खे और कुसुम्भ नाम एक मट्टी आदि का करवा सब समय पास रक्खे [यदि कुसुम्भवान् शब्द का अर्थ कुसुम के फूल से रंगे वस्त्र धारण करना किया जाय तो पूर्व कहे कुचेल से विरोध आवेगा क्योंकि कुसुम का रंग उत्तम केशरिया होता है] (नियतः सर्वभूतान्यपीडयन्नित्यं विचरेत्) इन्द्रियों को सर्वथा वश में रखता हुआ शुद्ध शान्त संन्यासी अपने से शत्रुता रखने वालों को भी किञ्चित् भी पीड़ा न पहुंचाता हुआ नित्य विचरे भ्रमण किया करे कहीं एकत्र सुखपूर्वक न बैठे जिस कारण कहीं किसी से रागद्वेष न होने पावें (तस्य चातैजसानि पात्राणि निर्व्रणानि स्युः) उस संन्यासी के कांसा पीतल आदि चमक वाले धातुओं से भिन्न मट्टी काष्ठादि के पात्र छिद्रादि रहित हों अर्थात् फूटे न हों (अध्वरे चमसानामिव तेषामद्भिः शौचं स्मृतम्) यज्ञ में चमसों की जैसे केवल जल से धो डालने मात्र से शुद्धि होजाती है वैसे संन्यासी के मृत्पात्रादि की भी केवल जल से शुद्धि हो जाती है (अलाबुं दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा) तूंबा, लकड़ी का कमण्डलु, मट्टी का करवा अथवा बांस का पात्र (स्वायम्भुवो मनुरेतानि यतिपात्राण्यब्रवीत्) स्वायम्भुव मनु जी ने इतने पात्र संन्यासी के लिये कहे हैं [इस श्लोक पर सब से पहिले टीकाकार मेधातिथि का टीका नहीं है तिस से तथा तैजस पात्रों का निषेध होने से अर्थापत्ति द्वारा भी तूंबा आदि पात्र ही आ सकने सेहैं यह श्लोक पुनरुक्त वा निरर्थक होने से पीछे मिलाया जान पड़ता है इसी कारण इस की अप्रमाणता ठहर जाने के भय से स्वायंभुव मनुने कहा ऐसा कहा गया] (एककालं भैक्षं चरेत्) एक समय भिक्षा करे (विस्तरे न प्रसज्जेत) वार २ बहुत खाने में न फसे (हि) जिस कारण (भैक्षे प्रसक्तो यतिः) खूब अच्छे २ खाने में लगा हुआ संन्यासी (विषयेष्वपि सज्जति) अन्य विषयों में भी क्रमशः फंस ही जाता है (विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने) ग्रामस्थ गृहस्थों के घर में धुंआ उठना, तथा उखली मूसल से कूटने का शब्द बन्द हो जावे, चूल्हों का अग्नि बुत जावे, गृहस्थ के संबन्धी सब खा चुकें (शरावसंपाते वृत्ते) मट्टी के शकोरा वा शरवा [परई] आदि उठा कर बाहर फेंक दिये जावें अर्थात् भोजनादि करके गृहस्थ लोग सर्वथा निवृत्त हो जावें तब (यतिर्नित्यं भिक्षां चरेत्) संन्यासी

नित्य भिक्षा मांगने को गृहस्थों के द्वारे पर जाया करे (अलाभे विषादी न स्यात्) भिक्षा न मिलने पर दुःखित न हो (लाभे चैव न हर्षयेत्) और अच्छी भिक्षा मिलने में कुछ हर्ष भी न करे (मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः प्राणयात्रिकमात्रः स्यात्) यह दण्ड कमण्डलु आदि अच्छा है, यह तो अच्छा नहीं इत्यादि प्रकार लेशमात्र भी आसक्ति को छोड़ कर प्राणयात्रा जीवन निर्वाह चलने मात्र के लिये थोड़ा भिक्षान्न एक वार खाया करे (अभिपूजितलाभांस्तु सर्वशो जुगुप्सेतैव) सम्मानपूर्वक होने वाले भिक्षादि लाभों को सब ओर से निन्दा वा घृणा ही करे अर्थात् सम्मानपूर्वक भिक्षा की चाहना न करे (अभिपूजितलाभैश्च मुक्तोऽपि यतिर्वध्यते) क्योंकि सम्मानपूर्वक भिक्षादि लाभों में फंसने से मुक्तनाम जीवन्मुक्त हुआ भी संन्यासी बन्धन में पड़जाता है (अल्पान्नाभ्यवहारेण) थोड़ा अन्न खाने तथा (रहःस्थानासनेन च) एकान्त स्थान में रहने वैठने द्वारा (विषयैर्ह्रियमाणानीन्द्रियाणि निवर्त्तयेत्) विषयों की ओर खिचे हुए इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करे (इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च) रागद्वेष के क्षीण होने इन्द्रियों के रोकने (अहिंसया च भूतानाम्) और प्राणियों की हिंसा के सर्वथा त्याग से (अमृतत्वाय कल्पते) संन्यासी मुक्त होने के लिये समर्थ होता है॥

भा०—उत्पातादि बता कर भिक्षा की चाहना नौकरी करने के समान पराधीनता का काम है। अन्य किन्हीं भी प्राणियों से घिरे हुए स्थान पर बसने को वा विशेष कर ठहरने के लिये न जावे परन्तु धर्म वा ज्ञान की चर्चा द्वारा अपना वा अन्यों का लाभ होने की दशा में दोष नहीं है। तैजस कांसे आदि के मूल्यवान् पात्रों को कोई चुराले जावे तो संन्यासी को शोक होने का सम्भव है। सो संन्यासी को शोकादि न व्यापे इसी से अतैजस मट्टी आदि के पात्रों का विधान है। अधिक २ भोजन करने से विषय वासना को सचेत करने वाली प्रबलता इन्द्रियों में होती है तिस से अधिक खाने का निषेध किया है। भोजन होने के समय यदि संन्यासी ग्राम में जावेगा तो भोजन ठीक तयार न होने से ग्राम में अधिक काल तक ठहरने पड़े वा लौट आने से गृहस्थ को क्लेश हो यह सब कुछ संन्यासी के लिये अनिष्ट है इस से उस समय भिक्षा मांगने को न जावे किन्तु १ प्रहर दिन रहे समय गृहस्थ के घर पर भिक्षा मांगने को जावे। दुःख से मुक्त होने के लिये संन्यासी को वड़ा उपाय करना चाहिये। उस में भी समता की प्रधानता अर्थात् उन उपायों में समता मुख्य है। लाभ वा अलाभ में हर्ष शोक का त्याग तथा सम्मान के साथ भिक्षादि का वर्जन भी यह सब उसी

समता का व्याख्यान है। थोड़ा अन्न खाना और एकान्त में रहना जितेन्द्रिय होने का बड़ा प्रधान कारण है और इन्द्रियों के वशीभूत होजाने पर रागद्वेष तथा हिंसादि का स्वयमेव अभाव होजाने पर मुक्ति होना अति सहज है ॥६०॥

अवेक्षेतगतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः ।
निरयेचैवपतनं यातनाश्चयमक्षये ॥
विप्रयोगंप्रियैश्चैव संयोगंचतथाऽप्रियैः ।
जरयाचाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥
देहादुत्क्रमणंचास्मात्-पुनर्गर्भेचसम्भवम् ।
योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥
अधर्मप्रभवंचैव दुःखयोगंशरीरिणाम् ।
धर्मार्थप्रभवंचैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥
सूक्ष्मतांचान्ववेक्षेत-योगेनपरमात्मनः ।
देहेषुचसमुत्पत्ति-मुत्तमेष्वधमेषुच ॥६५॥

अ०-कर्मदोषैः समुद्भवा नृणामलिगर्हितसूकरादियोनिषु गतीरधोगमनानि, निरये ततोऽपि निकृष्टे शाश्वतदुःखालये नरके पतनं, यमक्षये यातनाश्च पीडाभोगाश्च [यमो-मृत्युस्तस्य स्थानं निवासो नाभिः। मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदित्यैतरेयोपनिषदि] प्रियैः पुत्रकलत्रादिभिः केषां विप्रयोगमप्रियैः शत्रुहिंसकादिभिरन्येषां संयोगं, जरया जीर्णदशया चाभिभवनं केषामपि व्याधिभिश्चोपपीडनमन्येषामस्माद्देहादुत्क्रमणं मरणं पुनरन्यस्मिन् गर्भे गर्भाशये सम्भ-

समुत्पत्तिमस्यान्तरात्मनो जीवस्य योनिकोटिसहस्रेषु सृती पुनःपुनर्मृत्वाऽसंख्ययोनिषु गमनं शरीरिणामधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं धर्मार्थप्रभवं चैवाक्षयं सुखसंयोगमवेक्षेत। उत्तमेषु-अपि ब्राह्मणादिषु,अधमेषु मलकुम्यादिषु च देहेषु स्वस्य समुत्पत्तिं योगेन योगाभ्यासेन परमात्मनश्च सूक्ष्मतामनवेक्षेत गत्यादीनामवेक्षणं सूक्ष्मतायाश्चान्ववेक्षणम् ॥

भा०—एतत्कथनेन संसारस्य संसारत्वं दुःखमयत्वं च स्पष्टं प्रतिपाद्यते। "मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ता धर्माश्चविच्छेदेनैव प्रवर्त्तमानाः संसारः" इति वात्स्यायनर्षिकृतं संसारलक्षणं सर्वमेवात्र संघटते। जन्मारभ्य मरणावधि यावान् व्यापारः प्राणयात्रार्थः क्रियते तावान् सर्वएव दुःखानुषक्तो दुःखेनावियुक्तश्च तच्च सर्वं दुःखानुसक्तं दुःखमयमहो! दुःखमितियः सम्यक् पश्यति स निर्विद्यते निर्विण्णो विरज्यते विरक्तश्चावश्यं विमुच्यते। यथा कोऽपि क्वापि गृहे देशे स्थाने वा दुःखाधिक्यमीक्षणेन पश्यति तदैव तदनुपादानेन तज्जन्यदुःखादपि मुच्यतएव। नहि कोऽपि दुःखहेतुत्वं कस्याप्यजानंस्ततः कदापि निर्विद्यते नच निर्वेदमन्तरेण कोऽपि विरज्यते नच वैराग्यमन्तरेण कोऽपि कदापि विमुच्यते। तस्मात्सर्वदुःखेभ्यो विमोक्षस्य परम्परया मूलं कारणं संसारस्य संसारत्वेनैवोक्तप्रकारकमीक्षणमेवास्ति। विषस्य विषत्वं जानानएव विषभक्षणाद्विरक्तस्तज्जन्यदुःखादपि मुच्यतएव। अतएव दुःखाद्भीतो दुःखकारणमिदमितीक्षमाणो तत्संयोगजन्यदुःखान् मुच्यते। तस्मात्संन्यासिनोक्तविधमीक्षणं कार्यमेव ॥ ६५ ॥

भावार्थः-(कर्मदोषसमुद्भवा नृणां गतीरवेक्षेत) संन्यासी पुरुष कर्मसम्बन्धी रागादि दोषों से प्रकट होने वाली सूकरादि नीच योनियों में जाना आदि वक्ष्यमाण गतियों का एकान्त बैठ २ शोच विचार करे कि मैं संसार में फंसा रहा तो मेरी भी यही दशा होगी इत्यादि (निरये चैव पतनम्) सूकरादि योनि से भी अत्यन्त नीच सनातन दुःखसागर रूप नरक में गिरना (यमक्षये यातनाम्) यम नाम मृत्यु के स्थान में पीड़ाओं का भोगना [अपान का रूप धारण कर मृत्यु ने नाभि में प्रवेश किया है इस से उस का निवास स्थान नाभि वा मध्यम भाग है। सृष्टि में भी अन्तरिक्ष का भी मध्य मृत्यु का निवास स्थान है] (प्रियैश्चैव विप्रयोगं तथाऽप्रियैः संयोगम्) प्रिय स्त्री पुत्रादि के साथ किन्हीं का वियोग तथा शत्रु वा हिंसक सिंह व्याघ्रादि के साथ किन्हीं का संयोग होना (जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम्) शिथिल अशक्त दशा से दबाया जाना और बड़े २ प्रबल भयङ्कर रोगों से ग्रस्त होना (अस्माद्देहादुत्क्रमणं पुनश्च गर्भे सम्भवम्) इस सर्वोपरि प्रिय शरीर से निकलना और फिर अन्य किसी महामलिन नरकरूप गर्भाशय में जन्म लेकर नव दश मासतक वहां वसना (अस्यान्तरात्मनो योनिकोटिसहस्रेषु सृतीः) इस अन्तरात्मा जीव का असंख्य प्रकार की घृणित योनियों में वार २ आवागमन करना (शरीरिणामधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगम्) अधर्म से होने वाला दुःख शरीरधारियों को मिलना (धर्मार्थप्रभवं चैवाक्षय्यसुखसंयोगम्) धर्म और धन दानादि द्वारा होने वाला सापेक्ष अविनाश सुख स्वर्गादि का मिल जाना इन सब कर्मों से होने वाली प्राणियों की दशाओं को ज्ञानदृष्टि से देखे (उत्तमेष्वधमेषु च देहेषु समुत्पत्तिं च) और उत्तम ब्राह्मण ऋषि, देव पितर आदि देहों में और अति नीच मलमूत्र के कृमि आदि शरीरों में अपनी उत्पत्ति का सूक्ष्म दृष्टि से स्मरण करे (च) और (योगेन परमात्मनः सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत) योगाभ्यास द्वारा परमात्मा की सूक्ष्मता को भी देखें ॥

भा०-इस सब कथन से संसार की संसारता और उस का दुःखमय होना स्पष्ट ही दिखा दिया है "मिथ्याज्ञान, दोष, प्रवृत्ति, जन्म, दुःख इन सब का लगातार विद्यमान रहना संसार कहाता है" यह वात्स्यायन ऋषि का कहा संसार का लक्षण सभी यहां संघटित हो जाता है। जन्म से लेकर मरण पर्यन्त जितना व्यवहार जीवन सिद्धि के लिये प्राणी करते हैं वह सभी दुःख से व्याप्त और कभी दुःख से वियुक्त पृथक् होने वाला नहीं है। सो सभी दुःख मिश्रित और दुःखमय है अर्थात् ओहो! आश्चर्य कैसा अपार संसार सागर दुःख से ठ-

[इ]ठस भरा है ऐसा जो सम्यक् देखता जानता है वह उदासीन होता उदासीन होके विरक्त और ठीक विरक्त होने पर मुक्त होता है । जैसे कोई पुरुष किसी [प]र देश वा स्थान में ध्यान देकर दुःख की अधिकता देखता है तभी उस का [स्वी]कार न करने पर उस से होने वाले दुःख से भी छूट ही जाता है । कोई [कि]सी पदार्थ को दुःख का हेतु न जानता हुआ उस से कदापि उदास नहीं होता और न उदास हुए विना कोई विरक्त होता है और न वैराग्य हुए विना [को]ई कभी मुक्त हो सकता है । तिस से सिद्ध हुआ कि संसार का संसारत्व के [स]ाथ उक्त प्रकार ध्यान दृष्टि से निरीक्षण करना ही परम्परागत मोक्ष का मूल कारण है क्योंकि विष का विष होना जानता हुआ ही विषभक्षण से विरक्त होता तभी विष से होने वाले दुःख से छूटता है । इसी से दुःख से डरा हुआ दुःख के कारण को देखता हुआ छूट जाता है तिस से संन्यासी को कहे अनुसार संसार का ईक्षण करना ही चाहिये ॥ ६५ ॥

दूषितोऽपिचरेद्धर्मं यत्रतत्राश्रमेरतः ।
समःसर्वेषुभूतेषु नलिङ्गंधर्मकारणम् ॥
फलंकतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
ननामग्रहणादेव तस्यवारिप्रसीदति ॥
संरक्षणार्थंजन्तूनां रात्रावहनिवासदा ।
शरीरस्यात्ययेचैव समीक्ष्यवसुधांचरेत् ॥
अह्नारात्र्याचयाञ्जन्तू-न्हिनस्त्यज्ञानतोयतिः ।
तेषांस्नात्वाविशुद्ध्यर्थंप्राणायामान्षडाचरेत् ।
प्राणायामाब्राह्मणस्य त्रयोऽपिविधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयंपरमंतपः ॥
दह्यन्तेध्मायमानानां धातूनांहियथामलाः ।

तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥
प्राणायामैर्दहेद्दोषा-न्धारणाभिश्च किल्विषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गा-न्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिरस्यान्तरात्मनः ॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥
अहिंसयेन्द्रियासङ्गै-र्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥७५॥

अ०—यत्र तत्र कस्मिन्नप्याश्रमे रत आश्रमलिङ्गत्यागा-द्दूषितोऽपि सर्वेषु भूतेषु प्राणिषु समदर्शनः सन् लिङ्गं धर्मकारणं नास्तीति मत्वा धर्मं चरेत् नान्यैर्दूषित आत्मानमवमन्येत । यद्यपि कतकवृक्षस्य निर्मल्याः फलमम्बुप्रसादकं शोधकमस्ति तथापि तस्य नामग्रहणादेव वारि न प्रसीदत्यपितु तदानीय पिष्टोदके यदा क्षिप्यते तदा प्रसीदति तद्वल्लिङ्गं धृत्वाऽधृत्वा वा सर्वथापि कृतसाधनो विरक्तः सिध्यत्येव । रात्रावहनि वा सदा शरीरस्यात्यये पीडितेऽपि शरीरे जन्तूनां संरक्षणार्थं वसुधां समीक्ष्य सम्यक् पश्यन् चरेत । यतिरज्ञानतोऽह्ना रात्र्या च यान् जन्तून् हिनस्ति तेषां हिंसादोषविशुध्यर्थं स्नात्वा षट्प्राणायामान् चरेत् । व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विधिवत्कृतास्त्रयोऽपि प्राणा-

यामा ब्राह्मणस्य परमं तपो विज्ञेयम्। यथा ध्मायमानानां धातूनां मला दह्यन्ते तथा प्राणस्य निग्रहात्प्राणायामाभ्यासादिन्द्रियाणां दोषा दह्यन्ते। प्राणायामैरागद्वेषादिदोषान् धारणाभिश्च योगप्रतिबन्धि किल्विषं प्रत्याहारेण विषयेभ्यइन्द्रियाणां प्रत्यावर्त्तनेन विषयेन्द्रियसंयोगान्ध्यानेनानीश्वरान् कामक्रोधादिगुणानीश्वरस्य ध्यानेन दहेत्। उच्चावचेषु भूतेष्वकृतात्मभिर्दुर्ज्ञेयामस्यान्तरात्मनो गतिं ध्यानयोगेन सम्पश्येत्। सम्यग्दर्शनसम्पन्नः सम्यक्तत्त्वं जानानो दर्शनशास्त्रमर्मज्ञः संन्यासी कर्मभिर्न निबध्यते दर्शनेन तत्त्वज्ञानेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यतएव, अहिंसया सर्वथा हिंसात्यागेनेन्द्रियासङ्गैरिन्द्रियाणां वशीकरणैर्वैदिकैर्यज्ञादिकर्मभिरुग्रैस्तपसश्चरणैश्चेह संयतात्मानो मनीषिणस्तत्पदं तत्त्वज्ञानं सर्वदुःखेभ्यो मोक्षकं साधयन्ति तत्त्वज्ञानस्य मुक्तेश्चेदमेव साधनम् ॥

भा०—अत्र लिङ्गस्य प्राधान्यवारणे प्रयोजनं नतु लिङ्गवैयर्थ्यप्रदर्शने तात्पर्यमस्ति। लिङ्गं धृत्वाऽपि कश्चिदनर्थं करोति कश्चिच्च लिङ्गमन्तरेणापि तत्कार्यं साधयति। एवं सति वैयर्थ्यं लिङ्गस्य स्यात्। यो लिङ्गं धृत्वा तात्पर्येण साधनान्यनुतिष्ठति स त्यक्तलिङ्गात्साधनतत्परात्साधुतरः। यश्च लिङ्गं धृत्वाप्यनर्थं करोति सोऽपि त्यक्तलिङ्गादनर्थकारिणो वरइति विचारेणोभयथापि लिङ्गधारणमवितथम्। लिङ्गमन्तरेण न तदाश्रमकृत्यं कुर्यामिति न मन्येतापितु तदानीमपि धर्ममेवाचरेदित्याशयः। सर्वपापानां मूलं का-

रणां हिंसा तां सर्वथा प्रयत्नेन विवर्जयेत्। अतएवाहिंसा परमो धर्मः स च सेव्यमानो मोक्षस्य मूलं भवति। प्राणायामैरिन्द्रियदोषदाहाज्ज्ञानं वर्धते ततोऽग्रेऽग्रे ज्ञानजन्यप्रकाशेन हिंसादोषादपि यतिर्निवर्त्तते। प्राणायामैरिन्द्रियदोषाभावे धारणादिभिः किल्विषादयः स्वतएव निवर्त्तन्ते प्राणायामे च सम्यक् सिद्धे धारणादीनां कार्यत्वादस्त्येव सुलभत्वम्। यो हि ध्यानेनान्तरात्मगतिं पश्यति सर्वविधप्राणिषु कथमयमन्तरात्मा प्रविष्टो निबद्धश्चेति ध्यानयोगेन यः पश्यति स आत्मज्ञः सन् तत्त्वज्ञो भवति। सएव धर्मानुष्ठानस्य सीमानं प्राप्तः सम्यग्विदितवेद्योऽनामयं मोक्षपदं प्राप्नोति नान्यः॥ ७५॥

भाषार्थः-(यत्रतत्राश्रमे रतः) जिस किसी आश्रम के कार्य में लगा तत्पर रहता हुआ पुरुष (दूषितोऽपि सर्वेषु भूतेषु समः) संन्यासादि आश्रम के चिह्न का धारण न करने वा त्याग देने से अन्यों द्वारा दूषित निन्दित हुआ भी सब प्राणियों में सम दृष्टि रखता हुआ (लिङ्गं धर्मकारणं न) चिह्न धर्म का कारण नहीं है ऐसा मान कर (धर्मं चरेत्) धर्माचरण ही करे किन्तु अन्यों के दूषित कर देने पर अपने आत्मा में ग्लानि करके निकृष्ट कर्म न करे (यद्यपि कतकवृक्षस्य फलमम्बुप्रसादकम्) यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल जल को शोधने वाला है तथापि (तस्य नामग्रहणादेव वारि न प्रसीदति) उस फल का नाम लेनेमात्र से जल प्रसन्न नहीं होता किन्तु उस को लाकर पीसके जब जल में छोड़ा जाता तब जल की मलिनता को छांट कर जल को शुद्ध करता है। उसी के तुल्य आश्रम के चिह्न धारण कर वा न करके सब ही दशा में उत्तम साधनों का सेवन करने वाला विरक्त मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होही जाता है (रात्रावहनि वा सदा) रात्रि वा दिन में सभी समय में (शरीरस्यात्यये चैव) शरीर के पीड़ित होने पर भी (जन्तूनां संरक्षणार्थं वसुधां समीक्ष्य चरेत्) जीव जन्तुओं की रक्षा के लिये पृथिवी को ठीक २ देख कर संन्यासी चला करे किन्तु ऊपर को मुख उठा

र न चला करे (यतिरज्ञानतोऽह्ना रात्र्या च यान् जन्तून् हिनस्ति) संन्यासी दिन वा रात्रि में विना जाने जिन जीवों को मारता है (तेषां विशुद्ध्यर्थं स्ना- त्वा षट्प्राणायामान् चरेत्) उन सम्बन्धी हिंसा दोष की निवृत्ति के लिये स्नान करके प्राणायाम करे (व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विधिवत्कृतास्त्रयोऽपि प्राणायामाः) व्या- हृति और प्रणव से युक्त विधिपूर्वक ठीक २ किये हुए तीन भी प्राणायाम (ब्राह्मणस्य परमं तपो विज्ञेयम्) ब्राह्मण के कर्त्तव्य में परमोत्तम तप वा शोधक जानो (यथा ध्मायमानानां धातूनां मला दह्यन्ते) जैसे अग्नि में धर के धोंके हुए सुवर्ण आदि धातुओं के मल भस्म होजाते हैं (तथा प्राणस्य निग्रहादिन्द्रियाणां दोषा दह्यन्ते) वैसे प्राण के रोकने रूप प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत हो जाते हैं (प्राणायामैर्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम्) प्राणायामों द्वारा रागद्वेषादि दोषों, धारणाओं के द्वारा योग के विरोधी कल्मष–पाप को (प्रत्याहारेण संसर्गान्) विषयों की ओर भागने से इन्द्रियों को लौटाने द्वारा सङ्गजन्य दोषों को और (ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् दहेत्) ईश्वर के ध्यान द्वारा ईश्वर प्राप्ति में मुख्य विघ्न- कारी वा जो ईश्वर में सर्वथा ही नहीं हैं ऐसे काम क्रोधादि अनीश्वर गुणों को [जिन की ओर अधिक झुकने वाला जन स्वयं भी ईश्वरपन-स्वामिपन से च्युत होजाता है] नष्ट–भस्मीभूत कर देवे अर्थात् जल में अग्नि को बुता देने के स- मान प्राणायामादि में रागद्वेषादि को नष्ट करने की स्वाभाविक शक्ति है यही इस धर्म की व्यापकता जानो (उच्चावचेषु भूतेष्वकृतात्मभिर्दुर्ज्ञेयामस्यान्तरात्म- नो गतिम्) ऊंचे नीचे सब प्राणिदेहों में विद्यमान मूर्ख लोगों को न जानने योग्य इस अन्तरात्मा जीव की दशा [हालत] को (ध्यानयोगेन संपश्येत्) ध्यानरूप योगाभ्यास द्वारा विचारपूर्वक अपने अन्तःकरण में देखे और शोचे (स- म्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते) दर्शन शास्त्रों का मर्मज्ञ ठीक २ तत्त्व जानता हुआ संन्यासी कर्मों से होने वाली वासनाओं से आगे के लिये बद्ध नहीं होता अर्थात् उस के लिये वर्त्तमान के कर्म भविष्यत्–होने वाले बन्ध के हेतु नहीं होते (दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते) और तत्त्वज्ञान से रहित शून्य संन्यासी संसार के प्रवाह में ही पड़ जाता है मुक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता (अ- हिंसयेन्द्रियासङ्गैः) सर्वथा हिंसा के त्याग और इन्द्रियों को वशीभूत करने द्वारा (वैदिकैश्चैव कर्मभिः) वेदोक्त अग्निहोत्र स्वाध्यायादि कर्मों के सेवन से (उग्रै- स्तपसश्चरणैश्च) और उग्र–कठोर तप करने द्वारा (इह तत्पदं साधयन्ति) संय-

म से रहने वाले विद्वान् विरक्त लोग सब दुःखों से छुड़ाने वाले तत्त्वज्ञानरूप जीवन्मुक्ति के अधिकार को इसी जन्म वा शरीर में सिद्ध कर लेते हैं ॥

भा०-यहां चिह्न की प्रधानता हटाना प्रयोजन है किन्तु चिह्न की व्यर्थता दिखाना यहां इष्ट नहीं है। क्योंकि चिह्न धारण करके भी कोई अनर्थ करता और कोई चिह्न धारण किये विना भी विरक्त संन्यासी हो जाता अर्थात् पूर्ण विरक्तता के काम करता है। ऐसा होने पर वेष धारण करना व्यर्थ हो सो नहीं क्योंकि जो पुरुष संन्यास का वेष धारण कर तत्परता से ज्ञान वैराग्य के साधनों का अनुष्ठान करता है वह वेष छोड़ के तत्परता से साधनों का अनुष्ठान करने वाले से बहुत अच्छा है। और जो चिह्न धारण करके भी अनर्थ करता है वह भी चिह्नों को त्याग के अनर्थ करने वाले से अच्छा न्यून अनर्थकारी होगा अर्थात् वेष धारण सुकृत करने में कुछ सहायक होगा और दुष्कृत में बाधा पहुंचावेगा। इस से विचारपूर्वक देखो तो दोनों प्रकार संन्यासादि का वेषधारण निरर्थक नहीं किन्तु उपयोगी है। चिह्न धारण किये विना उस आश्रम का कृत्य करूं ही नहीं यह न माने किन्तु तब भी धर्म का ही आचरण करे यह आशय जानो। सब पापों का मूल कारण हिंसा है उस को सब प्रकार प्रयत्न के साथ छोड़ देवे इसी कारण अहिंसा सर्वोपरि परमोत्तम धर्म है वह सेवन किया हुआ मुक्ति का मूल कारण होता है प्राणायामों द्वारा इन्द्रियों के दोषों का नाश होने से ज्ञान बढ़ता है तिस से आगे २ ज्ञानजन्य प्रकाश से अज्ञान द्वारा होने वाले हिंसादि दोष से भी संन्यासी निवृत्त होता जाता है। प्राणायामों द्वारा इन्द्रियों के दोष नष्ट होने पर धारणादि के द्वारा किल्विषादि स्वयमेव निवृत्त हो जाते हैं। और प्राणायाम के ठीक सिद्ध होने पर धारणादि प्राणायाम के कार्य होने से सुलभ होजाते हैं। जो पुरुष ध्यान के साथ अन्तरात्मा की दशा को देखता है सब प्रकार के प्राणियों में यह अन्तरात्मा कैसे प्रविष्ट वा निबद्ध हुआ इस प्रकार ध्यानयोग से जो देखता है वह आत्मज्ञ हुआ तत्त्वज्ञानी होजाता है वही धर्मानुष्ठान की सीमा को प्राप्त हुआ सम्यग् जानने वाला निरुपद्रव मोक्ष पद को प्राप्त होता है अन्य नहीं ॥ ७५ ॥

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥

जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यंच भूतावासमिमंत्यजेत् ॥
नदीकूलंयथावृक्षो वृक्षंवाशकुनिर्यथा ।
तथात्यजन्निमंदेहं कृच्छ्राद्ग्राहाद्विमुच्यते ॥
प्रियेषुस्वेषुसुकृत-मप्रियेषुचदुष्कृतम् ।
विसृज्यध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येतिसनातनम् ॥
यदाभावेनभवति सर्वभावेषुनिःस्पृहः ।
तदासुखमवाप्नोति प्रेत्यचेहचशाश्वतम् ॥
अनेनविधिनासर्वा-स्त्यक्त्वासङ्गाञ्छनैःशनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥
ध्यानिकंसर्वमेवैत-द्यदेतदभिशब्दितम् ।
नह्यनध्यात्मवित्कश्चित्-क्रियाफलमुपाश्नुते
अधियज्ञंब्रह्मजपे-दाधिदैविकमेवच ।
आध्यात्मिकंचसततं वेदान्ताभिहितंचयत् ॥
इदंशरणमज्ञाना-मिदमेवविजानताम् ।
इदमन्विच्छतांस्वर्ग--मिदमानन्त्यमिच्छताम्॥
अनेनक्रमयोगेन परिव्रजतियोद्विजः ।
सविधूयेहपाप्मानं परंब्रह्माधिगच्छति ॥

एषधर्मोऽनुशिष्टोवो यतीनांनियतात्मनाम् ।
वेदसंन्यासिकानांतु कर्मयोगंनिबोधत ॥८६॥

अ०-अस्थीन्येत्र स्थूणाइवास्मिन् स्नायुभिर्युतं मिश्रितं चर्मणावनद्धं बहिश्छादितं मांसशोणिताभ्यामुपलिप्तं मूत्रपुरीषयोर्मूत्रपुरीषाभ्यां पूर्णमतएव दुर्गन्धि जरावस्थया शोकेन च समाविष्टं विविधरोगाणामाधारं क्षुत्पिपासादिभिरातुरं रजोमूत्रादिमालिन्ययनिः सरणशीलं विनश्वरस्वभावं पृथिव्यादिभूतानामावासस्थानं जीवस्य गृहमिवेदं शरीरं त्यजेत् । वृक्षो यथा नदीकूलं नदीप्रवाहाधीनं त्यजति तद्वत्कर्माधीनं देहपतनं यस्यास्ति तस्य कर्मभोगान्ते शरीरपातान्मोक्षो येन च मृत्युर्वशीकृतः स यथा शकुनिर्वृक्षं त्यजति तथा स्वेच्छया देहं त्यजन् कृच्छ्राद् ग्राहाद् ग्राहसदृशाद् भयहेतोर्दुःखाद्विमुच्यते प्रकारद्वयेपि मोक्षस्य साम्यम् । स्वेषु प्रियेषु सुकृतं स्वेष्वप्रियेषु च दुष्कृतं ध्यानयोगेन विसृज्य सनातनं ब्रह्माभ्येति प्राप्नोति । यदा भावेन चेतसा सर्वभावेषु सर्वपदार्थेषु निःस्पृहो भवति तदा प्रेत्य चेह च शाश्वतं सुखमवाप्नोति । अनेन विधिना शनैःशनैः सर्वानसङ्गांस्त्यक्त्वा सर्वैर्मानापमानादिद्वन्द्वैर्विशेषेण निर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते । यदेतदभिशब्दितमस्थिस्थूणमित्यादि यद्वाचोक्तं तत्सर्वं ध्यानिकमथवा यत्किमपि स्नातकादेः कर्त्तव्यमुक्तं तत्सर्वं ध्यानिकं ध्यानेन विचारेण यः सम्यग्जानाति सोऽध्यात्मविदेव सर्वस्य क्रियाकाण्डस्य फलमुपाश्नुते यश्च वाङ्मात्रेण कथयति किमपि करोति च नासौ

फलमश्नुते । यदा ध्याने चेतो न लगेत्तदा संन्यासी यज्ञमधिकृत्य ब्रह्म वेदं जपेत्पठेत् । एवमाधिदैविकमाध्यात्मिकं च वेदान्ताभिहितं ब्रह्म चोपासीत । इदं वेदाध्ययनादिकमेव ज्ञानवतामज्ञानामिदमेव स्वर्गमन्विच्छतामिदमेवानन्त्यमिच्छतां शरणमस्ति । अनेन क्रमयोगेन यो द्विजः परिव्रजति स इह पाप्मानं विधूयामुत्र परं ब्रह्माधिगच्छति । नियतात्मनां यथाकर्त्तुमिच्छन्ति तथैव शक्तिमतां स्वायत्तानां यतीनां परमपदाप्तये यतमानानां विरक्तानां धर्मो वो युष्मभ्यमनुशिष्टो मयेति भृगुराह । वेदसंन्यासिकानां वेदेन ज्ञानेनैव संन्यासो येषां नतूपरिष्टाद्वेषधारणगृहत्यागादिर्यैः क्रियते तेषां कर्मयोगं यूयं श्रोतार ऋषयो निबोधत ॥

भा०—अस्थिस्थूणमित्यादिकथनेन शरीरतत्त्वं तथ्यमेव मलिनस्वरूपं घृणोत्पादाय प्रदर्शितम् । इयमेव विद्याऽतएव योगभाष्यउक्तम्—"स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्पन्दान्निधनादपि । कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिताह्यशुचिं विदुः" इति । नच घृणोत्पत्तिमन्तरेण हर्षपुरस्सरं कस्यापि त्यागः कर्त्तुं शक्यते । नदीकूलमित्यादिना च विशिष्टमनित्यत्वं शरीरस्य प्रदर्शितम् । विशिष्टं नियतं चानित्यत्वं कस्यापि जानानास्तद्विनाशेनाधिकं शोचन्ति दुःखं वानाऽनुभवन्ति ध्यानेन मर्मावधि तत्तज्ज्ञानानएव यस्तत्तद्विरक्तकृत्यं सम्यक्सेवते सएव तस्य कर्मणस्तत्तत्फलमाप्नोति न सर्वः । अर्थात्सर्वकृत्ये तत्त्वज्ञानस्य प्राधान्यं मन्येत । तेष्वपि तत्त्वज्ञानानुमतकर्त्तव्ये चत्वारि प्रधानानि मत्वाऽधिक्येन

सेवेत। पञ्चमहायज्ञादियज्ञेषु वेदाध्ययनरूपं ब्रह्मयज्ञं, श्रेष्ठेषु देवान् प्रकाशप्रधानान्सेवेत। शरीरस्यान्तर्विद्यमानेष्वात्मानमन्विच्छेद्वेदान्ताभिहितमेकं ब्रह्म चोपासीत। इदमेव कृत्यं सर्वस्य सर्वदा सर्वथा सर्वापेक्षयाऽऽधिक्येन सुखकरमस्ति। एवमाचरन्नेव यः परिगृहीतं सर्वं सांसारिकं दुःखहेतुकं हित्वा संन्यस्यति स शुद्धः शुद्धं ब्रह्माऽऽप्नोति। एवं चानिष्टहानेनेष्टावाप्तिः सुकरा ॥ ८६ ॥

भावार्थः—(अस्थिस्थूणं स्नायुयुतम्) संन्यासी इस शरीर को—हड्डियों की जिस में थूनी [थुनकियां] लगी हैं नसों रूप रस्सियों से बंधे (मांसशोणितलेपनम्) मांस का जिस में लेप किया और उस के ऊपर लोहू से लीपे (चर्मावनद्धं मूत्रपुरीषयोः पूर्णं दुर्गन्धि) उस के भी ऊपर चमड़ा—खाल से बन्धे और विष्ठा मूत्र जिस के भीतर भरा मलमूत्र से पूर्ण इसी से दुर्गन्धयुक्त थोड़ी देर भी न धोने से दुर्गन्ध प्रत्यक्ष जिस में उठता (जराशोकसमाविष्टम्) शिथिल वा वृद्धावस्था और शोक जिस के भीतर मर्मों में प्रविष्ट हो रहा है जो अपने २ समय प्रत्यक्ष दीखता है (रोगायतनमातुरम्) रोगों का आधार रोग जिस में रहा ही करते हैं तथा सब समय भूख प्यासआदि किसी न किसी प्रकार की चाहना से दुःखित (रजस्वलमनित्यं च) सब समय जिस से छिद्रों द्वारा रज नाम मल निकलता रहता है और अनित्य जिस का पता नहीं कि कब तक खड़ा है और कब गिर जायगा (भूतावासमिमं त्यजेत्) पांच महाभूत जिस में रहते हैं ऐसे जीवात्मा के इस घर को महामलिन त्याज्य समझता हुआ संन्यासी त्यागने की इच्छा करे वा शरीर छूटने का समय आजावे तब ऐसे विचार से इस को छोड़े (वृक्षो यथा नदीकूलम्) नदी के किनारे को जैसे वृक्ष (वृक्षं वा शकुनिर्यथा) अथवा जैसे पक्षी वृक्ष को त्यागता है (तथेमं देहं त्यजन् कृच्छ्राद् ग्राहाद्विमुच्यते) वैसे इस शरीर को त्यागता हुआ बडे भयङ्कर ग्राह से छूट जाता है अर्थात् जब कर्म भोगने पश्चात् धीरे २ पराधीन दशा में [जैसे कि प्रवाह के आधीन वृक्ष का गिरना है] शरीर छोड़ता है तब नदी किनारे को वृक्ष के समान और वृक्ष को पक्षी के समान शरीर को छोड़ता है तब मृत्यु को अपने आधीन वशीभूत कर लेने से जब चाहता है तभी शरीर वृक्ष को छोड़ के उड़

जाता है । दोनों दशा में कृच्छ्र ग्राह से छूटना समान ही है पर विदेहमुक्ति से पूर्व जीवन्मुक्त दशा में दोनों का भेद रहता है (स्वेषु प्रियेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतं ध्यानयोगेन विसृज्य) संन्यासी शरीर छोड़ते समय अपने मित्रादि प्रिय उपकारियों में अपने संचित पुण्य को और अपने शत्रु आदि अप्रिय कुपियारे अनुपकारियों में ध्यान योग से दुष्कृत नाम संचित पाप को छोड़ के यदि शरीर त्यागता है तो (सनातनं ब्रह्माभ्येति) सनातन ब्रह्म नाम सदा से बड़े श्रेष्ठ ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है [यद्यपि विरक्त संन्यासी की ओर से कोई भी शत्रु वा मित्र नहीं हो सकता और जो हो सकता है तो उस को संन्यासी नहीं कह सकते तथापि संन्यासी किसी से रागद्वेष न करे तब भी कोई २ लोग स्वभाव से उस का कृतकार्य सुखी होना चाहते और कोई स्वभाव से ही उस का बुरा होना चाहते हैं इस से वे २ शत्रु मित्र कहावेंगे इसी से संन्यासी जब सुकृत दुष्कृत दोनों को सत्य चित्त से त्यागता है तब न्यायानुसार जो २ उस के विषय में अच्छा वा बुरा जैसा चाहता था उस २ को अपनी २ चाहना रूप कर्मानुसार वह २ फल मिला सो अनुचित नहीं है] (यदा भावेन सर्वभावेषु निःस्पृहो भवति) जब चित्त से सब पदार्थों में तृष्णा छोड़ देता है (तदा प्रेत्य चेह च शाश्वतं सुखमवाप्नोति) तब इस जन्म और जन्मान्तर में सनातन नित्य सुख को प्राप्त होता है (*अनेन विधिना शनैःशनैः स*-र्वान्सङ्गांस्त्यक्त्वा) इस उक्त प्रकार से धीरे २ सब फसावटों वा बन्धनों को त्याग के (सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते) सब मानापमानादि द्वन्द्वों से विशेष कर छूटा हुआ ब्रह्म नाम परमात्मा में ही अवस्थित होता है (यदेतदभिशब्दितं सर्वमेवैतद्ध्यानिकम्) हड्डी की थूनी आदि जो कुछ यहां कहा है अथवा ब्रह्मचारी स्नातकादि का जो कुछ कर्त्तव्य इस शास्त्र में कहा है वह सब ध्यानगम्य है जो उस को ठीक २ ध्यान देके विचारता है वही उस २ विषय का मर्मज्ञ पुरुष उस २ कर्म का यथार्थ परिणाम वा फल देखता है किन्तु (अनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलं नह्युपाश्नुते) भीतर से ठीक न जानने वाला उस कर्म को ऐसा नहीं कर पाता जिस का उचित फल मिले इसी से उस को क्रिया का फल प्राप्त नहीं होता (अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च) अग्निहोत्रादि क्रिया यज्ञ के छोड़ देने पर भी जब ध्यानादि में चित्त न लगे तब संन्यासी यज्ञ विषय का जिस में वर्णन है ऐसे ब्रह्म नाम वेद का तथा अग्नि आदि देवताओं के गुण वर्णन विषयक वेद का (आध्यात्मिकं च सततम्) तथा अपने भीतरी मन बुद्धि आदि के वर्णन वाले शिवसंकल्प सूक्तादि वेद भाग का और (वेदान्ताभि-

हितं च यत्) वेदान्त में जिस एक ईश्वर के महत्व का वर्णन है उस विषयक वेद मन्त्रों का जप पाठ बड़ी लाग से किया करे (इदमज्ञानामिदमेव विजानतां शरणम्) यही उक्त वेदाध्ययनादि कर्म अज्ञानी वा ज्ञानवानों का भी बड़ा आश्रय–आधार–ठहरने के लिये बड़ा सहारा है (इदमन्विच्छतां स्वर्गम्) यही सुख खोजने वालों को स्वर्ग देने वाला (इदमानन्त्यमिच्छताम्) और अनन्त मुक्ति सुख चाहने वालों को यही मुक्ति दाता है (अनेन क्रमयोगेन यो द्विजः परिव्रजति) इस क्रम से सेवन किये योगाभ्यास के साथ जो ब्राह्मण संन्यास लेता है (सइह पाप्मानं विधूय परं ब्रह्माधिगच्छति) वह यहां इसी जन्म वा शरीर में पूर्व से विद्यमान पाप को छुड़ाके जन्मान्तर में पर ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है (नियतात्मनां यतीनामेष धर्मो वोऽनुशिष्टः) जैसा चाहते वैसा करने को समर्थ स्वाधीन इन्द्रियों को सर्वथा वशीभूत रखने वाले परमपद मुक्ति को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न वा श्रम करते हुए विरक्त संन्यासियों का यह उक्त धर्म मैं [भृगु] ने तुम श्रोता ऋषि लोगों से कहा (वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत) वेद नाम ज्ञान से ही जिन का फल भोग विषय में संन्यास है किन्तु घर छोड़ने और वेष धारण करने द्वारा जो संन्यासी नहीं हुए उन का कर्त्तव्य कर्मयोग वा क्रियायोग आगे कहा तुम सुनो॥

भा०-हड्डी ही थूनी हैं इत्यादि कथन से मलिनतारूप सत्य २ शरीर का स्वरूप घृणा उत्पन्न होने के लिये दिखाया है। यही विद्या है इसी कारण योग भाष्य में कहा है कि "माता के मलमूत्रादियुक्त घृणित गर्भाशय में उत्पन्न होने, शुक्र–वीर्य और रुधिर से बनने, खाये पिये से बने रस रुधिरादि से ठहरने, हर वार इन्द्रिय छिद्रों से मल निकलने, मुर्दा की बड़ी अशुद्धि होने और शरीर शुद्धि का विशेष विधान होने से पण्डित लोग शरीर को अशुद्ध अपवित्र मानते हैं" और किसी वस्तु में घृणा उत्पन्न हुए विना उस को हर्ष पूर्वक कोई भी त्याग नहीं सकता। नदी तट के वृक्ष की उपमा देने आदि से शरीर की विशेष कर अनित्यता दिखायी है। किसी वस्तु का विशेष और निश्चित अनित्यत्व जानते हुए ज्ञानी ही उसके विनाश वा वियोग में अधिक शोक वा दुःख नहीं मानते। ध्यान के साथ मर्म पर्यन्त उस २ विषय को जानता हुआ ही जो उस २ विरक्त के कर्त्तव्य का ठीक २ सेवन करता है वही उस कर्म के उस २ फल को प्राप्त होता है, अन्य सब कोई नहीं अर्थात् सब कर्त्तव्य में तत्त्वज्ञान

की प्रधानता माने । उन तत्त्वज्ञान के अन्तर्गत कर्त्तव्यों में भी चार कर्त्तव्यों को प्रधान मान के अधिकता से सेवन करे। यज्ञविषय में ब्रह्मयज्ञ का और श्रेष्ठों में प्रकाश प्रधान देवताओं का सेवन स्तुति आदि, शरीर के भीतर विद्यमानों में आत्मा का खोज और वेदान्त में कहे एक ब्रह्म की उपासना किया करे। यही कर्त्तव्य सब के लिये सब काल में सब प्रकार से सब की अपेक्षा अधिक सुखकारी है। ऐसा आचरण करता हुआ ही जो ग्रहण किये सांसारिक दुःख हेतु सब विषय को त्याग के संन्यास लेता है वह शुद्ध हुआ शुद्ध सनातनब्रह्म को प्राप्त होता है इस प्रकार अनिष्ट के त्याग द्वारा इष्ट की प्राप्ति सुलभ है ॥८६॥

ब्रह्मचारीगृहस्थश्च वानप्रस्थोयतिस्तथा ।
एतेगृहस्थप्रभवा-श्चत्वारःपृथगाश्रमाः ॥
सर्वेऽपिक्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रंनिषेविताः ।
यथोक्तकारिणंविप्रं नयन्तिपरमांगतिम् ॥
सर्वेषामपिचैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थउच्यतेश्रेष्ठः सत्रीनेतान्बिभर्त्तिहि ॥
यथानदीनदाःसर्वे सागरेयान्तिसंस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणःसर्वे गृहस्थेयान्तिसंस्थितिम् ॥
चतुर्भिरपिचैवैते-र्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणकोधर्मः सेवितव्यःप्रयत्नतः ॥
धृतिःक्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकंधर्मलक्षणम् ॥
दशलक्षणानिधर्मस्य येविप्राःसमधीयते ।
अधीत्यचानुवर्त्तन्ते तेयान्तिपरमांगतिम् ॥

दशलक्षणकंधर्म-मनुतिष्ठन्समाहितः ।
वेदान्तंविधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणोद्विजः ॥
संन्यस्यसर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ।
नियतोवेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्येसुखंवसेत् ॥

[संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकंनसंन्यसेत् ।
वेदसंन्यासतःशूद्र-स्तस्माद्वेदंनसंन्यसेत् ॥]

एवंसंन्यस्यकर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ।
संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोतिपरमांगतिम् ॥
एषवोऽभिहितोधर्मो ब्राह्मणस्यचतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलःप्रेत्य राज्ञांधर्मंनिबोधत ॥९७॥

इति श्रीमानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां वानप्रस्थसंन्यासवर्णनो नाम षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥

अ०-ब्रह्मचर्यादयश्चत्वारः पृथक्पृथगाश्रमा गृहस्थप्रभवा गृहस्थादुत्पन्ना एवान्याश्रमिणो भवन्ति। सर्वेऽप्याश्रमा यथाशास्त्रं शास्त्रविध्यनुकूलं क्रमशो निषेविता यथोक्तकारिणं विप्रं परमां गतिं नयन्ति । स्वतोऽन्यस्याश्रमत्रयस्य भरणात्परोपकारधर्मस्याधिक्याद्ग गृहस्थोऽन्यापेक्षया श्रेष्ठ उच्यते । यथा सर्वे नदीनदा गच्छन्तः सागरे संस्थितिं यान्ति तथैव सर्वआश्रमिणो गृहस्थे संस्थितिं यान्ति भिक्षादिनिर्वाहस्य गृहस्थाधीनत्वात् । यद्वा संस्थितिं

मरणं प्राप्ता गृहस्थएव जायन्ते । चतुर्भिरपि चैवैतैराश्र-
मिभिर्द्विजैर्दशलक्षणको धर्मः प्रयत्नतः सेवितव्यः । धर्मस्य धृ-
त्यादीनि दशलक्षणानि ये विप्राः समधीयते सम्यक् स्मर-
न्ति जानन्ति पठन्ति च स्मृत्वा च तदनुकूलं वर्त्तन्ते सर्वदा
धृत्यादिकं रक्षयन्तएव व्यवहरन्ति ते परमां गतिं यान्ति ।
समाहितो दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् वेदान्तं च विधिवच्छ्रु
त्वा गुरुमुखादधीत्य वेदस्यान्तं सिद्धान्तं समधिगम्यानृणः
सन् द्विजः संन्यसेत्—वेदाभ्याससन्ध्योपासनाद्यतिरिक्तम-
खिलं कर्म त्यजेत् । वेदाध्ययनादावेव रमेत । कर्मदोषानपा-
नुदन् सर्वकर्माणि संन्यस्य नियतो जितेन्द्रियः सन् वेदमभ्यस्य
वेदाभ्यासमेव केवलं कर्मानुतिष्ठन् पुत्रस्यैश्वर्य्ये पुत्रतएव भि-
क्षादिकं निर्वाहमात्रं स्वीकुर्वन् वृत्तिचिन्तारहितः सुखं यथा
स्यात्तथा वसेत् । अत्रैवैकं पद्यं पश्चात्क्षिप्तमुपलभ्यते तस्यार्थः
प्राकृतेऽवलोक्यः । एवं कर्माण्युपार्जनादिपराणि संन्यस्य
स्वस्य कार्यं स्वाध्यायाभ्यसनमेव परमं प्रकृष्टमस्य तादृशोऽ-
स्पृह ईप्सारहितः संन्यासेन सर्वमेनोऽपहत्य परमां गतिं
प्राप्नोति । ब्राह्मणस्यैष ब्रह्मचर्याद्याश्रमचतुष्टयकृत्यरूपः
पुण्यः पवित्रः प्रेत्याऽक्षयफलश्चतुर्विधो धर्मो वो युष्मभ्य-
मभिहितोऽग्रे राज्ञां क्षत्रियाणां धर्ममुच्यमानं यूयं निबो-
धत जानीत ॥

भा०—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मइति कथनाद्ध-
र्माचरणमेव मोक्षस्यापि कारणम् । ज्ञानान्मोक्षइति कथ-
मप्यविरुद्धमेव विद्यारूपेण ज्ञानस्यापि धर्मत्वात् । धर्मश्च
परोपकारलक्षणस्तस्य चान्याश्रमापेक्षया गृहाश्रमे प्राधा-

न्यमिति कृत्वा गृहस्थस्य श्रैष्ठ्यम् । विद्यमानेष्वपि भोगेषु यः सर्वं परित्यजेदिन्द्रियाणि वशीकुर्वीत स वने निस्सृताप्राप्तभोगपुरुषापेक्षया श्रेष्ठइति कृत्वाऽपि वेदसंन्यासिनोऽत्र प्राधान्यम् । तथा चोक्तं महाभारतशान्तिपर्वणि मोक्षधर्म पर्वणि "तपोवनेषु ये जातास्तत्रैव निधनं गताः । तेषामल्पतरो धर्मः कामभोगानजानताम् ॥ यस्तु भोगान् परित्यज्य शरीरेण तपश्चरेत् । न तेन किञ्चिन्नप्राप्तं तन्मे बहुमतं फलम् ॥ अ० ३२१" सर्वाश्रमेषु धर्मएव परमपदाप्तेः प्रधानं कारणमतएवान्याश्रमेष्ववस्थितस्यापि प्राधान्येन धर्मरतस्य परमपदाप्तिः सुलभैव मन्तव्या । धृत्यादिधर्मलक्षणानां बहुविधं तारतम्यं काष्ठां गतं च धृत्यादीनां सेवनं निःश्रेयसहेतुकं जायते । मध्यमास्तु संसारे धर्मपदवाच्यास्ततोऽवकृष्टास्तु न धृत्यादिपक्षेऽपि परिगण्यन्ते । सर्वथा तु कर्मान्तराणां शैथिल्येन त्यागेन वा यत्रकुत्राप्याश्रमे तिष्ठन् केवलं स्वाध्याययज्ञरूपं वेदाभ्यासं सर्वात्मना कुर्वन् संसारे परत्र च सर्वत्रैव निःश्रेयससुखमाप्नोत्यतएवाधियज्ञं ब्रह्म जपेदित्यादिना निस्सृतसंन्यासिनेऽपि तदुक्तं तदेव सर्वैः सर्वात्मना सेव्यमिति ॥९७॥

भाषार्थः—(ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा) ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी (एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारःपृथगाश्रमाः) ये सब गृहस्थ से उत्पन्न होने वाले पृथक् २ चार आश्रम हैं (यथाशास्त्रं क्रमशो निषेविताः सर्वेऽप्येते) शास्त्रों में कहे अनुसार क्रम से सेवन किये [प्रथम संन्यासी होके फिर गृहस्थ हो इत्यादि क्रम से विरुद्ध अक्रम है] उक्त ये चारो आश्रम (यथोक्तकारिणं विप्रं परमां गतिं नयन्ति) उस २ आश्रम द्वितीयाध्यायादि में कहे अनुसार सीमापर्यन्त ठीक२ सेवन किया ब्रह्मचर्यादि आश्रम धर्म परम गतिमुक्ति दशा को प्राप्त कराता है (सर्वेषामपि चैतेषाम्) इन सब आश्रमों में

२ गृहस्थ (श्रीनेतान् बिभर्त्ति हि) जिस कारण इन ब्रह्मचारी आदि तीनों आश्रमियों का भिक्षादि द्वारा भरण पोषण करता है (वेदस्मृतिविधानतः) वेद और स्मृति-धर्मशास्त्रों में जिस के कर्त्तव्य यज्ञादि का विशेष वर्णन है [अर्थात् वेदादि शास्त्रों के अधिक भाग में गृहस्थ का कर्त्तव्य धर्म वर्णित है अन्य तीन का कृत्य दशांश से भी कम है। इसी लिये निरुक्त में लिखा है कि " अल्पश आध्यात्मिकाः„ अध्यात्मविषयक जिन का विषय वानप्रस्थ संन्यास से संबन्ध रखता ऐसे मन्त्र वेद में अत्यल्प हैं। और इसी से ब्राह्मण आरण्यक वा शाखाओं में से थोड़े २ अंश उपनिषद् बने हैं] इस से (स गृहस्थः श्रेष्ठ उच्यते) वह गृहस्थ श्रेष्ठ कहाता है (यथा सर्वे नदीनदाः सागरे संस्थितिं यान्ति) जैसे सब छोटे बड़े नदी नद समुद्र में जाकर ठहरते हैं समुद्र नहीं मिलता तब तक चलते ही जाते हैं (तथैव सर्वे आश्रमिणो गृहस्थे संस्थितिं यान्ति) वैसे ही ब्रह्मचारी आदि सब आश्रमी भिक्षादि का निर्वाह गृहस्थ के आधीन होने से भ्रमते २ गृहस्थ के ही समीप जाकर ठहरते हैं अथवा सब की मुक्ति न हो सकने से मरण को प्राप्त हो कर भ्रमते २ गृहस्थ के यहां ही फिर २ जन्म लेते हैं सब दशाओं में आधार होने से गृहस्थ श्रेष्ठ है (चतुर्भिरपि चैवैतैराश्रमिभिर्द्विजैः) इन उक्त चारो आश्रम वाले ब्राह्मणादि द्विजों को (दशलक्षणको धर्मः प्रयत्नतो नित्यं सेवितव्यः) दश चिह्नों वाले वा दश भागों में बंटे धर्म का प्रयत्न से नाम बड़ी लाग से नित्य २ सेवन करना चाहिये (धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम्) १-धीरज, २-क्षमा-सहनशीलता, ३-मन को वश में करना, ४-चोरी का त्याग (शौचमिन्द्रियनिग्रहः) ५-शुद्धि-पवित्रता रखना, ६-इन्द्रियों को विषयों की ओर भागने से रोकना (धीर्विद्या सत्यमक्रोधः) ७-हानि लाभ वा परिणाम को शोच विचार के बुद्धिपूर्वक काम करना, ८-वेदादि शास्त्र को पढ़ना और जानना, ९-सत्य बोलना, १०-क्रोध न करना (ये विप्रा धर्मस्य दश लक्षणानि समधीयते) जो ब्राह्मणादि बुद्धिमान् लोग धर्म के उक्त दश लक्षणों को सम्यक् शोचते विचारते कहते जानते हैं (अधीत्य चानुवर्त्तन्ते ते परमां गतिं यान्ति) और जो पढ़ जान शोच विचार के उन धर्म लक्षणों के अनुकूल वर्त्ताव करते हैं वे परमगति-मोक्ष को प्राप्त होजाते हैं (समाहितो दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्) सावधान चञ्चलता रहित रहता हुआ ब्रह्मचारी आदि दशलक्षण वाले धर्म का सेवन करता हुआ (विधिवद्वेदान्तं श्रुत्वा) शास्त्र की आज्ञानुसार वेद के अन्त्य सिद्धान्त को श्रेष्ठ गुरु के मुख से सुन जान के (अनृणो द्विजः संन्यसेत्) ऋ-

इत्यादि तीनों ऋण चुकाने पश्चात् संन्यासी होवे अर्थात् वेदाभ्यास और सन्ध्योपासन जप तप से भिन्न धनोपार्जनादि के सब कर्मों को त्याग देवे केवल वेदाभ्यास में ही मन को रमावे (कर्मदोषानपानुदन्सर्वकर्माणि संन्यस्य) राग द्वेषादि कर्मों के दोषों को अपने से नष्ट करता हुआ सब कृषि व्यापारादि कर्मों को त्याग के अर्थात् वैसे कर्मों का त्याग किये विना कर्म दोष भी नहीं छूटते इस से कर्म दोषों को छोड़ता हुआ प्रथम कर्मों को ही छोड़े (नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत्) जितेन्द्रिय होके वेद को पढ़ता केवल वेदाभ्यास ही एक कर्म करता हुआ पुत्र के ऐश्वर्य में नाम घर के समीप कहीं अपने अनुकूल थोड़ा निर्विघ्न स्थान नियत कर वा नवीन कुटी बनवा के उस में बैठे भिक्षादिनिर्वाह पुत्र से चलावे बने विगड़े में कुछ हर्ष शोक वा ममता न रक्खे इसी का नाम वेदसंन्यास है । इसी के आगे एक श्लोक पीछे से किसी ने मिलाया है उस का अर्थः–संन्यासी सब कर्मों को छोड़ दे पर एक वेदाध्ययन वा वेदाभ्यास वेद मन्त्रों के जप पाठ को न छोड़े क्योंकि वेद के त्यागने से शूद्र हो जाता है तिस से संन्यास लेकर भी वेद को न छोड़े (स्वकार्यपरमोऽस्पृहः) अपने वेदाभ्यास जप पाठरूप कर्म में तत्पर किसी भोग की इच्छा न रखता हुआ (एवं कर्माणि संन्यस्य) इस उक्त प्रकार धनोपार्जनादि सम्बन्धी कर्मों को त्याग के (संन्यासेनैनोऽपहत्य) संन्यास द्वारा पूर्वसंचित कुवासनाओं का भी नाश करके (परमां गतिं प्राप्नोति) परमगति को प्राप्त हो जाता है (ब्राह्मणस्यैष पुण्यः प्रेत्याऽक्षयफलश्चतुर्विधो धर्मोऽवोभिहितः) जन्मान्तर में अक्षय फल देने वाला ब्रह्मचर्यादि चार आश्रमों का चार प्रकार का कर्त्तव्य पवित्र धर्म मैं [भृगु] ने तुम श्रोता ऋषि लोगों से कहा (राज्ञां धर्मं निबोधत) अब आगे तीन अध्यायों में क्षत्रिय राजाओं का धर्म कहेंगे उस को तुम लोग सुनो जानो ॥

भा०–जिस से अभ्युदय और निःश्रेयस नाम संसार परमार्थ के सुख की सिद्धि हो वह धर्म है । इस कथन के अनुसार धर्म का आचरण ही मुक्ति का भी कारण है । ज्ञान से मुक्ति होती है यह किसी प्रकार भी विरुद्ध नहीं पड़ता क्योंकि धर्म के दश लक्षणों में जो विद्या है वही अङ्गी वा प्रधान धर्म वही ज्ञान वा तत्वज्ञान वही वेदाध्ययन है अन्य धृत्यादि सब उसी विद्या के अङ्ग वा साधन हैं । धर्म का सामान्य कर बड़ा लक्षण परोपकार है। सो हिंसा में परापकार, अहिंसा में परोपकार, चोरी में परापकार चोरीत्याग में परोपकार इत्यादि प्रकार धर्म के सब लक्षणों में परोपकार व्याप्त रहता है वह परोपकार

धर्म अन्य आश्रमों की अपेक्षा गृहस्थाश्रम में प्रधानता से बन सकता है इसी से गृहस्थ श्रेष्ठ है भोगों के विद्यमान रहते हुए भी जो सब का परित्याग कर इन्द्रियों को वशीभूत करे वह, जिस को बन में निकल जाने के कारण भोग प्राप्त नहीं होते उस त्यागी पुरुष की अपेक्षा श्रेष्ठ है इस के अनुसार वेदसंन्यासी की यहां प्रधानता है। सो महाभारत मोक्षधर्म पर्व ३२१ अ० में लिखा है कि "तपोवनों में जो उत्पन्न हुए और मरण पर्यन्त वहीं रहे उन कामभोगों का मर्म न जानने वालों की जितेन्द्रियता का धर्म थोड़ा है और जो लोग विद्यमान भोगों को त्याग के तप करते हैं उन का धर्म और फल बड़ा है„ सब आश्रमों में परम पद प्राप्ति का कारण धर्म ही प्रधान है इसी से अन्याश्रम में रहते हुए प्रधानता से धर्म में तत्पर पुरुष को भी परमपद—मोक्ष की प्राप्ति सुलभ ही जानो। धृत्यादि धर्म के लक्षण अनेक प्रकार के न्यूनाधिक होते उस में धृत्यादि का असीम दशा तक सेवन करना मोक्ष का हेतु होता है। और मध्यम धृत्यादि संसार में धर्म कहाते तथा उस से भी न्यून धृत्यादि धर्म पक्ष में भी नहीं गिने जाते। सर्वथा अन्य कर्मों की शिथिलता वा त्याग से जिस किसी आश्रम में ठहरा हुआ केवल स्वाध्याय यज्ञरूप वेदाभ्यास को पूरी लाग से करता हुआ संसार वा परमार्थ में सर्वत्र ही निरन्तर कल्याण वा सुख को प्राप्त होता है इसी लिये (*यज्ञविषय में वेद को जपे*) इत्यादि के अनुसार घर त्याग के निकले संन्यासी के लिये भी वेदाभ्यास कहा है इस से उसी का सब को सब प्रकार सेवन करना चाहिये ॥९७॥



अथोपसंहारः ॥

अस्य धर्मशास्त्रस्याध्यायषट्के पूर्वार्द्धे चातुराश्रम्यधर्मो बहुप्रकारैरुपपादितस्तस्य सर्वस्य समासेनायमाशयः प्राज्ञैरवगन्तव्यः-पञ्चमहायज्ञाएव प्रधानो धर्मस्तस्यैवान्यत्सर्वं व्याख्यानम् । प्राकृतनियमेन-सृष्टिक्रमेण निबद्धा व्याप्ताः सामान्या नित्याएव ये यज्ञास्ते महायज्ञाइति महापदेन तेषां व्याप्तार्थत्वमवगम्यते । सामान्येन च वाचा मुखेन शुभस्य तथ्यस्य व्याहरणं शुभव्याहरणोन्मुखत्वं वा ब्रह्मयज्ञः, अन्यस्य वस्तुनोऽन्यस्मिँल्लयेन शुभफलनिष्पादनं देवयज्ञः, सन्तानोत्पादनं पितृयज्ञः । इत्यादिप्रकारकान् महायज्ञान् तिर्यञ्चः स्थावराश्चापि कथमपि कुर्वन्ति । एवं सर्वत्र सतामपि गुणप्रधानभावकृतस्तेषां विशेषइति यत्र प्राधान्येन महायज्ञाअनुष्ठीयन्ते तत्रैव सत्ताव्यवहारो नान्यत्र । यथा स्वाभाविकज्ञानस्य सर्वप्राणिषु सत्त्वेऽपि न सर्वे ज्ञानिनो गद्यन्तेऽपितु प्रकृष्टज्ञानवन्तएव ज्ञानिनएवमिहापि बोध्यम् । यथा पञ्चक्लेशेष्वविद्या क्षेत्रं सर्वस्योत्पत्तिस्थानं मूलं कारणं च तथैवात्रापि ब्रह्मयज्ञः पञ्चमहायज्ञानां मूलं क्षेत्रं चास्मादेवान्ये महायज्ञाः प्रसूयन्ते । स्वाध्यायः,जपयज्ञः' ऋषियज्ञः' वेदाध्ययनम्' वेदाभ्यासः, अध्यापनम्' इत्यादीनि चास्यैवाद्यमहायज्ञस्य नामान्तराणि विज्ञेयानि । धृत्यादीनि च धर्मलक्षणान्यस्याङ्गभूतानि सहकारीणि साधनानि सन्ति । धृत्यादिकं रक्षयन्नेव वेदमभ्यस्येत् । वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमइति ब्रह्मचर्याश्रमप्रकरणे, सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनइति-यथातथाध्या-

यंस्तु साह्यस्य कृतकृत्यतेति च गृहिप्रकरणे, स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यादिति वानप्रस्थप्रकरणे । अधियज्ञं ब्रह्मजपेदित्यादिसंन्यासे, इदंशरणमज्ञानामित्यादिसर्वार्थउपसंहारः. एवं सर्वत्रर्षियज्ञः संस्तूयते। अभ्युदयं निःश्रेयसं च सर्वं ब्रह्मयज्ञपराएव लभन्ते । चत्वारोऽपि वर्णाः स्वस्वाभीष्टं सुखमभीप्सवः स्वाध्याययज्ञं यथाकथमपि सेवन्तां सेवनार्थं यतन्तां वा। ब्रह्मयज्ञश्च ब्राह्मणस्यैव प्रधानं कृत्यम् । यद्वा यः कोऽप्यन्यत्सर्वं गौणं कृत्वा स्वाध्यायं जपयज्ञमेव प्रधानीकृत्य सेवेत स क्षत्रियादिरपि कालेन ब्राह्मणत्वं लभते यथाविश्वामित्रादिभिः कृतम् । अतः सुखमिच्छता शास्त्राशयेन धर्मस्य मूलं द्रढिम्नाऽङ्गीकार्यं सेव्यं चेत्यलम् ॥

भावार्थः—इस धर्मशास्त्र के पूर्वार्द्धरूप छः अध्यायों में ब्रह्मचारी आदि चारो आश्रमों का धर्म बहुत प्रकारों से वर्णन वा सिद्ध किया है उस सब का संक्षेप से विद्वानों को यह आशय जानना चाहिये कि—पांच महायज्ञ ही सर्वत्र मुख्य धर्म है और अन्य सब उन्हीं का व्याख्यान है। प्राकृत नियम जो सृष्टिक्रम है उस से संयुक्त व्याप्त सामान्य वा नित्य कर्मरूप जो यज्ञ हैं वे ही महायज्ञ कहाते हैं इस प्रकार यहां महाशब्द से उन यज्ञों का व्याप्तार्थ होना दिखाया है। और सामान्य कर वाणी वा मुख से अपने कल्याणार्थ शुभ और सत्य कहना वा कहने की ओर तत्पर होना यह ब्रह्मयज्ञ, अन्य वस्तु का अन्य में लय करने द्वारा शुभ फल प्रकट करना देवयज्ञ, सन्तानोत्पत्ति करना पितृयज्ञ इत्यादि प्रकार के महायज्ञों को कुछ न कुछ पश्वादि तथा स्थावरादि भी करते ही हैं [देवयज्ञों के अनेक अवान्तर भेदों में अग्निहोत्र नामक महायज्ञ को व्याप्त होने से ही याज्ञिक लोगों ने सब अन्य यज्ञों का प्रकृति माना है] इस प्रकार सब चराचर में महायज्ञों के विद्यमान होने पर भी उन के गौण और प्रधान भाव में विशेषता मानी जायगी। जहां प्रधानता से महायज्ञों का अनुष्ठान होता है वहीं उन २ की विद्यमानता का व्यवहार होता अन्यत्र नहीं। जैसे स्वाभाविक ज्ञान के सब प्राणियों में विद्यमान होने पर भी सब ज्ञानी नहीं कहे जाते किन्तु प्रकृष्ट

ज्ञान वाले ही ज्ञानी कहाते हैं वैसे यहां भी जानो । जैसे पांच क्लेशों में अविद्या सब का खेत सब की उत्पत्ति का स्थान मूल कारण बीजरूप है वैसे यहां भी ब्रह्मयज्ञ, सब अन्य महायज्ञों का मूलरूप है इसी ब्रह्मयज्ञ से अन्य महायज्ञ उत्पन्न होते हैं स्वाध्याय, जपयज्ञ, ऋषियज्ञ, वेदाध्ययन, वेदाभ्यास और अध्यापनयज्ञ आदि इसी पहिले महायज्ञ के नामान्तर जानने चाहिये। और धृति आदि धर्म के नव लक्षण इसी विद्यारूप अङ्गी के अङ्गभूत सहकारी साधन हैं इस से धृति आदि को समीप रखता हुआ ही जो वेदाभ्यास वा जपयज्ञ करता है उसी को ठीक सफलता प्राप्त होती है [इसी से कहा है कि विप्रदुष्ट भाव वाले का वेदाभ्यासादि निरर्थक है अ० २ । ९७] "तपोरूप ब्रह्मचर्याश्रम करता हुआ ब्राह्मण वेद का ही सदा अभ्यास करे" यह ब्रह्मचर्य प्रकरण में "स्वाध्याय के विरोधी सब लाभों वा कामों को त्याग दे । तथा–जिस किसी प्रकार वेद का पठन पाठन करने में ही इस गृहस्थ की कृतकृत्यता है" यह गृहाश्रम प्रकरण में "स्वाध्यायरूप वेदाभ्यास में नित्य तत्पर रहे इन्द्रियों को वश में करे" यह वानप्रस्थ प्रकरण में और "यज्ञवर्णन विषयक वेद मन्त्रों का जप करे" यह संन्यास प्रकरण में कहा और (इदं शरणमज्ञानां०) इस से चारो आश्रम के लिये वेदाध्ययन ही सर्वोपरि शरण दिखाया है कि अज्ञ ब्रह्मचारी, विशेष ज्ञानी नाम स्त्री पुत्रादि को भेददृष्टि से देखने जानने वाला गृहस्थ, सुखान्वेषी वानप्रस्थ और अनन्त मुक्त दशा चाहने वाला संन्यासी है । ब्रह्मयज्ञ में तत्पर रहने वाले सांसारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार के सुख को प्राप्त होते हैं । चारो वर्ण अपना २ अभीष्ट सुख चाहते हुए जिस किसी प्रकार स्वाध्याय यज्ञ का सेवन करें वा उस के सेवनार्थ उद्योग करें । ब्रह्मयज्ञ ब्राह्मण का ही प्रधान कर्म है अथवा जो कोई क्षत्रियादि कहाने वाला भी अन्य सब कर्मों को गौण करके स्वाध्याय जपयज्ञ को ही सर्वोपरि प्रधान मान के सेवन करे वह भी काल पा कर ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो सकता है जैसे कि विश्वामित्रादि हुए । इस से सुख चाहने वाले को चाहिये कि शास्त्र के आशयानुसार धर्म के मूल ब्रह्मयज्ञ का दृढ़ता से स्वीकार और सेवन करे ॥

इति भीमसेनशर्मनिर्मिते मानवधर्ममीमांसाभाष्ये वानप्रस्थसंन्यासविषये षष्ठोऽध्यायः पूर्णः॥

...ानवधर्ममीमांसाभाष्य २ खण्डकाशुद्धिपत्र

...म्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
	१३	प्रत्येकश्च०	प्रत्येकच०
...६	१६	ऽयचित०	ऽयाचित०
	१२	०त्यनुमेयां।	त्यनुमेयम् ।
...०	१३	सम्भन्त्येव	सम्भवन्त्येव
...८	१५	भिक्षका०	भिक्षुका०
...१३	१२	स्वस्येवा०	स्वेषामिवा०
...१७	१९	ध्यापदी	ध्यापनादी
...१९	२	पर्वयो०	पर्वणो०
...३	१	धाना०	धना०
...३	२	धर्मवा	धर्मएवत्वा
...३	५	०स्तना०	०स्तेना०
	११	०वृत्यु०	वृत्त्यु०
	१३	०वृत्या	०वृत्त्या
	२	उज्जलं	उज्ज्वलं
...३	६	०सुखयोर्हेतूनि०	सुखहेतवः
...६	१५	नवस्येष्टा	नवसस्येष्टा
...०	२२	मनोलाघ०	मनोलाघव०
...१	१६	महत्परि०	महापरि०
...०	१४	हनि०	हानि०
...७	१५	प्रतपेत् ।	प्रतापयेत्
...६	१५	०हेतुत०	०हेतुस्त०
...०	१२	विघ्नानि	विघ्नाः
...२	७	यादृशं	यादृशं
...४	३	रोचयेत् ।	रोचयेत
...३	१२	वृक्षमूल्यानि	वृक्षमूलानि
...४	४	०वशुद्धौ०	वशुद्धे
...५	२१	साह्याय्येन	साहाय्येन
...३	२१	सनास०	सूनास०
पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१००	२१	जाग्रियात्	जागृयात्
१०१	१७	०रवाम्र०	०रवाम्रु०
१२३	१२	पितृणा०	पितॄणा०
१३४	१९	परमार्थपथा	परमार्थपथेन
१३५	२५	न्येमत	सन्येत
१३६	२	कायाणि	कार्याणि
१४०	२३	नैरालस्यत्वेन	नैरालस्येन
१४४	२०	०न्यभिच्छेत्तु	०न्यभिगच्छेत्तु
१४७	४	जीवतिः	जीवति
१४९	८	०नाच्छादि०	नाच्छादनादि
१५२	२०	०माम्र०	०माम्रु०
१५२	२३	०पराद्धुर्दो०	०पराद्धुर्दो०
१५६	२०	ददन्	ददत्
१६४	९	गृहिणां	गृहिणे
१६८	१७	क्षधा	क्षुधा
१६८	१९	दातृणां	दातॄणां
१७४	११	प्रतिगृहीत्रा	प्रतिग्रहीत्रा
”	२०	०छलेन	०चछलेन
१७५	२२	क्षुधादि०	क्षुदादि
१८५	१६	०लक्षकम	लक्षकम्
१८७	१२	चव	चैव
१८८	१९	०मन्नम	०मन्नम्
१९२	८	०त्यनूंनं	०त्यनूनं
१९३	९	क्षत्प्र०	क्षुत्प्र०
१९४	१८	प्रायको०	प्रायिको०
२००	२५	०मैष्टि०	०मैष्टिक०
”	२६	शक्तित॥	शक्तितः॥
२१७	१९	वार्द्धुषे:।	वार्द्धुषेः ।

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२२३	५	०मान—	०मात्मान–
२३६	२०	येयूषं	पेयूषं
२६०	१५	सुखमश्नते।	सुखमश्नुते ।
”	१९	०भणान्नि०	०भक्षणान्नि०
२६२	६	०कर्त्तृद्वत्त	०कर्त्तृवत्त०
”	२३	०स्ताडयते०	स्ताड्यते
२७९	९	हर्षेनापि	हर्षेणापि
२८३	१८	स्यालादि०	०श्यालादि०
२९३	११	गर्भद्रहा०	गर्भद्रुहा०
”	१२	भर्त्तृद्रहां	भर्त्तृद्रुहां
३००	१६	कुर्वन्	कुर्वता
३३२	१५	शकुनिः	शकुनेः
३६९–	१	षष्टमोऽध्यायः	षष्ठोऽध्यायः
३६९	८	ऋक्षेष्टिआ०	ऋक्षेष्टि,आ०
३७१	१	पञ्चमोऽध्यायः	षष्ठोऽध्यायः
३७३	१५	स्वयंशीणे०	स्वयंशीर्णै०
”	१	षष्टमो०	षष्ठो०
३७५	१	षष्टमो०	षष्ठो०
३८५	७	०मशक्यः।	०मशक्यम्।
”	८	०दृढम०	०दूढम०

मूल्य घटाये हुए पुस्तकों का सूचीपत्र–

"आर्यसिद्धान्त पूर्व का छपा आठ भाग ९६ अङ्क इकट्ठा लेने पर सब का मूल्य ४) होगा पृथक् २ प्रति भाग ॥=) ईश =)। केन ≡) कठ ॥=) प्रश्न॥) मुण्डक ॥) माण्डूक्य =)॥ तैत्तिरीय ॥=) ऐतरेय ।–) श्वेताश्वतर ॥=) इन नव ९ उपनिषदों पर संस्कृत और नागरी में अब तक अच्छा भाष्य होचुका है। ९ उपनि० भाष्य इकट्ठे लेने वालों को ३।=) मनुस्मृति का धर्मान्दोलन सहित संस्कृतनागरी में भाष्य ३ अध्याय १ प्रथम जिल्द मूल्य २॥) भगवद्गीता का ठीक शुद्ध २ संस्कृत नागरी में भाष्य १॥) पं० चिन्तामणि की बनाई आल्हा)॥ गणरत्नमहोदधि –व्याकरण गणपाठ की संस्कृत व्याख्या और मूल श्लोक तथा अकारादि शब्द सूची सहित १) अष्टाध्यायी भाषाटीका १।) आयुर्वेदशब्दार्णव कोष ॥) भर्तृहरि नीतिशतक भाषाटीका =)॥ भर्तृ० वैराग्यशतक भाषाटीका ≡) यमयमीसूक्त का अच्छा ठीक २ व्यवस्थायुक्त संस्कृत और भाषा भाष्य –)॥ ब्राह्मसमाज के मन्तव्य की परीक्षा =) जीवसान्तविवेक ‑) विदुरनीति मूल टिप्पणी सहित =) सद्विचारनिर्णय –) मांसभोजन के तीनों भागों का प्रबल युक्ति प्रमाणों के साथ नागरी में खण्डन–प्रथम भाग का –) द्वितीय =) तृतीय का =)॥ स्थावर में जीवविचार –) पुत्रकामेष्टिपद्धति –)। पुनर्जन्म का पूरा व्याख्यान =)॥ अष्टाध्यायी मूल प्रकरणों सहित ≡) देवनागरी की वर्णमाला)।१०० पुस्तक १) में धर्मलक्षण वर्णन (देखने योग्य) ≡) ऐतिहासिकनिरीक्षण मू०=) सुमतिसुधाकर मू० ≡)॥ गणितारम्भ प्रथम पढ़ाने योग्य –) नीतिसार –) द्वितीय पुस्तक =)॥ प्रश्नोत्तर शतक मू० =) दशोपनिषद् मूल ।) स्वर्ग में सब्जेक्ट कमेटी मू० –)॥ शास्त्रार्थखुर्जा –) सभाप्रसन्न ।) संस्कृतप्रथमश्रेणि –) पाखण्डमतकुठार –) सत्यसंगीत भजन)। सदुपदेश भजन आधा पैसा । आरती नित्य वा उत्सव पर गाने के लिये)। में दो । आर्यसमाज के नियम ≡) सैकड़ा । व्याख्यान का सामान्य विज्ञापन =) प्रति सैकड़ा। अबलाविनय ≡) धर्मबलिदान आल्हा–लेखराम बध =) जगद्वशीकरण –) कस्तूरी –) बालबोध –) शिक्षाध्याय)॥ न्यायदर्शनमूलसूत्र पाठ ≡) भजनामृतसरोवर =) संगीतरत्नाकर =) भामिनीभूषण ।) आर्यतत्त्वदर्पण =) कुरीतिनिवारण –)॥ कन्यासुधार –) संगीतसुधासागर –) वेश्यालीला नई)॥ सजीवनबूटीआल्हानई –)॥ सत्यार्थप्रकाश पुष्ट कागज का २॥) सामान्य कागज का २) ऋग्वे० भूमिका २॥) संस्कारविधि १।) आर्याभिविनय ।) पञ्चमहायज्ञविधि ≡)॥ इत्यादि। विशेष वृत्तान्त बड़ा सूची मंगाकर देखो। ५) रु० में ६।) के पुस्तक मिलेंगे। १०) से आगे २ अधिक २ कमीशन दिया जायगा धर्मलक्षण वर्णन ≡) धर्मबलिदान =)

पता–भीमसेन शर्मा सम्पादक आर्यसिद्धान्त–इटावा (पश्चिमोत्तरदेश)

